कश्चिद् मनीषीणा विरचित

चौबीसी-पुराण

मंगलाशीष

श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

शुभाशीष

आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज

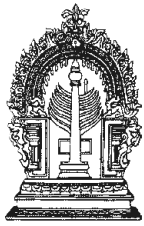

प्रकाशक

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.) दिल्ली

कृति	:	चौबीसी पुराण
मंगलाशीष	:	श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज
शुभाषीष	:	आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज
कृतिकारी	:	कश्चिद मनीषीणा विरचित
सम्पादक	:	मुनि श्री 108 शिवानन्द जी मुनिराज
संस्करण	:	प्रथम-2017 (1000 प्रतियां)
प्रतियाँ	:	1000
मुद्रक	:	अरिहंत ग्रॉफिक्स
		मो. 9958819046, 9811021402
प्राप्ति स्थान	:	अतिशय क्षेत्र जम्बूस्वामी तपोस्थली क्षेत्र, बौलखेड़ा, कामां, राज.
	:	अतिशय क्षेत्र जयशांतिसागर निकेतन, मंडौला, गाजियाबाद, उ.प्र.
	:	हिमांशु जैन, फरीदाबाद 9024182930

णाणं पयासाओ

सूर्योदय होने से केवल तमोपुंज का ही अंत नहीं होता अपितु दिव्य प्रकाश का भी उदय होता है। प्रकाश जीवंतता का प्रतीक है, दिवाकर का प्रकाश दिव्यता का द्योतक भी है, उसके माध्यम से प्राणी दिव्यता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रकाश को केवल ज्ञान का ही प्रतीक नहीं माना अपितु सुख का कारण भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय ग्रन्थों में इसलिये दीपक को स्वपर प्रकाशी निरूपित करते हुये ज्ञान की महिमा को प्रदिर्शित किया है। जिस प्रकार प्रकाश के बिना अंधकार में जीया गया जीवन अनेक दु:ख क्लेश, अशांति, वैमनस्यता, ईर्ष्या, विद्वेष, चिन्ता आदि विकारों को जन्म देने वाला होता है एवं दुष्कृत्यों का निमित्त कारण बन जाता है, उसी प्रकार चेतना में विद्यमान अंधकार मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और दु:ख रूप प्रवृत्ति कराने वाला होता है।

बहिर्जगत में विद्यमान तमसावृत्त निशा का निराकरण करने के लिये आदित्य समर्थ होता है। अनेक चंद्रादि ज्योतिर्ग्रह निशा में उदित होकर अपने अस्तित्व का बोध कराते हुये शीतल प्रकाश भी प्रदान करते हैं। चेतना के प्रदेशों पर विद्यमान मिथ्यात्वादि के अंधकार को दूर करने में सूर्यादि अनेक ग्रह भी समर्थ नहीं होते, आत्मप्रदेशों में विद्यमान अंधकार को सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के तीन रत्न ही तिरोहित करने में समर्थ होते हैं। इन तीन रत्नों की प्राप्ति सर्वज्ञ, वीतरागी, प्राणी मात्र के लिए हितोपदेशी जिनेन्द्र देव के माध्यम से ही संभव है किन्तु वर्तमान में दुखमा नाम का पंचमकाल उदयावस्था को प्राप्त है अत: भरत, ऐरावत क्षेत्र में केवली भगवान का यहाँ सद्भाव नहीं है, उनके अभाव में जिनवाणी भव्य प्राणियों के मिथ्यात्वादि अंधकार को दूर करने में समर्थ है।

आ. पद्मनन्दी स्वामी जी ने पद्मनंदीपंचविंशतिका में लिखा है-

सम्प्रत्यस्ति ने केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रो जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी से आधारस्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।

जिनवाणी का संवर्धन, संरक्षण एवं संस्थिति वर्तमान में निर्ग्रंथ साधु आदि चतुर्विध संघ से है। निर्ग्रंथ संत आदि आत्मसाधक जिनवाणी की दिव्य देशना के माध्यम से स्वपर का कल्याण करने में संलग्न हैं। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम को ही वृद्धिंगत नहीं करता अपितु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिंगत करने में भी कारण है तथा अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनीय एवं अंतराय कर्म के बंधन से बचाने वाला है, आत्मकल्याण के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विलुप्त करने वाला है। जिनवाणी के सम्यक् प्रचार-प्रसार असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म को शुभ नामकर्म में, नीचगोत्र को उच्चगोत्र में संक्रमित भी किया जा सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन से शुभास्रव, सातिशय पुण्य का बंध, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

वर्ष 2016-2017 हम परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के स्वर्ण जयन्ती वर्ष के रूप में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ आयोजित कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में आचार्य प्रणीत वर्तमान में अनुपलब्ध बहुपयोगी 50 शास्त्रों का प्रकाशन करने का संकल्प निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति आदि संस्थाओं ने लिया है। उसी क्रम में प्रस्तुत ग्रंथ 'चौबीसी-पुराण' आपके श्री करकमलों में स्वपर हित की मंगल भावना से समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से स्व-पर कल्याण की भावना को वृद्धिंगत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में भी निमित्त बनेंगे। सुधी पाठकों से सविनय अनुरोध है कि वे प्रस्तुत ग्रंथ से स्वकीय पात्रता के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाली सतत प्रवाही श्रुत गंगा से श्रुतामृत को ग्रहण कर उसका सदुपयोग ही करें। हंसवत्

क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें, दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों। प्रमादवश, अज्ञानतावश हुयी त्रुटियों को या चूक को मूल या चूक समझकर ही विसर्जित कर दें। आप जैसे सुधी पाठक इस ग्रंथ रूपी दधिका में उतरकर नवनीत को ही ग्रहण करें क्योंकि कोई भी ग्वाल या गोपी छाछ ग्रहण करने के उद्देश्य से दधि मंथन नहीं करती। अतः आप भी तदैव प्रवृत्ति करें।

मैं अंतस् की समग्र निष्ठा, भक्ति, समर्पण के साथ सर्वज्ञ देव, श्रुत सिंधु एवं निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों मे अनंतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ तथा परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के पद कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन करता हुआ उनके स्वस्थ संयमी जीवन की एवं आत्म ध्यान के संवर्द्धन की भावना करता हूँ।

जिन श्रुताम्बुज चंचरीक

- मुनि प्रज्ञानंद

सम्पादकीय

संसारी प्राणी के जीवन में निमित्त का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। निमित्त के बिना उपादान अर्थहीन है तो उपादान के बिना निमित्त का कोई महत्त्व नहीं होता। व्यक्ति के जीवन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-ये चारों ही निमित्त रूप से कार्य करते हैं। ढाई द्वीप में 15 कर्मभूमियाँ हैं जिनमें तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेते हैं। तीर्थंकरादि महापुरुषों का जीवन एक आदर्श रूप में माना जाता है। जम्बूद्वीप में शाश्वत कर्मभूमि विदेह क्षेत्र है जिसमें 32-उपविदेह होते हैं यहाँ 32 आर्यखण्डों में महापुरुष जन्म लेते हैं। इसके अलावा एक आर्यखण्ड भरतक्षेत्र का और ऐरावत क्षेत्र का आर्यखण्ड भी कर्मभूमि हैं। भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र ये लगभग 10 प्रतिशत कर्मभूमि हैं और 90 प्रतिशत भोगभूमि है। 10 प्रतिशत कर्मभूमि के काल में तीर्थंकरादि महापुरुषों का जन्म होता है और उसका नियत है-1 कोड़ाकोड़िसागर, जिसमें 24 तीर्थंकर जन्म लेते हैं।

जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में ऋषभ देवाधिदेव 24 तीर्थंकर वर्तमान काल में हुए अर्थात् इस हुण्डावसर्पिणी काल में हुए। उसके पूर्व जो दु:खमा-सुखमा था उसमें भी 24 तीर्थंकर हुए व उससे पूर्व के दु:खमा-सुखमा कालों में 24 तीर्थंकर हुए तथा आने वाले चौथे काल में होंगे। ऐसे अनन्त चौबीस तीर्थंकर भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में तीर्थंकरों की परम्परा निराबाध रूप से चल रही है।

वर्तमान काल के तीर्थंकर हमारे शासक रहे। किसी भी संस्था के जो भी अध्यक्षादि रहते हैं उनका नाम उल्लेख करना, उनका व्यक्तित्व जानना, आगामी काल में होने वाले उनके शास्तितों के लिए बोधनार्थ प्रेरक निमित्त बन जाता है। हमारे जिन शासन के शासक भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यंत 24 तीर्थंकर हुए। यद्यपि सामान्य व्यक्ति का भी अपना-अपना जीवन चरित्र होता है किन्तु किसी के चरित्र सुनकर के पाप में डूब जाता है तो किसी के जीवन चरित्र को सुनकर के संसार से ऊब जाता है। कोई जीवन चरित्र उसके लिए न केवल आत्मा को पंकिल करने वाला होता है, कर्म कालिमा से लिप्त करने वाला होता है अपितु जो उसके

चरित्र को देखता है, सुनता है, या चिंतन करता है, उसके सम्पूर्ण में जाता है वह व्यक्ति भी पाप से पंकिल हो जाता है या कर्म कालिमा से लिप्त हो जाता है।

तीर्थंकरादि महापुरुष ऐसे योग्य पुरुष होते हैं, जो धर्म का प्रवर्तन करते हैं। धर्म प्रवर्तन जिस समय किया जाता है उस समय धर्म की प्रभावना तो बहुत होती ही है किन्तु उसके बाद भी वह धर्म का प्रवर्तन उनके शिष्य-प्रशिष्य वर्ग के माध्यम सभी चलता रहता है। आज वर्तमान काल में कोई धर्म प्रवर्तक तीर्थंकर नहीं है। और नाहि सामान्य केवली है। नाहि श्रुतकेवली या अंग पूर्वधारक भी नहीं है। वर्तमान काल में आचार्य परमेष्ठी तीर्थंकर की तरह से धर्म का प्रवर्तन कर रहे हैं। आचार्य परमेष्ठियों के द्वारा लिपिबद्ध तीर्थंकरों का जीवन चरित्र आज हमारे पापों का प्रक्षालन करने में समर्थ है। इतना ही नहीं उसके माध्यम से संसार, शरीर, भोगों की विरक्ति भी होती है और वह पुण्य की प्रेरणा देने वाला होता है।

यह चौबीसी पुराण कश्चिद मनीषिणा द्वारा विरचित है। चौबीस पुराण में पुराण शब्द इसलिए है - 'पुरा' पूर्व काल में होने वाले इतिरत 'इतिहास' जिसके माध्यम से व्यक्ति यह जान सकें, समझ सकें कि एक आदर्श जीवन क्या होता है और जो आत्मा स्वयं मोक्ष को प्राप्त करती हुई दूसरों के लिए मोक्ष का निमित्त बनीं, नियामक रूप से निमित्त बनीं उस दिव्य आत्मा का बाह्य और अंतरंग व्यक्तित्व क्या रहा यह शास्त्रों में निबद्ध है। आज आपके सामने प्रस्तुत है ये चौबीस पुराण। इसका अध्ययन करके आप सभी लोग भी अपनी बुरी आदतों से, बुराईयों से बचें। अच्छे नियमों को, संकल्पों को, व्रतों को ग्रहण करें, यही आत्म कल्याण का महत्त्व है। चौबीस तीर्थंकर के बारे में आप सब जानते हैं :- ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत 24 तीर्थंकर है। उनका प्रत्येक पूर्व भव के साथ यहाँ वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ के द्वारा मुझ अल्पज्ञ द्वारा जो भी प्रमादवश, अज्ञानतावश एवं कषायवश त्रुटि रह गई हो तो सुधी श्रावक, विज्ञजन उसे प्रमार्जित करके ही अध्ययन करें एवं हंसवत गुणग्राही, क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर के गुणों को ग्रहण करें और हम तक प्रेषित करें। इस ग्रन्थ में जो भी उपादेय भूत है वह पूर्ववर्ती आचार्यों की ही सद्कृपा है यदि इसमें त्रुटि है तो वह मुझ छभस्थ

का प्रमाद ही कहा जा सकता है। पाठकगण इस ग्रंथ का आधोपोत अध्ययन करें। यही इस ग्रंथ के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य है। सभी इससे लाभान्वित हो।

ॐ शांति

गुरु आज्ञानुवर्ती शिष्य
बालमुनि शिवानंद
सोमवार, 02 अक्टूबर 2017
यमुना विहार, दिल्ली

वि.सं. 2074
वी.नि.सं. 2543
आश्विन सुदी द्वादशी

प्रस्तावना

जिन शासन की अक्षुण्ण परम्परा में ज्ञान प्रवाही गंगा निरंतर अज्ञानता की बंजर भूमि को सींचती आई है। जिस पर अनेकों आचार्य, उपाध्याय, मनीषी, विद्वान, रूपी पुष्प व फूल पल्लवित होते आए हैं। इसी परम्परा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी मुनिराज ने अपने विशाल ज्ञान चिंतन और अनुभव के द्वारा चौरासी पाहुड़ों का लेखन किया। यही गुण उनके पट्टाचार्य शिष्य आ.श्री उमास्वामी जी में भी देखने को मिला जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसी अनुपम रचना पंचम काल के श्रावकों के लिए करुणार्थ प्रस्तुत की।

आप ही के सुयोग्य शिष्य प.पू. आचार्य प्रवर श्री समन्तभद्र स्वामी हुए जिनका जीवन चरित्र बेहद विश्मयकारी तथा अतिशयों से युक्त है। जिनकी भक्ति से साक्षात् अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान का जिनबिम्ब पिण्डी में से प्रकट हुआ था। ऐसे संत के द्वारा अनेकों ग्रंथों का लेखन हुआ जिनमें स्वयम्भू स्त्रोत, आप्त मीमांसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, जैसे अमूल्य रत्नावली का निर्माण करके जिनशासन के अनुयियायों पर महती कृपा की। इसी शृंखला में वर्तमानकालीन चतुर्विंशति तीर्थंकर के जीवन चरित्र को प्रस्तुत करने वाला सार व विस्तार विवेचन से युक्त गुण महिमा गाने वाला श्री चौबीसी पुराण को स्वहस्तों से रचकर एक अनुपम कृति स्वपर कल्याणार्थ समाज को धरोहर के रूप में दी। चूँकि आचार्य समन्तभद्र स्वामी का 120 से 185 ईस्वी सन् का काल माना जाता है जो इसकी शताब्दी का काल है। अत: चौबीसी पुराण का काल भी इसकी शताब्दी का मानना चाहिए।

ऐसे प्राचीन ग्रंथ के जीर्णोद्धार का संरक्षण व प्रचार की भावना से इस ग्रंथ का पुन: प्रकाशन प.पू. आचार्य गुरुदेव श्री वसुनंदी जी मुनिराज के आशीर्वाद से मुनि श्री शिवानंद जी मुनिराज ने सम्पादन किया है।

प्रथमानुयोग के अंतर्गत कथाएँ, चरित्र व पुराण समाहित हैं जो सम्यग्ज्ञान हैं। इसमें चारों पुरुषार्थ, त्रेसठ शलाका पुरुषों, का चरित्र वर्णन उपलब्ध होता है। दृष्टिपान के तीसरे भेद अनुयोग में 5000 पद हैं। मिथ्यादृष्टि, अवृति, अल्पज्ञानी व प्रारम्भिक स्वाध्यायर्थियों के लिए यह अनुयोग बहुउपयोगी है ही साथ ही वैराग्य को पुष्ट करने हेतु महाव्रती व अणुव्रतियों के लिए बहुउपयोगी अनुयोग है।

इसी को दृष्टि में रखते हुए तृतीय काल से लेकर चौथे काल के अंत तक हुए वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों का जीवन परिचय संक्षिप्त रूप से यहाँ कहा जा रहा है। भव्य प्राणियों के हित को ध्यान में रखते हुए चौबीसी पुराण का अपने आपमें बड़ा महत्वपूर्ण ग्रंथ है। प्रथमानुयोग में अपनी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है।

इस चौबीसी पुराण में चौबीस तीर्थंकर का वर्णन उनके काल में उत्पन्न चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि का अति संक्षिप्त में वर्णन किया गया है। इस पुराण में आदिनाथ भगवान के चरित्र का वर्णन बड़े रोचक तरीके से किया गया है जिसके माध्यम से भव्य प्राणी अपना कल्याण कर सकते हैं। अन्य तीर्थंकरों का चरित्र संक्षिप्त में अति मनोहर शब्दों की माला पहनाकर इस पुराण में प्रस्तुत की गई, जो इस पुराण को रोचक बनाता है।

यह ग्रंथ प.पू. आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के स्वर्ण जन्म जयंती वर्ष णाणं पयासओ 2016-17 के अंतर्गत प्रकाशित किया जा रहा है। उक्त ग्रंथ में प.पू. मुनि श्री शिवानंद जी मुनिराज ने अपना अमूल्य समय देकर सुधी श्रावकों के लिए स्वाध्याय हेतु सम्पादित किया है। सभी श्रावक उक्त ग्रंथ का स्वाध्याय कर पुण्यार्जन करें।

सर्वेषां मंगलं भवतु।।

वि.स. 2074
वी.नि.सं. 2543
दिनांक–3/10/2017
स्थान–विश्वास नगर, दिल्ली

गुरु चरण सेवक
बाल मुनि प्रशमानंद

श्री चौबीसी पुराण

1. भगवान श्री आदिनाथ जी

स विश्वचक्षुर्वृषभो उचितः सतां समग्र विद्यात्मवपुनिरंजनः।
पुनातु चेतो ममनाभिनन्दनो जिनो जित क्षुल्लक वादिशासनः॥

—आचार्य समन्तभद्र

''सबको देखने वाले, सज्जनों से पूजित समस्त विद्यामय, पाप-रहित तथा क्षुद्रवादियों के शासनों को जीतनेवाले वे नाभिनन्दन भगवान श्रीऋषभनाथ हमारे हृदय को पवित्र करें।''

इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरा हुआ एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सब द्वीपों में पहला द्वीप है और अपनी शोभा से सब में शिरमौर है। इसे चारों ओर से लवण समुद्र घेरे हुये है। लवण समुद्र के बीच समुद्र में यह द्वीप ठीक कमल के समान मालूम होता है, क्योंकि कमल के नीचे जैसे सफेद मृणाल होती है वैसे ही इसके नीचे श्वेतवर्ण शेषनाग है। कमल के ऊपर जैसे पीली कर्णिका होती है वैसे ही इस पर सुवर्णमय पीला मेरुपर्वत है और कमल की कर्णिका पर जिस प्रकार काले भौंरे मंडराते रहते हैं उसी प्रकार मेरुपर्वत कर्णिका पर भी काले-काले मेघ मंडराते रहते हैं। हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी-ये छः कुलाचल जम्बूद्वीप की शोभा बढ़ा रहे हैं। ये छहों कुलाचल पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। अनेक तरह के रत्नों से जड़े हुये हैं और अपनी उत्तुंग शिखरों से गगन को चूमते हैं। इन छह अंचलों के कारण जम्बूद्वीप के सात विभाग अर्थात् क्षेत्र हो गये हैं। उनके नाम ये हैं- भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इन्हीं क्षेत्रों में सतत लहराती हुई गंगा, सिंधु आदि चौदह महा नदियां बहा करती हैं। विदेह क्षेत्र के ठीक बीच से एक लाख योजन ऊंचा सुवर्णमय मेरुपर्वत है। वह पर्वत

अपनी उन्नत चूलिका से स्वर्ग के विमानों को छूना चाहता है। नन्दन, सौमनस, भद्रशाल और पाण्डुक वन से उसकी अपूर्व शोभा बढ़ रही है। जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक के सुरभित सलिल से उस पर्वत का प्रत्येक रजकण पवित्र है। सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देव उसकी प्रदक्षिणा देते रहते हैं।

उसी विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर एक बांधिल देश है। वह देश खूब हरा-भरा है। वहां पर रहनेवाले लोग किसी भी बात से दु:खी नहीं हैं। वहां पर धान्य के खेतों की रक्षा करनेवाली बालिकाओं के सुंदर संगीत सुनकर हरिण चित्रलिखित-से निश्चल हो जाते हैं। वहां के मनोहर बगीचों में रसाल आदि वृक्षों की डालियों पर बैठे हुये कोयल, कीर, क्रौंच आदि पक्षी तरह-तरह के शब्द करते हैं। उस बांधिल देश में एक विजयार्ध पर्वत है जो अपनी धवल कान्ति से ऐसा प्रतीत होता है, मानो चांदी से ही बना हुआ हो। उस पर्वत पर अनेक उद्यान शोभायमान हैं। उद्यानों के लतागृहों में देव, देवांगनायें, विद्याधर और विद्याधरांगनायें अनेक तरह की क्रीड़ायें किया करती हैं। उनकी शिखरें चन्द्रकांत मणियों से खचित हैं इसलिये रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों का सम्पर्क होने पर उनसे सुंदर निर्झर झरने लगते हैं। उस पर्वत की तराई में आम के ऊंचे-ऊंचे पेड़ लगे हैं। हवा के हलके झोंके लगने से उनसे पके हुये फल टूट-टूट कर नीचे गिर जाते हैं और उनका मधुर रस सब ओर फैल जाता है। उस पर्वत की उत्तर श्रेणी में ''अलका'' नाम की सुंदर नगरी है। वह अलका नगरी अगाध जल से भरी हुई परिखा से शोभायमान है। अनेक तरह के रत्नों से जड़ा हुआ वहां का प्राकारकोट इतना ऊंचा है कि रात के समय उसकी उन्नत शिखरों पर लगे हुये तारागण मणिमय दीपकों की तरह मालूम होते हैं। वहां के ऊंचे-ऊंचे मकान चूने से पुते हुये हैं इसलिये वे शरद ऋतु के बादलों के समान मालूम होते हैं। उन मकानों की शिखरों में अनेक तरह के रत्न लगे हुये हैं जो बरसात के बिना एवं मेघ रहित आकाश में ही इन्द्रधनुष की छटा छिटकाते रहते हैं। वहां गगनचुम्बी जिन मन्दिरों में नाना प्रकार के उत्सव होते रहते हैं। कहीं तालाबों में फूले हुये कमलों पर भ्रमर गुंजार करते हैं; कहीं बगीचों में बेला, गुलाब, चम्पा, जूही आदि की अनुपम सुगन्धि फैल रही है, कहीं शरद के मेघ के समान सफेद महलों की छतों पर विद्याधरांगनायें बिजली जैसी

मालूम होती है; कहीं पाठशालाओं में विद्यार्थियों की अध्ययन-ध्वनि गूंज रही है और कहीं विद्वानों में सुंदर तत्व-चर्चायें होती हैं। कहीं भी कोई अन्न जल के लिये दु:खी नहीं है- सभी मनुष्य सम्पत्ति से युक्त हैं, निरोग हैं और संतानो से विभूषित हैं। अलका, अलका ही है। उसका पूर्णरूपेण वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है।

यह जिस समय की कथा लिखी जाती है उस समय अलका का शासनसूत्र महाराज अतिबल के हाथ में था। उस वक्त अतिबल जैसे वीर, पराक्रमी, यशस्वी, दयालु और नीति-निपुण राजा पृथ्वीतल पर अधिक नहीं थे। उनकी नीति-निपुणता और प्रजा-वत्सलता सब ओर प्रसिद्ध थी। वे कभी सूर्य के समान अत्यंत तेजस्वी होकर शत्रुओं को सन्ताप पहुँचाते थे और कभी चंद्रमा की भांति शांत वृत्ति से प्रजा का पालन करते थे। उनकी निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। अतिबल के व्यक्तित्व के सामने सभी विद्याधर नरेश अपना शीश झुका देते थे। वे समुद्र से अधिक गम्भीर थे, मेरु से अधिक स्थिर थे, वृहस्पति से अधिक विद्वान थे और सूर्य से भी अधिक तेजस्वी। महाराज अतिबल की स्त्री का नाम 'मनोहरा' था। मनोहरा का जैसा नाम था वैसा ही उसका रूप भी। उसके पांव कमल के समान सुंदर थे और नाखून मोतियों से चमकते थे। जंघायें कामदेव की तरकस के सदृश मालूम होती थीं और स्थूल ऊरु केले के स्थम्भ से भी भली थी। उसका विस्तृत नितम्ब-स्थल बहुत ही मनोहर था। मनोहरा की गम्भीर नाभि श्यामल रोम राजि और कृश कमर अपनी शानी नहीं रखती थी। उसके दोनों स्तन श्रृंगार-सुधा से भरे हुये सुवर्ण कलश के समान मालूम होते थे। भुजायें कमलिनी के समान मनोहर थीं और हाथ कमलों की शोभा को भी जीतते थे। उसका कण्ठ शंख-सा सुंदर था। ओष्ठ प्रवाल से और दांत मोती-से लगते थे। उसकी बोली के सामने कोयल भी लजा जाती थी। तिलक पुष्प उसकी नाक की बराबरी नहीं कर सकता था। वह अपनी चंचल और बड़ी-बड़ी आंखों से हरिणियों को जीतती थी। उसकी भौंहें काम के धनुष के समान थीं। कुम्कुम के तिलक से उसके ललाट की अनूठी ही शोभा नजर आती थी, उसके काले और घूंघरवाले बालों की शोभा बड़ी ही विचित्र थी। मनोहरा के मुंह के सामने पूर्णिमा के चंद्रमा को भी मुंह की खानी पड़ती

थी। उसका सारा शरीर तप्त सुवर्ण की तरह चमकता था। कोई उसे एकाएक देखकर विद्याधरी कहने का साहस नहीं कर पाता था। सचमुच वह मनोहरा सुंदरी थी। राजा अतिबल रानी मनोहरा के साथ अनेक प्रकार के सुख भोगते हुये सुख से समय बिताते थे। कुछ समय बाद मनोहरा की कुक्षि से एक बालक उत्पन्न हुआ। बालक के जन्मकाल में अनेक शुभ शकुन हुये। राजा ने दीन दरिद्रों के लिये किमिच्छक दान दिया और प्रजा ने अनेक उत्सव मनाये। बालक की वीर चेष्टायें देखकर राजा ने उसका नाम महाबल रख दिया। बालक महाबल द्वितीया के चंद्रमा की तरह प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसकी अद्‌भुत लीलायें और मीठी बोली सुनकर मां का हदय फूला न समाता था। उसकी बुद्धि बड़ी ही तीक्ष्ण थी। इसलिये उसने अल्प वय में ही समस्त विद्यायें सीख ली। पुत्र की चतुराई और नीति-निपुणता देखकर राजा अतिबल ने उसे युवराज बना दिया और आप बहुत कुछ निश्चिंत होकर धर्म-ध्यान करने लगे।

एक दिन कारण पाकर अतिबल महाराज का हृदय संसार से विरक्त हो गया। उन्हें पंच इन्द्रियों के विषय क्षणभंगुर और दुःखदायी मालूम होने लगे। बारह भावनाओं का विचार कर उन्होंने जिनदीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। फिर मंत्री, सामन्त आदि के सामने अपने विचार प्रगट करके युवराज महाबल को राज्य तथा अनेक तरह के धार्मिक और नैतिक उपदेश देकर किसी निर्जन वन में उन्होंने जिन-दीक्षा धारण कर ली। महाराज के साथ में अनेक विद्याधर राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ली थी। उधर आत्मशुद्धि के लिये अतिबल महाराज कठिन से कठिन तप करने लगे और इधर महाबल भी नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाबल की शासन-प्रणाली पर समस्त प्रजा मुग्धचित्त थी। धीरे-धीरे महाबल का यौवन विकसित होने लगा। उसके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। उसका सुंदर रूप देखकर स्त्रियों का मन काम से आकुल हो उठता था। निदान, मंत्री आदि की सलाह से योग्य कुलीन विद्याधर कन्याओं के साथ उसका विवाह हो गया। अब राजा महाबल धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करने लगा। इसके महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध नाम के चार मंत्री थे। ये चारों मंत्री राज्य कार्य में बहुत ही चतुर थे। राजा

जो भी कार्य करता था वह मंत्रियों की सलाह से ही करता था; इसलिये उसके राज्य में किसी प्रकार की बाधायें नहीं आने पाती थीं। ऊपर जिन चार मंत्रियों का कथन किया है उसमें स्वयंबुद्ध को छोड़कर बाकी तीन मंत्री महा मिथ्यादृष्टि थे; इसलिये वे महाबल तथा स्वयंबुद्ध आदि के साथ धार्मिक विषयों में विद्वेष रखा करते थे। पर महाबल को राजनीति में उनसे कोई बाधा नहीं आती थी। स्वयंबुद्ध मंत्री सच्चा जिनभक्त था; वह निरंतर महाबल के हित-चिंतन में लगा रहता था।

किसी समय अलकापुरी में राजा महाबल की वर्ष-गांठ का उत्सव मनाया जा रहा था। बाजों के शब्दों से आकाश गूंज रहा था और चारों ओर स्त्रियों के सुंदर संगीत सुनाई पड़ रहे थे। एक विशाल सभामण्डप बनवाया गया था जिसकी सजावट के सामने इंद्र-भवन की भी सजावट फीकी लगती थी। उस मण्डप में सोने के एक ऊंचे सिंहासन पर महाराज महाबल बैठे हुये थे। उन्हीं के आस-पास मंत्री लोग भी बैठे थे और मण्डप की शेष जगह दर्शकों से खचाखच भरी हुई थी। लोगों के हृदय आनंद से उमड़ रहे थे। विद्वानों के व्याख्यान और तत्व-चर्चाओं से वह सभा बहुत ही भली मालूम होती है। समय पाकर महामति, संभिन्नमति और शतमति मंत्रियों ने अनेक कल्पित युक्तियों से जीव, अजीव का खण्डन कर दिया, स्वर्ग-मोक्ष का अभाव बतलाया तथा मिथ्यात्व को बढ़ानेवाली अनेक विपरीत क्रियाओं का उपदेश दिया, जिससे समस्त सभा में क्षोभ मच गया और लोग आपस में काना-फूंसी करने लगे। यह देख राजा से आज्ञा लेकर विरोध करने के लिये स्वयंबुद्ध मंत्री खड़े हुये। स्वयंबुद्ध के खड़े होते ही सब शांत हो गये। लोग चुपचाप उनका व्याख्यान सुनने लगे। स्वयंबुद्ध ने अनेक युक्तियों से जीव अजीव आदि तत्वों का समर्थन किया तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि परलोक का सद्भाव सिद्ध कर दिखाया। तत्व-प्रतिपादन के विषय में स्वयंबुद्ध मंत्री के अनोखे ढंग और अकाट्य युक्तियों से सब लोग मोहित हो गये और धन्य-धन्य कहने लगे। इसी समय स्वयंबुद्ध ने पाप और धर्म का फल बताते हुए राजा महाबल को लक्ष्य का चार कथायें कहीं थीं जो संक्षेप में नीचे लिखी जाती हैं-

(1)

राजन्! कुछ समय पहले आपके निर्मल वंश में एक अरविन्द नाम के राजा हो गये हैं। उनकी स्त्री का नाम विजया देवी था। विजया के दो पुत्र थे- पहला हरिचन्द्र और दूसरा कुरुविन्द। ये दोनों पुत्र बहुत ही विद्वान थे। राजा अरविन्द दीर्घ संसारी जीव थे। इसलिये उनका चित्त सतत पाप कर्मों में ही लगा रहता था और इसी के फलस्वरूप वे नरक आयु का बंध कर चुके थे। आयु के अन्त समय अरविंद को दाहज्वर हो गया जिसकी दाह से वे बहुत व्याकुल होने लगे। रोग की बहुत कुछ चिकित्सायें की गईं पर उन्हें आराम नहीं हुआ। पाप के उदय से उनकी समस्त विद्यायें भी नष्ट हो गई थीं। उन्होंने उत्तर कुरुक्षेत्र के सुहावने बगीचे में घूमना चाहा; परन्तु आकाशगामिनी विद्या के नष्ट हो जाने से उन्हें लाचार हो रुक जाना पड़ा। बड़े पुत्र हरिचन्द्र ने अपनी विद्या से उन्हें उत्तर कुरु भेजना चाहा पर जब उसकी भी विद्या सफल नहीं हुई तब राजा हताश हो शैय्या पर पड़ा रहा।

एक दिन की घटना है कि दीवाल पर दो छिपकली लड़ रही थीं। लड़ते-लड़ते एक की पूंछ टूट गई जिससे खून की दो चार बूंदें राजा के शरीर पर पड़ीं। खून की बूदों के पड़ते ही राजा को कुछ शान्ति मालूम हुई इसलिये उसने समझा कि यदि हम खून की बावड़ी में नहावें तो हमारा रोग दूर हो सकता है। यह विचार कर लघु पुत्र कुरुविन्द से खून की बावड़ी बनवाने के लिये कहा। कुरुविन्द, पिता का जितना आज्ञाकारी था उससे कहीं अधिक धर्मात्मा था। इसलिए उसने पिता की आज्ञानुसार एक बावड़ी बनवाई पर उसे खून से न भर कर लाख के लाल रंग से भरवा दिया और पिता से जाकर कह दिया कि आपके कहे अनुसार बावड़ी तैयार है। खून की बावड़ी देखकर राजा अरविन्द बहुत ही हर्षित हुए और नहाने के लिए उसमें कूद पड़े। पर ज्यों ही उन्होंने कुल्ला किया त्योंही उन्हें मालूम हो गया कि यह खून नहीं किन्तु लाख का रंग है। कुरुविन्द के इस कार्य पर उन्हें इतना क्रोध आया कि वे तलवार लेकर उसे मारने के लिए दौड़े पर बीमारी के कारण अधिक नहीं दौड़ सके एवं बीच में ही अपनी तलवार की धार पर गिर पड़े। तलवार की धार से राजा का उदर विदीर्ण हो गया जिससे वे मरकर नरकगति में पहुँचे। सच है-मरते समय प्राणियों के जैसे भाव होते हैं वे वैसी ही गति को प्राप्त होते हैं।

(2)

नरेन्द्र! कुछ समय पहले आपके इसी वंश में एक दण्ड नाम के राजा हो गये हैं जिन्होंने अपने प्रचण्ड पराक्रम से समस्त विद्याधरों को वश में कर लिया था। यद्यपि राजा दण्ड शरीर से वृद्ध हो गये थे तथापि उनका मन वृद्ध नहीं हुआ था। वे रात दिन विषयों की चाह में लगे रहते थे। उनके एक मणिमाली नाम का आज्ञाकारी पुत्र था। जीवन के शेष समय में राज्य का भार मणिमाली को सौंप कर आप अंत:पुर में रहने लगे और अनेक तरह के भोग भोगने लगे। किसी समय तीव्र संक्लेश भाव से राजा दण्ड का मरण हो गया। मरकर वे अपने भण्डार में विशालकाय अजगर हुए। वह अजगर मणिमालनी के सिवाय भण्डार में किसी दूसरे को नहीं आने देता था। एक दिन मणिमाली ने इस अजगर का हाल किसी मुनिराज से कहा। मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर कहा कि यह अजगर आपके पिता दण्ड विद्याधर का जीव है। आर्त ध्यान के कारण उन्हें यह कुयोनि प्राप्त हुई है। यह सुनकर मणिमाली झट से भण्डार में गया और वहाँ अजगर के सामने बैठकर उसे ऐसे ढंग से समझाने लगा कि उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया और विषयों की लालसा छूट गई। पुत्र के उपदेश से उसने सब बैर भाव छोड़ दिया तथा आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मरण कर देव पर्याय पाई। स्वर्ग से आकर देव ने मणिमाली के गले में मणियों का एक सुन्दर हार पहिनाया था जो कि आज आपके भी गले में शोभायमान है। सच है- विषयों की अभिलाषा से मनुष्य अनेक तरह के कष्ट उठाते हैं और विषयों के त्याग से स्वर्ग आदि का सुख पाते हैं।

(3)

राजन्! आपके बाबा शतबल भी चिरकाल तक राज्य-सुख भोगने के बाद आपके पिता अतिबल के लिये राज्य देकर धर्म-ध्यान करने लगे थे और आयु के अन्त में समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुए थे। आपको भी ध्यान होगा जब हम दोनों मेरुपर्वत पर नन्दन वन में खेल रहे थे, तब देवशरीर धारी आपके बाबा ने कहा था कि ''जैन धर्म को कभी नहीं भूलना, यही सब सुखों का कारण है।''

(4)

इसी तरह आपके पिता अतिबल के बाबा सहस्रबल भी शतबल के लिये राज्य देकर नग्न दिगम्बर हो गये थे और कठिन तपस्याओं से आत्म-शुद्धि कर शुक्ल ध्यान के प्रताप से परमधाम मोक्षस्थान को प्राप्त हुए थे।

ये कथाएं प्राय: सभी लोगों से परिचित और अनुभूत थीं; इसलिये स्वयंबुद्ध मंत्री की बात पर किसी को अविश्वास नहीं हुआ। राजा और प्रजा ने स्वयं बुद्ध का खूब सत्कार किया। महामति आदि तीन मंत्रियों के उपदेश से जो कुछ विभ्रम फैल गया था वह स्वयंबुद्ध के उपदेश से दूर हो गया था। इस तरह राजा महाबल की वर्ष-गांठ का उत्सव हर्ष-ध्वनि के साथ समाप्त हुआ।

एक दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने के लिये मेरु पर्वत पर गये और वहाँ पर समस्त चैत्यालयों के दर्शन कर अपने आपको सफल-भाग्य मानते हुए सौमनस वन में बैठे ही थे कि इतने में उन्हें पूर्व विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत कच्छ देश के अनिष्ट नामक नगर से आये हुए दो मुनिराज दिखाई पड़े। उन मुनियों में एक का नाम आदित्यमति और दूसरे का नाम अरिंजय था। स्वयंबुद्ध ने खड़े होकर दोनों मुनिराजों का स्वागत किया और विनयपूर्वक प्रणाम कर तत्वों का स्वरूप पूछा। जब मुनिराज तत्वों का स्वरूप कह चुके तब मंत्री ने उनसे पूछा 'हे नाथ! हमारी अलका नगरी में सब विद्याधरों का अधिपति जो महाबल नाम का राजा राज्य करता है वह भव्य है या अभव्य? मंत्री का प्रश्न सुनकर आदित्यमति मुनिराज ने कहा कि हे सचिव! राजा महाबल सत्य है क्योंकि भव्य ही तुम्हारे वचनों में विश्वास कर सकता है। तुम्हें महाबल बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वह दशमें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में युग का प्रारम्भ होने पर ऋषभनाथ नाम का पहला तीर्थंकर होगा। सकल सुरेन्द्र उसकी सेवा करेंगे और वह अपने दिव्य उपदेश से संसार के समस्त प्राणियों का कल्याण करेगा। वही उसके मुक्त होने का समय है। अब मैं महाबल के पूर्वभव का वर्णन करता हूँ जिसमें कि इसने सुख भोगने की इच्छा से धर्म का बीज बोया था। सुनिये-

पश्चिम विदेह में श्री गन्धिल नाम का देश है और उसमें सिंहपुर नाम

का एक सुन्दर नगर है। वहाँ किसी समय श्रीषेण राजा राज्य करते थे। उसकी स्त्री का नाम सुन्दरी था। श्रीषेण के जयवर्मा और श्रीवर्मा नाम के दो पुत्र थे; उनमें श्रीवर्मा नाम का छोटा पुत्र सभी को प्यारा था। राजा ने प्रजा के आग्रह से लघु पुत्र श्रीवर्मा को राज्य दे दिया और आप धर्म-ध्यान में लीन हो गये। ज्येष्ठ पुत्र जयवर्मा से अपना यह अपमान सहा नहीं गया; इसलिए वह संसार से उदास होकर किसी वन में दिगम्बर मुनि हो गया और विषय-भोगों से विरक्त होकर उग्र तप तपने लगा। एक दिन, जहाँ पर जयवर्मा मुनिराज ध्यान लगाये हुए बैठे थे, वहीं से आकाश मार्ग से विहार करता हुआ विद्याधरों का कोई राजा जा रहा था। ज्योंही जयवर्मा की दृष्टि उस पर पड़ी त्योंही उसे राजा बनने की अभिलाषा ने फिर धर दबाया। उधर जयवर्मा विद्याधर राज-भोगों की प्राप्ति में लग्न हो रहे थे इधर वामी से निकले हुए एक सांप ने उन्हें डस लिया। जिससे वे मरकर महाबल हुए हैं। पूर्वभव की अतृप्त वासना से महाबल अब भी रात दिन भोगों में लीन रहा करता है।

इस प्रकार पूर्वभव सुनाने के बाद मुनिराज आदित्यमति ने स्वयंबुद्ध मंत्री से कहा कि आज राजा महाबल ने स्वप्न देखा है कि मुझे संभिन्नमति आदि मंत्रियों ने जबर्दस्ती कीचड़ में गिरा दिया है फिर स्वयंबुद्ध मंत्री ने उन दुष्टों को धमका कर मुझे कीचड़ से निकाला और सोने के सिंहासन पर बैठाकर निर्मल जल से नहलाया है, तथा एक दीपक की शिखा प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। महाबल इन स्वप्नों का फल तुमसे अवश्य पूछेगा; सो तुम जाकर पूछने के पहले तो कह देना कि पहले स्वप्न से आपका सौभाग्य प्रकट होता है और दूसरे स्वप्न से आपकी आयु एक माह बाकी रह गई मालूम होती है। ऐसा करने से तुम्हारे ऊपर उसका दृढ़ विश्वास हो जावेगा; तब तुम उसे जो भी हित का मार्ग बतलाओगे उसे वह शीघ्र ही स्वीकार कर लेवेगा। इतना कहकर दोनों मुनिराज आकाश-मार्ग से विहार कर गये और स्वयंबुद्ध मंत्री भी हर्षित होते हुए अलकापुरी को लौट आये। वहाँ राजा महाबल स्वयंबुद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे तो स्वयंबुद्ध ने शीघ्र ही जाकर उनके दोनों स्वप्नों का फल जैसा कि मुनिराज ने बतलाया था, कह सुनाया तथा समयोपयोगी और भी धार्मिक उपदेश दिया। मंत्री के कहने से महाबल को दृढ़ निश्चय हो गया कि अब मेरी आयु केवल एक माह बाकी रह गई है। वह समय अष्टाह्निक व्रत का था; इसलिए उसने जिन मंदिर में आठ दिन

तक खूब उत्सव किया और शेष बाईस दिन का सन्यास धारण किया। उसे सन्यास-विधि मंत्री स्वयंबुद्ध बतलाते थे। अन्त में पंच नमसकार मंत्र का जाप करते हए महाबल ने नश्वर मनुष्य शरीर का परित्याग कर ईशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में देव पर्याय का अधिकारी हुआ। वहां उसका नाम ललितांग था। तब ललितांग देव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव का विचार किया तब उसने स्वयंबुद्ध का अत्यन्त उपकार माना और उसके प्रति अपने हृदय से कृतज्ञता प्रकट की। पूर्वभव के संस्कार से उसने वहां पर भी जिनपूजा आदि धार्मिक कार्यों में प्रमाद नहीं किया था। इस प्रकार ऐशान स्वर्ग में स्वयंप्रभा, कनकप्रभा, कनकलता, विद्युल्लता आदि चार हज़ार देवियों के साथ अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए ललितांग देव का समय बीतने लगा। ललितांग की आयु अधिक थी इसलिये उसके जीवन में अल्प आयुवाली कितनी ही देवियां नष्ट हो जाती थीं और उनके स्थान में दूसरी देवियां उत्पन्न होती जाती थीं। इस तरह सुख भोगते हुए ललितांग की आयु जब केवल कुछ पल्यों की शेष रह गई तब उसे एक स्वयंप्रभा नाम की देवी प्राप्त हुई। ललितांग को स्वयंप्रभा-सी सुन्दरी देवी जीवन भर न मिली थी इसलिए वह उसे बहुत चाहता था और वह भी ललितांग को बहुत अधिक चाहती थी। दोनों एक दूसरे पर अत्यन्त मोहित थे। परन्तु सब दिन किसी के एक से नहीं होते। धीरे-धीरे ललितांग देव की दो सागर की आयु समाप्त होने को आई। जब उसकी आयु सिर्फ छह माह की बाकी रह गई तब उसके कंठ में पड़ी हुई माला मुरझा गई, कल्पवृक्ष कान्ति-रहित हो गये और मणि-मुक्ता आदि सभी वस्तुएं प्राय: निष्प्रभ-सी हो गई। यह सब देख उसने समझ लिया कि मेरी आयु अब छह माह की ही बाकी रह गई है। इसके बाद मुझे अवश्य ही नरलोक में उत्पन्न होना पड़ेगा। प्राणी जैसे कार्य करते हैं वैसे ही फल पाते हैं। मैंने अपना समस्त जीवन भोग-विलासों में बिता दिया। अब कम से कम इस शेष आयु में मुझे धर्मसाधन करना परम आवश्यक है। यह विचार कर पहले ललितांग देव ने समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना की फिर अच्युत स्वर्ग में स्थित जिन प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ समता-संतोष से समय बिताने लगा। अन्त में समाधिपूर्वक पंच-नमस्कार मंत्र का जाप करते हुए उसने देव शरीर को छोड़ दिया।

जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत से पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र में एक पुष्कलावती

देश है। उसकी राजधानी उत्पलखेट नगरी है। उस समय वहां वज्रबाहु राजा राज्य करते थे। उसकी स्त्री का नाम वसुन्धरा था। राजा वज्रबाहु वसुन्धरा रानी के साथ इन्द्र-इन्द्राणी की तरह भोग भोगते हुए आनन्द से रहते थे। जिसका कथन ऊपर कर आये हैं। वह ललितांग देव स्वर्ग से चय कर इन्हीं वज्रबाहु और वसुन्धरा नामक राजदम्पती के वज्रजंघ नाम का पुत्र हुआ। वज्रजंघ अपनी मनोरम चेष्टाओं से सभी को हर्षित करता था। वह चन्द्रमा के समान मालूम होता था क्योंकि चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों को विकसित करता है उसी तरह वज्रजंघ भी अपने कुटुम्बी-कुमुदों को विकसित (हर्षित) करता था। चन्द्रमा जिस तरह कलाओं से शोभित होता है उसी तरह वज्रजंघ भी अनेक कलाओं (चतुराइयों) से भूषित था। चन्द्रमा जिस प्रकार कमलों को संकुचित करता है उसी प्रकार वह भी शत्रुरूपी कमलों को संकुचित (शोभाहीन) करता था और चन्द्रमा जिस तरह चांदनी से सुहावना जान पड़ता है उसी तरह वज्रजंघ भी मन्द-हास्य रूपी चांदनी से सुहावना जान पड़ता था। ललितांग का मन स्वयंप्रभा देवी में ही आसक्त था, इसलिये वह किसी दूसरी स्त्री से प्रेम नहीं करता था। बस उसी संस्कार से वज्रजंघ का चित्त भी किसी दूसरी स्त्रियों की ओर नहीं झुकता था। युवावस्था को प्राप्त होकर भी उसने अपना विवाह नहीं करवाया था। वह निरन्तर शास्त्रों के अध्ययन तथा नये तथ्यों की खोज में लगा रहता था।

अब स्वयंप्रभा-जिसे कि ललितांग देव छोड़कर चला आया था-का उपाख्यान सुनिये। प्राणनाथ ललितांग देव के मरने पर स्वयंप्रभा को बहुत खेद हुआ, जिससे वह तरह-तरह के विलाप करते लगी। यह देखकर दृढ़वर्मा, जो कि ललितांग का घनिष्ट मित्र था, नाम के एक देव ने उसे खूब समझाया और अच्छे-अच्छे कार्यों का उपदेश दिया। उसके उपदेश से स्वयंप्रभा ने पति-विरह से उत्पन्न हुए दु:ख को कुछ शान्त किया और अपने शेष जीवन के छह माह जिन-पूजन, नित्य-वन्दन आदि शुभ कर्मों में व्यतीत किये। मृत्यु के समय सौमनस वन में शोभित किसी चैत्य वृक्ष के नीचे पंच-परमेष्ठी का ध्यान करती हुई स्वयंप्रभा को देवी-पर्याय से निष्कृति मिली।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। वज्रदन्त

राजा उसका पालन करते थे। उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमती था। स्वयंप्रभा देवी स्वर्ग से चयकर इन्हीं राज-दम्पती के श्रीमती नाम की पुत्री हुई। श्रीमती की सुन्दरता देखकर लोग कहा करते थे कि इसे ब्रह्मा ने चन्द्रमा की कलाओं से बनाया है। एक समय श्रीमती छत के ऊपर रत्नों के पलंग पर सो रही थी। उसी समय वहां के आकश में 'जय जय' शब्द करते हुए बहुत से देव निकले। वे देव, पुण्डरीकिणी पुरी के किसी उद्यान में विराजमान यशोधर गुरु के केवलज्ञान महोत्सव में शामिल होने के लिये जा रहे थे। उन देवों के आगे हजारों बाजे बजते जाते थे जिनका गम्भीर शब्द सब ओर फैल रहा था। देवों की जयजयकार और बाजों की उच्च ध्वनि से श्रीमती की नींद खुल गई। नींद खुलते ही उसकी दृष्टि देवों पर पड़ी जिससे उसे उसी समय अपने पूर्व भवों का स्मरण हो आया। अब ललितांग देव उसकी आंखों के सामने घूमने लगा और स्वर्ग लोक की सब अनुभूत क्रियायें उसकी दृष्टि में आने लगीं। वह बार-बार ललितांग देव का स्मरण कर विलाप करने लगी और विलाप करती-करती मूर्च्छित भी हो गयी। सखियों ने अनेक शीतल उपचारों से सचेत कर जब उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा तब वह चुपचाप रह गयी और चारों ओर देखने लगी। जब लक्ष्मीमती और वज्रदन्त को श्रीमती के इस हाल का पता चला तब वे दौड़े हुए उसके पास आये। उन्होंने उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा पर वह कुछ नहीं बोली केवल ग्रहग्रस्त की तरह चारों ओर निहारती रही। पुत्री की ऐसी अवस्था देखकर राजा रानी को बहुत ही दु:ख हुआ। कुछ देर बाद उसकी चेष्टाओं से राजा वज्रदंत समझ गये कि इसके दु:ख का कारण इसके पूर्वभव का स्मरण है; और कुछ नहीं। उन्होंने अपना यह विचार लक्ष्मीमती को भी सुनाया। इसके बाद श्रीमती को समझाने के लिये एक पण्डिता नाम की धाय को नियुक्त कर राजा और रानी अपने-अपने स्थान पर चले गये।

श्रीमती के पास से वापिस आते ही राजा को पता चला कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है और पुरी के बाह्य उद्यान में यशोधर महाराज को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। 'दिग्विजय के लिये जाऊं या यशोधर महाराज के ज्ञान-कल्याण के महोत्सव में शामिल होऊं'- इन दो विचारों ने राजा की चित्तवृत्ति को एक क्षण के लिये दो भागों में विभाजित कर दिया। पर पहले धर्म कार्य में ही शामिल होना चाहिये, ऐसा विचार कर राजा वज्रदंत यशोधर

महाराज के ज्ञानोत्सव में शामिल होने के लिए गये। वन में पहुँच कर राजा ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया और अपना जन्म सफल माना। वहां विचित्र बात यह हुई थी कि राजा ने ज्योंही पूज्य मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया था त्योंही उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था। अवधिज्ञान के प्रताप से राजा वज्रदंत अपने तथा श्रीमती आदि के समस्त पूर्वभव स्पष्ट रूप से जान गये थे। जिससे वे श्रीमती के विषय में प्राय: निश्चिन्त हो गये थे। मुनिराज के पास से वापिस आकर वज्रदंत चक्रवर्ती दिग्विजय के लिये गये।

इधर पण्डिता धाय श्रीमती को घर के बगीचे में ले जाकर अनेक तरह से उसका मन बहलाने लगी। मौका देखकर पण्डिता ने उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा। अब की बार श्रीमती पण्डिता का आग्रह न टाल सकी, वह बोली सखी! जब मैं छतपर सो रही थी तब वहां से जयजय शब्द करते हुए कुछ देव निकले, उनके कोलाहल से मेरी आंख खुल गई। जब मेरी निगाह उन देवों पर पड़ी तब मुझे अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया। बस, यही मेरे दु:ख का कारण है। मैं इसे स्पष्ट रूप से आप लोगों के सामने कहना चाहती हूँ पर लज्जा मुझे कहने नहीं देती। अब मैं देखती हूँ कि लज्जा से काम नहीं चलेगा। इसलिये क्षमा करना, मैं आज लज्जा का परदा फाड़कर अपनी मनोवृत्ति प्रकट करती हूँ। सुनती हो न ?

धातकीखण्ड द्वीप की पूर्व दिशा में जो मेरुपर्वत है उससे पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक गान्धिल नाम का देश है उसके पाटलिगांव में एक नागदत्त नाम का वणिक रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुदति था। इस वणिक-दम्पति के नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और जयसेन नाम के पांच पुत्र तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नाम की दो पुत्रियां थीं। उन दो पुत्रियों में से मैं छोटी पुत्री थी। लोग मुझको निर्नामिका भी कहा करते थे। किसी समय वहां के अम्बर-तिलक पर्वत पर पिहितास्रव नाम के एक मुनिराज आये। मैंने वहां जाकर उनसे विनयपूर्वक पूछा कि भगवन्! मैं इस दरिद्र कुल में पैदा क्यों हुई हूं? तब मुनिराज बोले-

इसी गान्धिल देश के पलाल पर्वत गांव में एक देवल नामक मनुष्य रहता था उसकी स्त्री का नाम सुमति था। तुम पहले इसी के धन श्री नाम से प्रसिद्ध लड़की हुई थीं। एक दिन तुम्हारे बगीचे में कोई समाधि गुप्त नाम

के मुनीश्वर आये थे सो तुमने उनके सामने मरे हुए कुत्ते का कलेवर डाल दिया जिससे वे कुछ क्रुद्ध हो गये। तब डरकर तुमने उनसे क्षमा मांगी। उस क्षमा से तुम्हारे उस पाप में कुछ न्यूनता हो गयी थी। जिससे तुम इस दरिद्र कुल में उत्पन्न हो सकी हो; नहीं तो मुनियों के तिरस्कार से नरक गति में जाना पड़ता। यह कह चुकने के बाद मुनिराज पहितास्रव ने मुझे जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान नाम के व्रत दिये जिनका मैंने यथाशक्ति पालन किया। उन व्रतों के प्रभाव से मैं मरकर ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव की अगना हुई थी। वहां मेरा नाम स्वयंप्रभा था। हम दोनों एक दूसरे को बहुत अधिक चाहते थे। पर मेरे दुर्भाग्य से ललितांग देव की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु से मुझे बहुत ही दु:ख हुआ, पर करती ही क्या? जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते-करते मैंने अपनी अवशेष आयु पूर्ण की और वहां से चयकर इस भव में श्रीमती हुई हूँ। देवों का आगमन देखकर आज मुझे ललितांग देव का स्मरण हो आया है बस, यही मेरे दु:ख का कारण है। अब ललितांग के बिना मुझे एक क्षण भी वर्ष के समान मालूम होता है और यह दुष्ट काम अपने पैने बाणों से मुझको घायल कर रहा है। यह कहकर श्रीमती ने पंडिता से कहा कि प्यारी सखि! तुम्हारे होते हुए भी क्या मुझे दु:ख होगा? चांदनी के छिटकने पर भी क्या कुमुदिनी दु:खी होती है? मेरा विश्वास है कि आप हमारे ललितांग की खोजकर उनके साथ मुझे अवश्य ही मिला दोगी। देखो, मैंने इस पटिये पर अपने पूर्व भव के चित्र अंकित किये हैं इन्हें दिखला कर आप सरलता से ललितांग की खोज कर सकती हैं। यह सुनकर पंडिता धाय ने श्रीमती को आश्वासन दिया और उसके पास से चित्रपट लेकर ललितांग की खोज करने के लिए चल दिया। वह सबसे पहले महापूत चैत्यालय को गई और वहां जिनेन्द्र देव को प्रणामकर चित्रशाला में चित्रपट फैलाकर बैठ गई। प्राय: चैत्यालय में सभी लोग आते थे इसलिये पंडिता के अनोखे चित्रपट पर सभी की नजर पड़ती थी; पर कोई उसका रहस्य नहीं समझ पाते थे। इसके बाद जो कुछ हुआ वह आगे लिखा जायेगा।

श्रीमती के पिता वज्रदंत चक्रवर्ती जो कि श्रीमती का उक्त हाल होने के बाद दिग्विजय के लिए चले गये थे अब लौटकर वापिस आ गये। यद्यपि वे अपने समस्त शत्रुओं को जीत कर आये थे इसलिए प्रसन्न चित्त थे तथापि श्रीमती की चिन्ता उन्हें रह-रह कर म्लानमुख बना देती थी। मौका पाकर

वज्रदंत ने श्रीमती को अपने पास बुलाकर कुशल प्रश्न पूछा और फिर कहने लगे कि प्यारी बेटी! मुझे यशोधर महाराज के प्रसाद से अविधज्ञान प्राप्त हुआ है इसलिए मैं अपने, तुम्हारे और तुम्हारे प्रिय भर्तार ललितांग देव के ही पूर्वभव जानने लगा हूँ। मैं यह भी जान गया हूं कि तुम्हें देवों के देखने से अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया है जिससे तुम अपने हृदयवल्लभ ललितांग देव का बार-बार स्मरण कर दु:खी हो रही हो। पर अब निश्चिंत होओ और पहले की तरह आनन्द से रहो। तुम्हारा ललितांग पुष्कलावती देश के उत्पलखेट नगर में रहने वाले वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा के वज्रजंघ नाम का पुत्र हुआ है। जो कि हमारा भानेज है। उसके साथ तुम्हारा शीघ्र ही विवाह-सम्बन्ध होने वाला है। इसी सिलसिले में राजा वज्रदंत ने अपने, श्रीमती के और ललितांग देवे के कितने ही पूर्वभवों का वृतान्त सुनाया था। जिन्हें सुनकर श्रीमती को अपार हर्ष हुआ। 'मैं अब बहनोई वज्रबाहु, बहिन वसुंधरा और भानेज वज्रजंघ को लेन के लिए जा रहा हूँ। वे मुझे कुछ दूरी पर रास्तों में ही मिल जायेंगे' यह कहकर चक्रवर्ती श्रीमति के पास से गये ही थे कि इतने में पंडिता धाय, जो कि श्रीमती का चित्रपट लेकर ललितांग देव को खोजने के लिए गई हुई थी, हंसती हुई वापिस आ गई और श्रीमती के सामने एक चित्रपट रखकर बैठ गई। यद्यपि पिता के कहने से उसे ललितांग देव का पूरा पता लग गया था तथापि उसने कौतुकपूर्वक पंडिता से उसका सब हाल पूछा। उत्तर में पंडिता बोली-सखि! मैं यहां से तुम्हारा चित्रपट लेकर महापूत जिनालय को गई थी वहां जिनेन्द्र देव को प्रणाम कर वहां की चित्रशाला में बैठ गई। मैंने वहां पर ज्योंही तुम्हारा चित्रपट फैलाया त्योंही अनेक युवक ''क्या है? क्या है?'' कहकर उसे देखने लगे। पर उसका रहस्य किसी की समझ में नहीं आया। कुछ वासना-लोलुप उन्हें पाने की इच्छा से झूठ मूठ ही उसका हाल बतलाते थे। पर मैं उन्हें सहज ही में चुप कर देती थी। कुछ समय बाद वहां एक युवक आया जो देखने में साक्षात् कामेश्वर-सा लगता था। उसने एक-एक करके श्रीमती के चित्रपट का समस्त हाल बतला दिया। यहां पर देव समूह को देखने से जैसी अवस्था तुम्हारी हो गई थी वहां ठीक वैसी ही अवस्था चित्रपट देखने से उसकी हो गई। वह देखते-देखते मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। जब बन्धुवर्ग ने उसे सचेत किया तब वह मुझसे पूछने लगा-भद्रे! कहो, यह चित्रपट किसका

है? किस देवी के मनोहर हाथों से इसका निर्माण हुआ है? यह मुझे बहुत ही प्यारा लगता है। तब मैंने उससे कहा- ''यह तुम्हारी मामी लक्ष्मीमती की पुत्री श्रीमती के कोमल हाथों से रचा गया है।'' मैंने उसकी चेष्टाओं से निश्चय कर लिया था कि यही ललितांग की जीव है। उसके बन्धुवर्ग से मुझे मालूम हुआ है कि वह पुष्कलावती देश के राजा वज्रबाहु का पुत्र है। लोग उसे वज्रजंघ नाम से पुकारते हैं। वज्रजंघ ने तुम्हार चित्रपट अपने पास रख लिया है और यह दूसरा चित्रपट मेरे द्वारा तुम्हारे पास भेजा है। कैसा चित्रपट है सखि? इतना कहकर पण्डिता चुप हो रही। श्रीमती ने कृतज्ञताभरी नजर से उसकी ओर देखा और फिर उस नूतन चित्रपट को हृदय से लगा लिया।

इधर वज्रदंत चक्रवर्ती की राजा वज्रबाहु आदि से रास्ते में भेंट हो गई। चक्रवर्ती, बहनोई वज्रबाहु, बहिन वसुन्धरा और भग्निपुत्र वज्रजंघ को बड़े आदर सत्कार से अपने घर लिवा लाये। जब उन्हें घर पर रहते हुए कुछ दिन हो गये तब चक्रवर्ती ने वज्रबाहु से काह-महाशय! आप लोगों के आने से मुझे जो हर्ष हुआ है उसका वर्णन करना कठिन है। यदि आप लोग मुझ पर स्नेह रखते हैं तो मेरे घर में आपके योग्य जो भी उत्तम वस्तु हो उसे स्वीकार कीजियेगा। तब वज्रबाहु ने कहा-यद्यपि आपके प्रसाद से मेरे पास जब कुछ है- किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है; तथापि यदि आपकी इच्छा है तो चिरंजीव वज्रजंघ के लिये आप अपनी पुत्री श्रीमती दे दीजिये। चक्रवर्ती तो यह चाहते ही थे; उन्होंने झट से बहनोई की प्रार्थना स्वीकार कर ली और विवाह की तैयारी करने के लिये सेवकों को आज्ञा दे दी। सेवकों ने सुन्दर विवाह-मण्डप बनाया तथा पुण्डरीकिणी पुरी को ऐसा सजाया कि उसके सामने इन्द्र की अमरावती भी लजाती थी। निदान शुभ मुहूर्त में वज्रजंघ और श्रीमती का विधिपूर्वक पाणिग्रहण हो गया। पाणिग्रहण के बाद वर-वधू अनेक जन-समूह के साथ महापूत चैत्यालय को गये और वहां जिनेन्द्रदेव की अर्चा एवं स्तवन कर राज-मन्दिर को लौट आये। वहां बत्तीस हजार चक्रवर्ती मुकुटबद्ध राजाओं ने वज्रजंघ और श्रीमती का स्वागत किया। विवाह के बाद वज्रजंघ ने कुछ समय तक अपनी ससुराल में ही रहकर आमोद-प्रमोद से समय व्यतीत किया। इसी बीच में राजा वज्रबाहु ने अपनी अनुन्दरी नाम की पुत्री का चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र अमिततेज के साथ विवाह कर दिया था। जब वज्रजंघ अपने घर वापिस जाने लगे तब चक्रवर्ती ने हाथी, घोड़ा,

सोना, चांदी, मणि, मुक्ता आदि का बहुमूल्य दहेज देकर उनके साथ श्रीमती को विदा कर दिया। यद्यपि श्रीमती और वज्रजंघ के विरह से चक्रवर्ती का अन्त:पुर तथा सकल पुरवासीजन शोक से विह्वल हो उठे थे, तथापि ''जिनका संयोग होता है, उनका वियोग भी अवश्य होता है'' ऐसा सोचकर कुछ समय बाद शान्त हो गये थे। अनेक वन-उपवनों की शोभा निहारते हुए वज्रजंघ कुछ दिनों में अपनी राजधानी उत्पलखेट नगरी को पहुँचे। उस समय राजकुमार वज्रजंघ और उनकी नव-विवाहिता पत्नी के शुभागमन के उपलक्ष्य में उत्पलखेट नगरी खूब सजाई गई थी। महलों की शिखरों पर कई रंगों की ध्वजाएं फहरा रही थीं और राजमार्ग मणियों की वदनमालाओं से विभूषित किये गये थे। सड़कों पर सुगन्धित जल सींच कर बेला, जुही, चमेली आदि बिखेरे गये थे। नव-वधू श्रीमती को देखने के लिये मकानों की छतों पर स्त्रियां एकत्रित हो रही थीं और जगह-जगह पर नृत्य, गीत, वादित्र आदि के सुन्दर शब्द सुनाई पड़ते थे। वज्रजंघ ने श्रीमती के साथ राज भवन में प्रवेश किया। माता-पिता के वियोग से जब कभी श्रीमति दु:खी होती थी, तब वज्रजंघ अपनी लीलाओं और रसभरे शब्दों से उसके दु:ख को क्षण भर में दूर कर देते थे। श्रीमती के साथ उसकी प्यारी सखी पण्डिता भी आई थी, इसलिये वह श्रीमती को कभी दु:खी नहीं होने देती थी। धीरे-धीरे समय बहुत बीत गया। इसी बच में क्रम-क्रम से श्रीमती के पचास युगल अर्थात् सौ पुत्र हुए जो अपनी स्वाभाविक शोभा से इन्द्रपुत्र जयन्त को भी लजाते थे। उन सबसे वज्रबाहु और वज्रजंघ ने अपने गृहस्थ जीवन को सफल माना था।

एक समय राजा वज्रबाहु मकान की छत पर बैठे हुए आकाश की सुषमा देख रहे थे। जिस समय वहां उन्होंने एक क्षण में विलीन होते हुए मेघ-खंड को देखा, त्योंही उनके अन्तरंग नेत्र खुल गये। वे सोचने लगे- ''संसार वे सभी पदार्थ इसी मेघ-खंड की नांई क्षणभंगुर है। मैं इस राज्य-विभूति को स्थिर समझ कर व्यर्थ ही इसमें विमोहित हो रहा हूं। नरभव पाकर भी जिसने मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं किया वह फिर सदा के पछताता रहता है''- इत्यादि विचार कर वज्रबाहु महाराज संसार से एकदम उदास हो गये और बहुत जल्दी वज्रजंघ को राज्य समर्पण कर वन में जाकर किन्हीं आचार्य के पास दीक्षा लेकर तप करने लगे। उनके साथ में श्रीमती के सौ पुत्र, पंडिता सखी एवं अनेक राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ग्रहण की थी।

उधर मुनिराज वज्रबाहु कुछ समय के बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सदा के लिये संसार के बंधनों से छूट गये और इधर पिता तथा पुत्रों के विरह से शोकातुर वज्रजंघ नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। अब श्रीमती के पिता वज्रदंत का भी कुछ हाल सुनिये।

एक दिन चक्रवर्ती राजसभा में बैठे हुए थे कि माली ने उन्हें एक कमल का फूल अर्पित किया। उस कमल की सुगन्धि से चारों ओर भौंरे मंडरा रहे थे। ज्योंहि उन्होंने निमीलित कमल को विकसाने का प्रयत्न किया त्योंही उस कमल में रुके हुए एक मृत भौंरे पर उनकी दृष्टि पड़ी। वह भौंरा सुगन्धि के लोभ से सायंकाल के समय कमल के भीतर बैठा हुआ था कि अचानक सूर्य अस्त हो गया जिससे वह उसी में बन्द होकर मर गया था। उसे देखते ही चक्रवर्ती सोचने लगे कि '' जब यह भौंरा एक नासिका इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर मर गया है, तब जो मनुष्य रात दिन पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो रहे हैं वे क्यों भौंरे की तरह मृत्यु को प्राप्त न होवेंगे? सच है- संसार में इन्द्रियों के विषय ही प्राणियों को दु:खी किया करते हैं। मैंने जीवन भर विषय भोगे पर कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ।'' इत्यादि विचार कर उन्होंने जिन-दीक्षा धारण करने का दृढ़-संकल्प कर लिया। चक्रवर्ती ने अपने बड़े पुत्र अमिततेज को राज्य देना चाहा पर जब उसने और उसके छोटे भाई ने राज्य लेना स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को जिसकी आयु उस समय केवल छह माह की थी, राज्य दे दिया और आप अनेक राजाओं, पुत्रों तथा पुरवासियों के साथ दीक्षित हो गये।

चक्रवर्ती और अमिततेज के विरह से सम्राज्ञी लक्ष्मीमती तथा अनुन्दरी आदि को बहुत दु:ख हुआ। कहां चक्रवर्ती का विशाल राज्य और कहां छह माह का अबोध बालक! पुण्डरीक, अब इस राज्य की रक्षा किस तरह होगी? इत्यादि विचार कर लक्ष्मीमती ने दामाद वज्रजंघ को एक पत्र लिखा और उसे एक पिटारे में बन्दकर चिन्तागति तथा मनोगति नाम के विद्याधर दूतों के द्वारा उनके पास भेज दिया। जब वज्रजंघ पिटारा खोलकर उसमें रखे पत्र को पढ़ा तब उन्हें बहुत दु:ख हुआ। श्रीमती के दु:ख का तो पार ही नहीं रहा। वह पिता और भाइयों का स्मरण कर विलाप करने लगी। पर राजा वज्रजंघ संसार की परिस्थिति से भलीभांति परिचित थे; इसलिए उन्होंने किसी तरह अपना

शोक दूर कर श्रीमती को धीरज बंधाया, और ''मैं आता हूँ'' कहकर उन विद्याधर दूतों को वापिस भेज दिया। कुछ समय बाद राजा वज्रजंघ और श्रीमती ने पुण्डरीकिणी पुरी की ओर प्रस्थान किया। उनके साथ महामंत्री मतिवर, पुरोहित आनन्द सेठ धनमित्र और सेनापति अकम्पन भी थे। इन सबके साथ हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि से भरी हुई विशाल सेना थी। चलते-चलते वज्रजंघ किसी सुन्दर सरोवर के पास पहुँचे। वहाँ चारों ओर सेना को ठहराकर स्वयं श्रीमती के साथ अपने खेमे में चले गये। इतने में ''यदि वन में आहर मिलेगा तो लेवेंगे, गांव नगर आदि में नहीं'' ऐसी प्रतिज्ञा कर दो मुनिराज आकाश में विहार करते हुए वहां से निकले। जब उन मुनियों पर राजा की दृष्टि पड़ी तब उसने उन्हें भक्ति सहित पड़गाहा और श्रीमती के साथ शुद्ध सरस आहार दिया। जब आहार लेकर मुनिराज वन की ओर विहार कर गये तब राजा वज्रजंघ से उनके पहरेदार ने कहा कि महाराज! ये युगल मुनि आपके सबसे लघु पुत्र हैं। आत्मशुद्धि के लिये सदा वन में ही रहते हैं। यहां तक कि आहार के लिये भी नगर में नहीं जाते। यह सुनकर वज्रजंघ और श्रीमती के शरीर में हर्ष के रोमांच निकल आये। वे दोनों लपक कर उसी ओर गये जिस ओर मुनिराज गये थे।

निर्जन वन में एक शिला पर बैठे हुए मुनि-युगल को देख कर राजदम्पति के हर्ष का पार नहीं रहा। राजा रानी ने भक्ति से मुनिराज के चरणों में अपना माथा झुका दिया तथा विनयपूर्वक बैठकर उनसे गृहस्थ धर्म का व्याख्यान सुना। इसके बाद अपने और श्रीमती के पूर्व भव सुनकर राजा ने पूछा-हे मुनिराज! ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझसे बहुत प्यार करते हैं। मेरा भी इनमें अधिक स्नेह है, इसका क्या कारण है? उत्तर में मुनिराज बोले-'राजन्! अधिकतर पूर्व भव के संस्कारों से ही प्राणियों में परस्पर स्नेह या द्वेष रहा करता है। आपका भी इनके साथ पूर्व भव का सम्बन्ध है। सुनिये, मैं इनके पूर्व भव सुनाता हूं।'

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में एक वत्सकावती देश है उसमें प्रभाकारी नाम की एक सुन्दर नगरी है। वहां के राजा का नाम नरपाल था। नरपाल सतत आरम्भ-परिग्रह में लीन रहता था; इसलिये वह मर कर पंकप्रभा नाम के नरक में नारकी हुआ। वहां दश सागर पर्यन्त अनेक दु:ख भोगता रहा फिर वहां से निकल कर उसी नगरी के पास में विद्यमान एक पर्वत पर

शार्दूल हुआ। किसी समय उस पर्वत पर वहां के तात्कालिक राजा प्रीतिवर्धन अपने छोटे भाई के साथ ठहरे हुए थे। राज-पुरोहित ने उनसे कहा-यदि आप इस पर्वत पर मुनिराज के लिये आहार देवें तो विशेष लाभ होगा। जब राजा ने पुरोहित से कहा कि इस निर्जन पहाड़ पर कोई मुनि आहार के लिये क्यों आयेगा, तब उसने कहा कि आप नगरी की समस्त रास्ताएं सुगन्धित जल से सिंचवा कर उन पर ताजे फूल बिछवा दें अर्थात् नगरी को इस तरह सजवा दें कि जिससे कोई निर्ग्रंथ मुनि उसमें प्रवेश न कर सकें। क्योंकि वे अप्रासुक भूमि पर एक कदम भी नहीं रखते। तब कोई मुनि आहार के लिये नगरी में न जाकर इसी ओर आयेंगे सो आप पड़गाह कर उन्हें विधिपूर्वक आहर दे सकते हैं। राजा प्रीतिवर्धन ने पुराहित के कहे अनुसार ऐसा ही किया जिससे पिहितास्रव नाम के मुनि नगरी को विहार के अयोग्य समझ कर 'वन में आहार मिलेगा तो लेंगे अन्यथा नहीं' ऐसा संकल्प कर उस पर्वत की ओर गये जहां पर राजा प्रीतवर्धन मुनिराज की प्रतीक्षा कर रहे थे। मुनिराज को आते हुए देख कर राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक पड़गाहा और उत्तम आहार दिया। पात्रदान से प्रभावित होकर देवों ने वहां पर रत्नों की वर्षा की। रत्नों को बरसते देख कर मुनिराज पिहितास्रव ने राजा से कहा- 'ऐ धरारमण! दान के वैभव से बरसती हुई रत्न-धारा को देख कर जिसे जाति स्मरण हो गया है ऐसा एक शार्दूल इसी पर्वत पर सन्यासवृत्ति धारण किये हुए है सो तुम उसकी योग्य रीति से परिचर्या करो। वह आगे चलकर भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ का प्रथम पुत्र सम्राट भरत होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। मुनिराज के कहे अनुसार राजा ने जाकर उस शार्दूल की खूब परिचर्या की और मुनिराज ने स्वयं पंच नमस्कार मंत्र सुनाया जिससे वह अठारह दिन बाद समता परिणामों से मर कर ऐशान स्वर्ग के दिवाकरप्रभ विमान में दिवाकर देव हुआ। पात्रदान के तात्कालिक अभ्युदय से चकित होकर प्रीतिवर्धन राजा के सेनापति, मंत्री और पुरोहित ने भी अत्यन्त शान्त परिणामों से राजा के द्वारा दिये गये मुनिदान की अनुमोदना की जिसके प्रभाव से तीनों मरकर कुरुक्षेत्र के उत्तम भोगभूमि में आर्य हुए और वहां की आयु पूर्ण कर ऐशान स्वर्ग के प्रभा, कांचन और रूषित नाम के विमान में क्रम से प्रभाकर, कनकाभ और प्रभन्जन नाम के देव हुए। जब आप ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव थे तब ये सब आपके परिवार के देव थे। वहां से चय कर वह शार्दूल

का जीव दिवाकर देव श्रीमती और सागर का लड़का होकर मतिवर नाम का आपका मंत्री हुआ है। कनकप्रभ का जीव, अनन्तमति और श्रुतकीर्ति का सुपुत्र होकर आपका आनन्द नामधारी पुराहित हुआ है। प्रभाकर का जीव, अजीव और अपराजित सेनानी का पुत्र होकर अकंपन नाम से प्रसिद्ध आपका सेनापति हुआ है और प्रभन्जन का जीव धनदत्ता एवं धनदत्ता पुत्र होकर धनमित्र नाम से प्रसिद्ध आपका सेठ हुआ है। बस, इस प्रर्वभव के बन्धन से ही आपका इनमें और इनका आप में अधिक स्नेह है। इस तरह मुनिराज के मुख से मतिवर आदि का परिचय पाकर श्रीमती और वज्रजंघ बहुत ही प्रसन्न हुए।

उन निर्जन वन में राजा और मुनिराज के बीच जब यह सम्वाद चल रहा था, तब वहां नेवला, शार्दूल, बन्दर और सुअर ये चार जीव मुनिराज के चरणों में अनिमेष दृष्टि लगाये हुए बैठे थे। वज्रजंघ ने कौतुकवश मुनिराज से पूछा-हे तपोनिधे! ये नकुल आदि चार जीव आपकी ओर टकटकी लगाये क्यों बैठे हैं? तब उन्होंने कहा- ''सुनिये, यह व्याघ्र पहले इसी देश में शोभायमान हस्तिनापुर में धनवती और सागरदत्त नामक वैश्य दम्पति के उग्रसेन नाम का पुत्र था। यह क्रोधी बहुत था, इसलिए इसने अपने जीवन में तिर्यंच आयु का बन्ध कर लिया था। उग्रसेन वहां के राजभण्डार का प्रधान कार्यकर्त्ता था इसलिए वह दूसरे छोटे नौकरों को दबाकर भण्डार से घी चावल आदि वस्तुएं वेश्याओं के लिए दिया करना था। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसने उसे पकड़वा कर खूब मार लगवाई जिससे वह मर यह व्याघ्र हुआ है।''

यह सुअर पूर्वभव में विजय नगर के वसन्तसेना और महानन्द नाम का राज-दम्पति का हरिवाहन नामक प्रसिद्ध पुत्र था। हरिवाहन अधिक अभिमानी था, वह अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता था। यहां तक कि पिता वगैरह गुरुजनों की भी आज्ञा नहीं मानता था। एक दिन इसके पिता ने इसे कुछ आज्ञा दी जिसे न मानकर इसने पत्थर के खम्भे से अपना सिर फोड़ लिया और उसकी व्यथा से मरकर यह सुअर हुआ है।

यह बन्दर अपने पहले भव में धान्य नगर के सुदत्ता और कुबेर नामक वैश्य-दम्पति का नागदत्त नाम से प्रसिद्ध पुत्र था। यह बड़ा मायावी था, इसका चित्त सदा छल-कपट करने में लगा रहता था। किसी समय इसकी मां ने

अपनी छोटी लड़की के विवाह के लिए दुकान में से कुछ धन ले लिया जिसे यह नहीं देना चाहता था। इसने मां से धन लेने के लिए अनेक उपाय किये पर वे सब निष्फल हुए। अन्त में इसी दु:ख से मरकर यह बन्दर हुआ है।

और यह नेवला भी पहले भव में सुप्रतिष्ठित नगर में कादम्बिक नाम का पुरुष था। कादम्बिक बहुत लोभी था। किसी समय वहां के राजा ने जिन-मन्दिर बनवाने के काम पर इसे नियुक्त किया। सो यह ईंट लाने वाले पुरुषों को कुछ धन देकर बहुत कुछ ईंटें अपने घर में डलवाता जाता था। भाग्यवश इन्हीं ईंटों में से इसे सोने की शलाकायें मिल गयीं जिससे इसका लोभ और भी अधिक बढ़ गया। कादम्बिक को एक दिन अपनी लड़की की ससुराल जाना पड़ा सो मन्दिर के काम पर बदले में वह अपने पुत्र को नियुक्त कर गया था और उससे कह भी गया था कि मौका पाकर कुछ ईंटें अपने घर पर भिजवाते जाना। परन्तु पुत्र ने यह पाप का काम नहीं किया। जब कादम्बिक लौटकर वापिस आया और मालूम हुआ कि लड़के ने हमारे कहे अनुसार घर पर ईंटें नहीं डलवाई हैं तब उसने उसे खूब पीटा और साथ में 'यदि ये पांव न होते तो मैं लड़की की ससुराल भी न जाता' ऐसा सोचकर अपने पांव भी काट लिये। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसने इसे खूब पिटवाया जिससे वह मरकर नेवला हुआ है।

आज अपने जो मुझे आहार दिया है उसका वैभव देखने से इन सबको अपने पूर्व भवों का स्मरण हो गया है जिससे ये सब अपने कुकर्मों पर पश्चाताप कर रहे हैं। इन सब ने आज पात्रदान की अनुमोदना से विशेष पुण्य का संचय किया है; इसलिए ये सब मरकर उत्तर भोग-भूमि कुरुक्षेत्र में पैदा होवेंगे। ये सब आठ भवों तक आपके साथ स्वर्ग एवं मनुष्यों के सुख भोगकर संसार-बन्धन से मुक्त हो जावेंगे। हां, और इस श्रीमती का जीव आपके तीर्थ में दान-तीर्थ को चलानेवाला श्रेयांसकुमार होगा तथा उसी पर्याय से मोक्षश्री प्राप्त करेगा।''

इसी तरह मुनिराज के सुभाषण से राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती को जो आनन्द हुआ था उसका वर्णन करना कठिन है। दोनों राज-दम्पति मुनिराज को नमस्कार कर अपने खेमे की ओर चले आये और मुनि-युगल भी अनन्त आकाश में विहार कर गये। वज्रजंघ ने वह दिन उसी सरोवर के किनारे पर

बिताया। फिर कुछ दिनों तक चलने के बाद समस्त सेना और परिवार के साथ पुण्डरीकिणी पुरी में प्रवेश किया। वहां उन्होंने शोक से आक्रान्त लक्ष्मीमति और बहिन अनुन्दरी को समझाकर बालक, पुण्डरीक का राज्य-तिलक किया तथा जब तक पुण्डरीक, राज्य-कार्य संभालने के लिये योग्य न हो जावे, तब तक के लिये विश्वस्त वृद्ध मंत्रियों के हाथ में राज्य का भार सौंप दिया। इस तरह कुछ दिन पुण्डरीकिणी पुरी में रहकर वज्रजंघ परिवार और सेना के साथ अपने उत्पलखेट नगर को लौट आये। प्रजा ने राजा वज्रजंघ के शुभागमन के उपलक्ष में राजधानी की खूब सजावट की थी।

एक दिन रात के समय जिस शयनागर में वज्रजंघ और रानी श्रीमती सो रहे थे, उसमें सब ओर चन्दन आदि की सुगन्धित धूप का धुंवा फैल रहा था। दुर्भाग्य से उस दिन वहां की खिड़कियां खोलना नौकर भूल गया था जिससे वह धुंवा वहीं संचित होता रहा। उसी संचित धुंए से राज-दम्पति का श्वास अचानक रूक गया और वे दोनों सदा के लिए सोते रह गये। जब सवेरे राजा और रानी की आकस्मिक मृत्यु का समाचार नगर में फैला तब समस्त नगरवासी हाहाकार करने लगे। सभी ओर शोक के चिन्ह दिखाई देन लगे। अन्त:पुर की स्त्रियों के करुण विलाप से आकाश गूंज उठा। पर किया क्या जाता? होनहार अमिट थी। अब पाठकों को अधिक न रुलाकर आगे एक सुन्दर क्षेत्र में लिए चलता हूँ।

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से उत्तर की ओर एक उत्तर कुरु नाम का सुहावना क्षेत्र है। वह क्षेत्र खूब हरा भरा रहता है। वहां दस तरह के कल्पवृक्ष हैं जो कि वहां के मनुष्यों को हर एक प्रकार की खाने, पीने, पहनने, रहने आदि की सुन्दर सामग्री दिया करते हैं। वहां स्वच्छ जल से भरे हुए सुन्दर सरोवर हैं। जिनमें बड़े-बड़े सुन्दर कमल फूल रहे हैं। वन की भूमि हरी-हरी घास से शोभायमान है। वहां के नर-नारियों तथा पशु-पक्षियों की तीन पल्य प्रमाण आयु होती है और जीवन भर कभी किसी को कोई बीमारी नहीं है। होती। यदि संक्षेप में वहां के मनुष्यों के सुखों का वर्णन पूछा जावे तो यही उत्तर पर्याप्त होगा कि वहां के मनुष्यों को जो सुख है वह कहीं पर नहीं हैं और जो सब जगह है उससे बढ़कर वहां है। जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित उत्तम-पात्र मुनियों के लिये भक्ति से आहार

देते हैं वे ही मरकर वहां जन्म लेते हैं। वज्रजंघ और श्रीमती ने भी पुण्डरीकिणी पुरी को जाते समय सरोवर के तटपर मुनि-युगल के लिये आहार दान दिया था; इसलिए वे दोनों मरकर ऊपर कहे हुए उत्तर कुरुक्षेत्र में उत्तम आर्य और आर्या हुए। जिनका कथन पहले कर आये हैं वे नेवला, व्याघ्र, सूअर और बन्दर भी उसी कुरुक्षेत्र में आर्य हुए। कारण कि उन सबने मुनिदान की अनुमोदना की थी। वहां पर वे सब मनवांछित भोग-भोगते हुए सुख से रहने लगे।

इधर उत्पलखेट नगर में वज्रजंघ के विरह से मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन पहले तो बहुत दु:खी हुए, फिर अन्त में दृढ़धर्म नामक मुनिराज के पास में जिनदीक्षा धारण कर उग्र तपश्चर्या के प्रभाव से अधो ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हए।

एक दिन उत्तर कुरुक्षेत्र में आर्य और आर्या, जो कि वज्रजंघ और श्रीमती के जीव थे, कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे कि इतने में वहां पर आकाश मार्ग से विहार करते हुए दो मुनिराज पधारे। आर्य-दम्पति ने खड़े होकर उनका स्वागत किया और चरणों में नमस्कार कर पूछा,-हे मुनीन्द्र! आप लोगों का क्या नाम है? कहां से आ रहे हैं? और इस भोगभूमि में किसलिये घूम रहे हैं? आपकी शान्त मुद्रा देखकर हमारा हृदय भक्ति से उमड़ रहा है। कृपा कर कहिये, आप कौन हैं? यह सुनकर उन मुनियों में जो बड़े मुनि थे वे बोले,-आर्य! पूर्व-काल में तम महाबल थे, तब मैं आपका स्वयंयुद्ध नाम का मंत्री था। मैंने ही आपको जैन-धर्म का उपदेश दिया था। जब आप बाईस दिन का सन्यास समाप्त कर स्वर्ग चले गये थे तब आपके विरह से दु:खी होकर मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली थी, जिसके प्रभाव से मैं आयु के अन्त में मरकर सौधर्म स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ था। वहां से चयकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह सम्बन्धी पुष्कलावती देश में स्थित पुण्डरीकिणी नगरी में सुन्दरी और प्रियसेन नाम के राज-दम्पति के प्रीतिंकर नाम से प्रसिद्ध ज्येष्ठ पुत्र हुआ हूँ। मैं प्रीतिदेव नामक अपने छोटे भाई के साथ अल्पवय में ही स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षित हो गया था। तीव्र तप के प्रभाव से हम लोगों को आकाश में चलने की शक्ति और अवधिज्ञान प्राप्त हो गया है। जब मुझे अवधिज्ञान से मालूम हुआ कि आप यहां पर उत्पन्न हुए हैं तब मैं आपको धर्म का स्वरूप

समझाने के लिये यहां आया हूँ। यह दूसरा मेरा छोटा भाई प्रीतिदेव है। हे भव्य! विषयाभिलाषा की प्रबलता से महाबल पर्याय में तुम्हें निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ था; इसलिये आज निर्मल दर्शन को धारण करो। यह दर्शन ही संसार के समस्त दु:खों को दूर करता है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों तथा दयामय धर्म का सच्चे दिल से विश्वास करना सो सम्यग्दर्शन है। हमेशा नि:शंक रहना भोगों से उदास रहना, ग्लानि का जीतना, विचार कर कार्य करना, दूसरों के दोष छिपाना, गिरते हए को सहारा देना, धर्मात्माओं से प्रेम रखना और सम्यग्ज्ञान का प्रचार करना-ये उसके आठ अंग हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव उसके गुण हैं। इस तरह आर्य को उपदेश देकर प्रीतिंकर महाराज ने आर्या से भी कहा-अम्बे! 'मैं स्त्री हूँ, इसलिये यह कुछ नहीं कर सकती'- यह सोचकर दु:खी मत होओ। सम्यग्दर्शन तो प्राणी मात्र का धर्म है; उसे हर कोई धारण कर सकता है।

मुनिराज के उपदेश से आर्य और आर्या ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी आत्माओं को निर्मल सम्यग्दर्शन से विभूषित किया। काम पूर्ण हो जाने के बाद मुनिराज आकाश-मार्ग से विहार कर गये। कुछ समय बाद आयु पूर्ण होने पर वज्रजंघ का जीव आर्य ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ और श्रीमती आर्या का जीव उसी स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में स्वयंप्रभ नाम का देव हुआ। शार्दूल व्याघ्र का जीव उसी स्वर्ग के चित्रांगद विमान में चित्रांगद नाम का, सुअर का जीव नन्द विमान में मणिकुण्डली नाम का, वानर का जीवन नन्द्यावर्त विमान में मनोहर नाम का और नेवले का जीव प्रभाकर विमान में मनोरथ नाम का देव हुआ। वहां ये सब पुण्य के प्रताप से अनेक तरह के भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे। किसी समय स्वयंबुद्ध मंत्री के जीव प्रीतिंकर मुनिराज को, जिसने अभी उत्तर कुरुक्षेत्र में आर्य आर्या को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराया था, श्रीप्रभ पर्वत पर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। सभी देव उनकी वंदना के लिये गये। श्रीधर देव ने भी जाकर अपने गुरु केवली भगवान प्रीतिंकर को भक्तिसाहित नमस्कार किया। और फिर धर्म का स्वरूप सुनने के बाद पूछा- 'भगवन्! महाबल के भव में जो मेरे सम्भिन्नमति, शतमति और महामति नाम के तीन मिथ्यादृष्टि मंत्री थे वे अब कहां पर हैं? उन्होंने कहा कि सम्भिन्नमति और महामति निगोद-राशि

में उत्पन्न होकर अचिन्त्य दु:ख भोग रहे हैं और शतमति मिथ्याज्ञान के प्रभाव से दूसरे नरक में कष्ट पा रहा है। जो जैसा कार्य करता है, वैसा ही फल पाता है।

यह सुनकर श्रीधर देव को बहुत ही दु:ख हुआ। वह संभिन्नमति और महामति के विषय में तो कर ही क्या सकता था? हां, पुरुषार्थ से शतमति को सुधार सकता था; इसलिये झट से दूसरे नरक में गया। वहां अवधिज्ञान से शतमति मंत्री के जीव नारकी को पहिचान कर उससे कहने लगा-'क्यों महाशय! आप मुझे पहचानते हैं? मैं विद्याधरों का राजा महाबल का जीव हूँ। मिथ्याज्ञान के कारण आपको ये नरक के तीव्र दु:ख प्राप्त हुए हैं। अब यदि इनसे छुटकारा चाहते हो तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अपने आपको अलंकृत करो। श्रीधर के उपदेश से नारकी शतमति ने शीघ्र ही सम्यग्दर्शन धारण कर लिया। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उसका समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। श्रीधर देव कार्य की सफलता से प्रसन्नचित्त होता हुआ अपने स्थान पर वापिस लौट आया। वह शतमति का जीव नारकी भी नरक की आयु पूर्णकर पुष्करार्थ द्वीप के पूर्वार्ध भाग में विशोभित पूर्व विदेह सम्बन्धी मंगलावती देश में स्थित रत्न संचय नगर में रहनेवाले सुन्दरी और मनोहर नामक राज-दम्पति के जयसेन नाम का पुत्र हुआ। जिस समय जियसेन का विवाह होनेवाला था उसी समय श्रीधर देव ने जाकर समझाया और नरक के समस्त दु:खों की याद दिलाई। जिससे उसने विरक्त होकर यमधर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली। और कठिन तपश्चर्या के प्रभाव से मर कर पांचवें स्वर्ग में ब्रह्मेन्द्र हुआ। ब्रह्मेन्द्र ने जब अवधिज्ञान से अपने उपकारी श्रीधर देव का परिचय प्राप्त किया तब उसने उसके पास जाकर विनम्र और मीठे शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की।

कुछ समय बाद श्रीधर देव स्वर्ग से चय कर जम्बूद्वीप के पर्व विदेह सम्बन्धी महा वत्सकावती देश में स्थिल सुमीसा नगरी के सुदृष्टि और सुनन्दा नामक राजदम्पति के सुविधि नामक पुत्र हुआ। वह सुविधि बहुत ही भाग्यशाली और बुद्धिमान लड़का था। अभयघोष चक्रवर्ती उसके मामा थे। चक्रवर्ती के मनोहरा नाम की एक सुन्दरी कन्या थी जो सचमुच में मनोहरा ही थी। राजा सुदृष्टि ने योग्य अवस्था देख कर सुविधि का विवाह मनोरमा

के साथ करवा दिया जिससे वे दोनों विविध भोगों को भोगते हुए सुख से समय बिताने लगे। कुछ समय बाद राज्य का भार सुविधि को सौंप कर राजा सुदृष्टि मुनि हो गये। सुविधि राज्य-कार्य में बहुत ही कुशल पुरुष था जिससे उसकी धवलकीर्ति चारों ओर फैल गई थी और समस्त शत्रुओं की सेना अपने आप वश में हो गई थी।

काल पाकर राजा सुविधि के केशव नाम का पुत्र हुआ। राजा सुविधि का वज्रजंघ पर्याय में जो श्रीमती का जीव था वह भोगभूमि के सुख भोग चुकने के बाद दूसरे स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में स्वयंप्रभ नामक देव हुआ था। वही जीव राजा सुविधि के केशव नाम का पुत्र हुआ था। पूर्व भव के संस्कार से राजा का उस पर अधिक स्नेह रहता था। शार्दूल का जीव चित्रांगद भी स्वर्ग से चयकर इसी देश में विभीषण राजा की प्रियदत्ता पत्नी से वरदत्त नाम का पुत्र हुआ। सुअर का जीव मणिकुण्डली देव अनन्तमति और नन्दिषेण नामक राज-दम्पति के वरसेन नाम का पुत्र हुआ। वानर का जीव मनोहर देव चन्द्रमति और रतिषेण नामक राज-दम्पति के चित्रांगद नाम का देव हुआ। और नकुल का जीव मनोरथ देव चित्रमालिनी और प्रभन्जन नामक राज-दम्पति के मदन नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

कुछ समय बाद चक्रवर्ती अभयघोष ने अठारह हजार राजाओं के साथ विमलवाहन नामक मुनिराज के पास जिनदीक्षा ले ली। वरदत्त, वरसेन, चित्रांगद और मदन भी चक्रवर्ती के साथ दीक्षित हो गये थे। पर राजा सुविधि का अपने पुत्र केशव पर अधिक स्नेह था; इसलिये वे घर छोड़कर मुनि न हो सके किन्तु उत्कृष्ट श्रावक के व्रत रखकर घर पर ही धर्म-सेवन करते रहे। और आयु के अन्त समय में महाव्रत धारण कर कठिन तपस्या के प्रभाव से सोलहवें अच्युत स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुए। पिता के वियोग से दु:खी होकर केशव ने भी जिनदीक्षा की शरण ली। वह आयु के अन्त में मर कर उसी स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ। तथा वरदत्त आदि राज-पुत्र भी अपनी तपस्या के प्रभाव से उसी स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। इन सभी की विभूति इन्द्र के समान थी। वहां अच्युतेन्द्र की बाईस सागर प्रमाण आयु थी। बाईस हजार वर्ष बीत जाने पर आहार की अभिलाषा होती थी, सो शीघ्र ही कण्ठ

में अमृत झर जाता था, बाईस पक्ष में एक बार श्वासोच्छ्वास होता था। उसका शरीर तीन हाथ ऊंचा था, वह सोने-सा चमकता था। मन में इन्द्राणी का स्मरण होते ही उसकी काम-सेवन की इच्छा शान्त हो जाती थी। कहने का मतलब यह है कि वह हर एक तरह से सुखी था।

आयु के अन्त में वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग से चय कर जम्बूद्वीप-सम्बन्धी पूर्व विदेह में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में श्रीकान्त और वज्रसेन नामक राज-दम्पति के पुत्र हुआ। वहां उसका वज्रनाभि था। वरदत्त, वरसेन, चित्रांगद और मदन जो कि अच्युत स्वर्ग में सामानिक देव हुए थे, वहां से चयकर क्रम से वज्रनाभि के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के लघु सहोदर (छोटे भाई) हुए और केशव जो कि सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था वहां से चयकर इसी पुण्डरीकिणी पुरी में कुबेरदत्त तथा अनन्तमती नामक वैश्य दम्पति के धनदेव नाम का लड़का हुआ। वज्रनाभि के वज्रजंघ भव में जो मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन नाम के मंत्री, पुरोहित, सेठ और सेनापति थे वे मरकर अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए थे। अब वे भी वहां से चयकर वज्रनाभि के भाई हुए। वहां उनके सुबाहु, महाबाहु, पीठ और महापीठ नाम रखे थे। इस तरह ऊपर कहे हुए दशों बालक एक साथ खेलते, बैठते, उठते, लिखते और पढ़ते थे क्योंकि उन सबका परस्पर में बहुत प्रेम था। राज-पुत्र वज्रनाभि का शरीर पहले-सा सुन्दर था। पर जवानी के आने पर वह और भी अधिक सुन्दर मालूम होने लगा था। उस समय उसकी लम्बी और स्थूल भुजाएं, चौड़ा सीना, गम्भीर नयन तथा तेजस्वी चेहरा देखते ही बनता था। एक दिन वज्रनाभि के पिता वज्रसेन महाराज संसार के विषयों से उदास होकर वैराग्य का चिन्तवन करने लगे उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनके विरक्त विचारों का समर्थन किया जिससे उनका वैराग्य और भी अधिक बढ़ गया। अन्त में वे ज्येष्ठ पुत्र वज्रनाभि को राज्य देकर हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये और कठिन तपस्याओं से केवलज्ञान प्राप्त कर अपनी दिव्य वाणी से पथ-भ्रान्त पुरुषों को सच्चा मार्ग बतलाने लगे और कुछ समय बाद आठों कर्मों को नष्ट कर मोक्ष पहुँच गये। इधर वज्रनाभि की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ जिसमें एक हजार आरे थे और जो कान्ति से सहस्त्र-किरण सूर्य-सा चमकता था। चक्ररत्न को आगे कर राजा वज्रनाभि दिग्विजय के लिए निकले और

कुछ समय बाद दिग्विजयी होकर लौट आये। अब वज्रनाभि चक्रवर्ती कहलाने लगे थे। उनका प्रताप और यश सब ओर फैल रहा था। उस समय वहां उनसा सम्पत्तिशाली पुरुष दूसरा नहीं था। जो केशव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से चयकर उस पुण्डरीकिणी पुरी में कुबेरदत्त और अनन्तमती नामक वैश्य-दम्पति के धनदेव नाम का पुत्र हुआ था। वह वज्रनाभि का गृहपति नामक रत्न हुआ। इस प्रकार नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी सम्राट वज्रनाभि का समय सुख से बीतने लगा। किसी समय महाराज वज्रनाभि का चित्त संसार से विरक्त हो गया। जिससे वे अपने पुत्र वज्रदंत को राज्य का भार सौंपकर सोलह हजार राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ तीर्थंकर देव के समीप दीक्षित होकर तपस्या करने लगे। वज्रनाभि ने वहीं पर दर्शन-विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतों में अतिचार नहीं लगाना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, संवेग, शाक्त्यानुसार तप और त्याग, साधु समाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि- मार्ग-प्रभावना और प्रवचन-वात्सल्य-इन सोलह भावनाओं का चिंतवन किया जिससे उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त समय में वे श्रीप्रभ नामक पर्वत की शिखर पर पहुँचे और वहां शरीर से ममत्व छोड़कर आत्म-समाधि में लीन हो गये। जिसके फलस्वरूप नश्वर देह को छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तेतीस सागर प्रमाण थी और शरीर एक हाथ ऊँचा सफेद रंग का था। वे कभी संकल्प मात्र से प्राप्त हुए जल, चन्दन आदि से जिनेन्द्र देव की पूजा करते और कभी अपनी इच्छा से पास में आये हुए अहमिन्द्रों के साथ तत्व चर्चाएं करते थे। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें आहार की अभिलाषा होती थी सो भी तत्काल कण्ठ में अमृत झर जाता था जिससे फिर उतने ही समय के लिए निश्चिन्त हो जाते थे। उनका श्वासोच्छ्वास भी तेतीस पक्ष में चला करता था। संसार में उन जैसा सुखी कोई दूसरा नहीं था। यह अहमिन्द्र ही आगे चलकर कथानायक भगवान वृषभनाथ होगा। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सुबाहु, महाबाहु, बाहु, पीठ, महापीठ और धनदेव भी, जो इन्हीं के साथ दीक्षित हो गये थे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए थे। इन सबका वैभव वगैरह भी अहमिन्द्र वज्रनाभि के समान था। ये सभी भगवान

वृषभदेव के साथ मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पूर्वभव परिचय

घनाक्षरी छंद

आदि जै वर्मा दूजै, महाबल भूप तीजै,
स्वर्ग ईशान ललितांग देव भयो है।
चौथे वज्रजंघ राय, पांचवें युगल देह,
सम्यक हो दूजे देवलोक फिर गयो है॥
सातवें सुविधि देव, आठवें अच्युत इन्द्र,
नौमें भो नरीन्द्र वज्रनाभि नाम पायो है।
दशमें अहमिन्द्र जान, ग्यारमें ऋषभभान
नाभिवंश भूधर के माथे जन्म लियो है॥

–भूधरदास

भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्या मुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।

(त.सू)

आचार्य भगवन् उमास्वामी ने कहा है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के द्वारा क्रम से वृद्धि और हानि होती रहती है–जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलाएं दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में लोगों की कला, विद्या, आयु आदि वस्तुएं बढ़ती जाती हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का परिवर्तन होता रहता है। उनके छह भेद हैं–1. दु:षमा दु:षमा, 2. दु:षमा, 3. दु:षमा सुषमा, 4. सुषमा दु:षमा, 5. सुषमा एवं 6. सुषमा सुषमा– यह क्रम उत्सर्पिणी का है। अवसर्पिणी का क्रम इससे उल्टा होता है। ये दोनों मिलकर कल्पकाल कहलाते हैं। जिसका प्रमाण बीस कोड़ा-कोड़ी सागर है।

अभी इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल का संचार हो रहा है। उसके सुषमा सुषमा नामक पहले भेद का समय चार कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसके प्रारम्भ में मनुष्य उत्तर कुरु के मनुष्यों के समान होते थे।

वहां पर जीवों की आयु तीन पल्य की होती है, शरीर की ऊंचाई छह हजार धनुष की होती है। वहां के लोगों का रंग सोने-सा चमकीला होता है और वे तीन-तीन दिन बाद थोड़ा-सा आहार लेते हैं। फिर क्रम-क्रम से हानि होने पर दूसरा सुषमा काल आता है जिसका प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसके प्रारम्भ में मनुष्य हरिविर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की भांति होते हैं; उनकी आयु दो पल्य की और शरीर की ऊंचाई चार हजार धनुष की होती है। वे दो दिन बाद थोड़ा-सा आहार लेते हैं; उनका शरीर शंख के समान श्वेत वर्ण का होता है। फिर क्रम से हानि होने पर तीसरा सुषमा-दु:षमा काल आता है जिसका प्रमाण दो कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसके प्रारम्भ में मनुष्य हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की भांति होते हैं; वे एक पल्य तक जीवित रहते हैं, उनका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा होता है, वे एक दिन बाद थोड़ा आहार लेते हैं और उनके शरीर का रंग नील कमल के समान नीला होता है। फिर क्रम से हानि होने पर चौथा दु:षमा सुषमा काल आता है जिसका प्रमाण ब्यालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ा-कोड़ी सागर है। इसके प्रारम्भ काल में मनुष्य विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के सदृश होते हैं। उनके शरीर की ऊंचाई पांच सौ धनुष की और आयु एक करोड़ वर्ष की होती है। वे दिन में एक दो बार आहार करते हैं। फिर क्रम से हानि होने पर पांचवां दु:षमा काल आता है जिसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊंचाई पहले से बहुत कम हो जाती है; यहां तक कि साढ़े तीन हाथ ही रह जाती है; आयु भी बहुत कम हो जाती है। उस समय के लोग दिन में कई बार खाने लगते थे, फिर क्रम से परिवर्तन होने पर दु:षमा-दु:षमा नाम का छट्ठा काल आता है जिसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। छट्ठे काल में लोगों की अवगाहना शरीर की ऊंचाई एक हाथ की रह जाती है, आयु बिल्कुल थोड़ी रह जाती है और शरीर भी कुरूप होने लगते हैं। इसी तरह उत्सर्पिणी के भी छह भेद होते हैं और उनका प्रमाण भी दस कोड़ा-कोड़ी सागर का है; परन्तु इनका क्रम अवसर्पिणी के क्रम से विपरीत होता है। जब यहां अवसर्पिणी का क्रम पूरा हो चुकेगा तब उत्सर्पिणी का संचार होगा।

हमें जिस समय का वर्णन करना है उस समय यहां अवसर्पिणी का तीसरा सुषमा-दु:षमा काल चल रहा था। तीसरे काल में यहां जघन्य भोगभूमि जैसी रचना थी। कल्पवृक्षों के द्वारा ही मनुष्यों की आवश्यकताएं

पूर्ण हुआ करती थीं। स्त्री और पुरुष साथ में उत्पन्न होते थे और वे सात सप्ताह में पूर्ण यौवन प्राप्त हो जाते। उस समय कोई किसी बात के लिए दु:खी नहीं था, सभी मनुष्य एकसमान वैभववाले थे, कोई किसी के आश्रित नहीं था, सभी स्वतंत्र थे। पर ज्यों-ज्यों तीसरा काल बीतता गया त्यों-त्यों ऊपर कही हुई बातों में न्यूनता आती गई। यहां तक कि तीसरे काल के अन्तिम पल्य में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुके थे।

स्त्री-पुरुषों का एक साथ उत्पन्न होना बन्द हो गया। पहले बालक-बालिकाओं के उत्पन्न होते ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी; पर जब वह प्रथा धीरे-धीरे बन्द होने लगी तब कल्पवृक्षों की कांति मन्द पड़ गयी और फिर धीरे-धीरे वे नष्ट भी हो गये। बिना बपन किये हुए अनाज पैदा होने लगा, सिंह व्याघ्र आदि पशु उपद्रव करने लगे। इन सब विचित्र परिवर्तनों से जब जनता घबराने लगी। तब क्रम से इस भारतवर्ष में प्रतिश्रुति 1, सन्मति 2, क्षेमंकर 3, क्षेमंधर 4, सीमंकर 5, सीमंधर 6, विमलवाहन 7, चक्षुष्मान 8, यशस्वी 9, अभिचन्द्र 10, चन्द्राभ 11, मरुदेव 12, प्रसेनजित 13 और 14 नाभिराज ये चौदह महापुरुष हुए। इन महापुरुषों ने अपने बुद्धि-बल से जनता का संरक्षण किया-इसलिए लोग इन्हें कुलकर कहते थे। यहां पर चौदहवें कुलकर नाभिराज का कुछ वर्णन करना अनावश्यक नहीं होगा; क्योंकि कथानायक भगवान वृषभनाथ का इनके साथ विशेष सम्बन्ध रहा है।

यहां जब भोगभूमि की रचना मिट चुकी थी और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी तब अयोध्या नगरी में अन्तिम कुलकर नाभिराज का जन्म हुआ था। ये स्वभाव से ही परोपकारी, मृदुभाषी और प्रतिभाशाली पुरुष थे। इनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी और शरीर की ऊंचाई पांच सौ पच्चीस धनुष की थी। इनके मस्तक पर बन्धा हुआ सोने का मुकुट बड़ा ही भव्य मालूम होता था। इनके काल में जन्म के समय बालक की नाभि में नाल दिखाई देने लगी थी। महाराज नाभिराज ने उस नाल के काटने का उपाय बतलाया था इसलिए उनका 'नाभि...' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था। इन्हीं के समय में आकाश में श्यामल मेघ दिखने लगे थे और उनमें इन्द्रधनुष की विचित्र आभा छिटकने लगी थी। कभी उन मेघों में मृदंग के शब्द जैसा सुन्दर शब्द सुनाई पड़ता और कभी बिजली चमकती थी। वर्षा होने से पृथ्वी

की शोभा अपूर्व हो गई थी। कहीं सुन्दर निर्झर कलरव करते हुए बहने लगे थे, कहीं पहाड़ों की गुफ़ाओं से इठलाती हुईं नदियां बहने लगी थीं, कहीं मेघों की गर्जना सुनकर वनों में मयूर नाचने लगे थे, आकाश में सफ़ेद बगुले उड़ने लगे थे और समस्त पृथ्वी पर हरी-हरी घास उत्पन्न हो गई थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो पृथ्वी हरी साड़ी पहिन कर नवीन अभ्यागत पावस ऋतु का स्वागत करने के लिए ही उद्यत हुई हो। उस वर्षा से खेतों में अपने आप तरह-तरह की धान्य के अंकुर उत्पन्न होकर समय पर योग्य फल देने वाले हो गये थे। इस प्रकार उस समय यद्यपि भोग-उपभोग की समस्त सामग्री मौजूद थी, परन्तु उस समय की प्रजा उसे काम में लाना नहीं जानती थी; इसलिये वह उसे देख कर भ्रम में पड़ गई थी। अब तक भोगभूमि बिल्कुल मिट चुकी थी और कर्म-युग का प्रारम्भ हो गया था, परन्तु लोग कर्म करना जानते नहीं थे; इसलिये वे भूख प्यास से दु:खी होने लगे।

एक दिन चिन्ता से आकुल हुए समस्त प्राणी महाराज नाभिराज के पास पहुँचे और उनसे दीनता पूर्वक प्रार्थना कर कहने लगे-महाराज! आपके उदय से अब मनचाहे फल देनेवाले कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं; इसलिए हम सब भूख प्यास से व्याकुल हो रहे हैं, कृपाकर जीवित रहने का कुछ उपाय बतलाइये। नाथ! देखिये, कल्पवृक्षों के बदले ये अनेक अन्य वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जो फल के भार से नीचे झुक रहे हैं। इनके फल खाने से हम लोग मर तो न जावेंगे? और ये खेतों में कई तरह के छोटे-छोटे पौधे लगे हुए हैं जो बालों के भार से झुकने के कारण ऐसे मालूम होते हैं मानो अपनी जननी महीदेवी को नमस्कार ही कर रहे हों। कहिए, ये सब किसलिए पैदा हुए हैं? महाराज! आप हम सबके रक्षक हैं, बुद्धिमान हैं, इसलिए इस संकट के समय हमारी रक्षा कीजिए। प्रजा के ऐसे दीनता भरे वचन सुनकर नाभिराज ने मधुर वचनों से सबको सन्तोष दिलाया और युग के परिवर्तन का हाल बताते हुए कहा कि भाइयों! कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर भी ये साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे जैसा कि पहले कल्पवृक्ष किया करते थे। देखो, ये खेतों में अनेक तरह के अनाज पैदा हुए हैं; इनके खाने से आप लोगों की भूख शांत हो जावेगी और इन सुन्दर कुएं, बावड़ी, निर्झर आदि का पानी पीने से तुम्हारी प्यास मिट जावेगी। इधर देखो, ये लम्बे-लम्बे गन्ने के पेड़ दिख रहे हैं जो बहुत ही मीठे हैं, इन्हें दातों अथवा यंत्र से पेलकर इनका

रस पीना चाहिये। और इस ओर देखो, इन गाय भैंसों के स्तनों से सफ़ेद-सफ़ेद मीठा दूध झर रहा है इसे पीने से शरीर पुष्ट होता है और भूख मिट जाती है। इस तरह दयालु महाराज नाभिराज ने उस दिन प्रजा को जीवित रहने के सब उपाय बतलाये तथा हाथी के गणस्थल पर थाली आदि कई तरह के मिट्टी के बर्तन बना कर दिये एवं आगे इसी तरह का बनाने का उपदेश भी दिया। नाभिराज के मुख से यह सब सुनकर प्रजाजन बहुत ही प्रसन्न हुए और उनके द्वारा बतलाये हुए उपायों को अमल में लाकर सुख से रहने लगे।

पहले लोग बहुत ही भद्र परिणामी होते थे; इसलिये उनसे किसी प्रकार का अपराध नहीं होता था। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों लोगों के परिणाम कुटिल होते गये और वे अपराध करने लगे; इसलिये नाभिराज ने और उनके पहले कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों को दण्ड देने के लिए दण्ड-विधान भी चलाया था। प्रारम्भ के पांच कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों को 'हा' इस तरह शोक प्रकट-रूप दण्ड देना शुरू किया था। उनके बाद पांच कुलकरों ने 'हा' शोक प्रकट करना तथा 'मा' अब ऐसा नहीं करना ये दो दण्ड चलाये थे और उनसे पीछे के कुलकरों ने 'हा' 'मा' 'धिक्' ये तीन प्रकार के दण्ड चलाये थे।

नाभिराज की स्त्री का नाम मरुदेवी था। मरुदेवी के उत्कर्ष के विषय में उसके नख-शिख का वर्णन न कर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसके समान सुन्दरी और सदाचारिणी स्त्री पृथ्वीतल पर न हुई है, न है, और न होगी। राजा नाभिराज की राजधानी अयोध्यापुरी थी। राज-दम्पति अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए बड़े आनन्द से वहां रहते थे और नये-नये उपायों से प्रजा का पालन करते थे। अब यहां पर यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वज्रभाभि चक्रवर्ती जो कि 'सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए थे कुछ समय बाद वहां से चयकर इन्हीं राज-दम्पति के पुत्र होंगे और वृषभनाथ नाम से प्रसिद्ध होंगे। ये वृषभनाथ ही इस युग के प्रथम तीर्थंकर कहलावेंगे।

सर्वार्थसिद्धि में ज्यों-ज्यों वज्रनाभि अहमिन्द्र की आयु कम होती जाती थी त्यों-त्यों तीनों लोकों में आनन्द बढ़ता जाता था। यहां तक कि, वहां उनकी आयु केवल छः माह की बाकी रह गई तब इन्द्र की आज्ञा से धनपति

कुबेर ने राजधानी अयोध्या के समीप ही एक दूसरी अयोध्या नगरी बनाई। वह नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। नगरी के बाहर चारों ओर अगाध जल से भरी हुई सुन्दर परिखा थी जिसमें कई रंगों के कमल फूले हुए थे और उन कमलों की पराग से उस परिखा का पानी पिघले हुए सुवर्ण की तरह जान पड़ता था। उसके बाद सुवर्णमय कोट बना हुआ था। उस कोट की शिखरें बहुत ऊंची थीं। कोट के चारों ओर चार गोपुर बने हुए थे जिनकी गगनचुम्बी शिखरों पर मणिमय कलशें ऐसे मालूम होते थे मानो उदयाचल की शिखरों पर सूर्य के बिम्ब ही विराजमान हों। उस नगरी में जगह-जगह विशाल जिन-मन्दिर बने हुए थे जिनमें जिनेन्द्र देव की रत्नमयी प्रतिमाएं पधराईं गईं थीं। कहीं स्वच्छ जल से भरे हुए तालाब दिखाई देते थे। उन तालाबों में कमल फूल खिल रहे थे और उन पर मधु के पीने से मत्त हुए भौरें मनोहर शब्द करते थे। कहीं अगाध जल से भरी हुईं वापिकाएं नजर आती थीं जिनके रत्न-खचित किनारों पर हंस, सारस आदि पक्षी क्रीड़ा किया करते थे। कहीं आम, नींबू, अमरूद, अनार, जम्बीर, आदि के पेड़ों से विशोभित बड़े-बड़े बगीचे बनाये गये थे जिनमें तरह-तरह के फूलों की सुगन्धि फैल रही थी। कहीं अच्छे-अच्छे बाजार बने हुए थे जिनमें हीरा, मोती, पन्ना आदि मणियों के ढेर लगाये जाते थे। कहीं सेठ साहूकारों के बड़े-बड़े महल बने हुए थे जिनकी शिखरों पर कई तरह के रत्न जड़े हुए थे। किसी सुन्दर जगह में राजभवन बने हुये थे जिनकी ऊंची शिखरें आकाश के अन्तस्थल को भेदती हुई आगे चली गई थीं। कविवर अर्हद्दास ने ठीक ही लिखा है-कि जिसके बनने में इन्द्र सूत्रधार हो और देवलोग स्वयं कार्य करनेवाले हों उस अयोध्या नगरी का वर्णन कहां तक किया जा सकता है? सचमुच उन नव-निर्मित अयोध्या के सामने इन्द्र की अमरावती बहुत ही निकृष्ट मालूम होती थी।

एक दिन शुभमुहूर्त में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने सब देवों के साथ आकर उस नवीन नगरी में महाराज नाभिराज और मरुदेवी का राज्याभिषेक कर उन्हें राजभवन में ठहराया। उसी दिन सब अयोध्यावासियों को भी नवीन अयोध्या में प्रवेश कराया जिससे उसकी आभा बहुत ही विचित्र हो गयी थी। इसके बाद वे देव लोग कई तरह के कौतुक दिखलाकर अपने-अपने स्थानों पर

चले गये।

जब तक मनुष्य भोग लालसाओं में लीन रहते हैं तब तक उनके हृदय में धर्म की प्रभावना दृढ़ नहीं होने पाती, पर जैसे-जैसे भोग लालसाएं घटती जाती हैं वैसे ही उनमें धर्म की भावना दृढ़ होती जाती है। इस भारत वसुन्धरा पर जब से कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ तब से लोगों के हृदय भोग-लालसाओं से बहुत कुछ विरक्त हो चुके थे; इसलिए वह समय उनके हृदयों में धर्म का बीज वपन करने के लिए सर्वथा योग्य था। उस समय संसार को ऐसे देवदूत की आवश्यकता थी जो सृष्टि के विश्रृंखल, अव्यवस्थित लोगों को श्रृंखलाबद्ध व्यवस्थित बनावे, उन्हें कर्तव्य का ज्ञान करावे और उनके सुकोमल हृदय-क्षेत्रों में धर्मकल्पवृक्ष के बीज वपन करे। वह महान् कार्य किसी साधारण मनुष्य से नहीं हो सकता था, उसके लिये तो किसी ऐसे महात्मा की आवश्यकता थी जिसका व्यक्तित्व बहुत ही बढ़ा चढ़ा हो, जिसका हृदय अत्यन्त निर्मल और उदार हो। उस समय वज्रनाभि चक्रवर्ती का जीवन जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद पर आसीन था, इस महान् कार्य के लिए उद्यत हुआ। देवताओं ने उसका सहर्ष अभिवादन किया। यद्यपि उसे अभी भारत-भूपर आने के लिए कुछ समय बाकी था तथापि उसके पुण्य परमाणु सब ओर फैल गये थे। सबसे पहले देवों ने उस महात्मा के स्वागत के लिए भव्य नगरी का निर्माण किया और फिर उसमें प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार करोड़ों रत्नों की वर्षा की थी।

एक दिन महारानी मरुदेवी गंगा जल के समान स्वच्छ वस्त्र से शोभित शैय्या पर शयन कर रही थी। उस समय सरयू नदी की तरल तरंगों के आलिंगन से शीतल हुई हवा धीरे-धीरे बह रही थी, इसलिए वह सुख की नींद सो रही थी। जब रात पूर्ण होना चाहती थी तब उसने आकाश में नीचे लिखे सोलह स्वप्न देखे 1 ऐरावत हाथी, 2 सफेद बैल, 3 गरजता हुआ सिंह, 4 लक्ष्मी, 5 दो मालाएं, 6 चन्द्रमण्डल, 7 सूर्यबिम्ब, 8 सुवर्ण के दो कलश, 9 तालाब में खेलती हुई दो मछलियां, 10 निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर, 11 लहराता हुआ समुद्र, 12 रत्नों से जड़ा हुआ सिंहासन, 13 देवों का विमान, 14 नागेन्द्र भवन, 15 रत्नराशि और 16 निर्धूम अग्नि। स्वप्न देखने के बाद उसने अपने मुंह में प्रवेश करते हुए कुन्द पुष्प के समान श्वेत

वर्णवाला एक बैल देखा। इतने में रात पूर्ण हो गई, पूर्व दिशा में लाली छा गई और राज-मन्दिर में बाजों की मंगल ध्वनि होने लगी। बाजों की ध्वनि तथा बन्दीजनों के स्तुति भरे वचनों से मरुदेवी की नींद खुल गई। वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करती हुई शैय्या से उठी तो, अभूतपूर्व स्वप्नों का स्मरणकर आश्चर्य-सागर में निमग्न हो गई। जब उसे बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी स्वप्नों के फल का पता न चला तब वह शीघ्र ही नहा-धोकर प्रस्तुत हुई और बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिनकर सभा-मण्डप की ओर गई। महाराज नाभिराज ने हृदयवल्लभा मरुदेवी का यथोचित सत्कार कर उसे योग्य आसन पर बैठाया और मधुर वचनों से कुशल-प्रश्न पूछ चुकने के बाद उसके राजसभा में आने का कारण पूछा। मरुदेवी ने विनयपूर्वक रात में देखे हुए स्वप्न राजा से कहे और उनके फल जानने की इच्छा प्रकट की। नाभिराज को अवधिज्ञान था इसलिए वे सुनते ही स्वप्नों का फल जान गये थे। जब मरुदेवी अपनी जिज्ञासा प्रकट कर चुप हुई तब महाराज नाभिराज बोले।

"देवि! ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हारे एक अत्यन्त उत्कृष्ट पुत्र होगा, बैल के देखने से वह समस्त संसार का अधिपति होगा, सिंह के देखने से वह अत्यन्त पराक्रमी होगा, लक्ष्मी के देखने से अत्यन्त वैभवशाली होगा, दो मालाओं के देखने से धर्म-तीर्थ का कर्त्ता होगा, पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाला होगा, सूर्य को देखने से तेजस्वी होगा, सोने के कलश देखने से निधियों का स्वामी होगा, मछलियों के देखने से अनन्त सुखी और सरोवर के देखने से उत्तम लक्षणों से भूषित होगा, समुद्र के देखने से सर्वदर्शी और सिंहासन के देखने से स्थिर साम्राज्यवान् होगा, देव-विमान देखने से वह स्वर्ग से आवेगा, नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञानी, रत्नों की राशि देखने से गुणों की खानि और निर्धूम अग्नि के देखने से वह कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाला होगा तथा स्वप्न देखने के बाद जो तुमने मुंह में प्रवेश करते हुए सफेद बैल को देखा है उससे मालूम होता है कि तुम्हारे गर्भ में किसी देव ने अवतार लिया है।"

जब राजा नाभिराज मरुदेवी के स्वप्नों का फल बतला रहे थे तब देवों

के आसन अकस्मात् कम्पायमान हुए जिससे उन्हें तीर्थंकर वृषभनाथ के गर्भारोहण का निश्चय हो गया। इन्द्र की आज्ञानुसार दिक्कुमारियां तथा श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि देवियां जिनमाता महारानी मरुदेवी की सेवा के लिये आ गईं। इन्द्र आदि समस्त देवों ने आकर अयोध्यापुरी में खूब उत्सव किया और वस्त्र आभूषण आदि से राजा नाभिराज और मरुदेवी का खूब सत्कार किया। जो रत्नों की धारा गर्भाधान के छह माह पहले से बरसती थी वह गर्भ के दिनों में भी वैसी ही बरसती रही। इस तरह आषाढ़ शुक्ला द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि से चय कर महादेवी मरुदेवी के गर्भ में स्थान पाया। जब तीर्थंकर गर्भ में आये थे तब तीसरे सुषमा-दुःषमा काल के चौरासी लाख पूर्व तथा चार वर्ष साढ़े पांच माह बाकी थे।

मरुदेवी की सेवा के लिए जो दिक्कुमारियां तथा श्री, ह्री आदि देवियां आई थीं उन्होंने सबसे पहले स्वर्गलोक से आई हुई दिव्य औषधियों से उनका गर्भ-शोधन किया और फिर निरन्तर गर्भ की रक्षा तथा उसके पोषण में दत्तचित्त रहने लगीं। वे देवियां मरुदेवी की हर प्रकार से सेवा करने लगीं। कोई शरीर में तैल का मर्दन करती थी, कोई उबटन लगाती थी, कोई नहलाती थी, कोई चन्दन कपूर कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगाती थी, कोई बालों को सम्भाल कर उन्हें सुगन्धित फूलों से सजाती थी, कोई उत्तम वस्त्र पहिनाती थी, कोई कंकण, केयूर, मंजीर आदि अनेक प्रकार के आभूषण पहिनाती थी, कोई अमृत के समान अत्यन्त मधुर भोजन कराती थी, कोई सिर पर छत्र लगाती थी, कोई उत्तम ताम्बूल के बीड़े समर्पण करती थी, कोई रत्नों के चूर्ण से चौंक पूरती थीं, कोई तलवार लेकर पहरा देती थी, कोई आँगन बुहारती थी और कोई मनोहर कविताओं, कहानियों, और पहेलियों और समस्याओं के द्वारा उनका चित्त अनुरंजित करती थी। इस तरह देवियों के साथ नृत्य गीत आदि विनोदों के द्वारा मरुदेवी का समय सुख से बीतता था। उस समय की विचित्र बात यह थी कि गर्भ के दिन तो बीतते जाते थे, पर उनके शरीर में गर्भ के कुछ भी चिन्ह प्रकट नहीं हुए थे। न पेट बढ़ा था, न मुख की कान्ति फीकी पड़ी थी, न आंखों और स्तनों में भी कुछ परिवर्तन हुआ था।

जब धीरे-धीरे गर्भ का समय पूरा हो गया तब चैत्र कृष्ण नवमी के दिन उत्तम लग्न में प्रातः काल के समय मरुदेवी ने पुत्र-रत्न प्रसव किया। उस समय वह पुत्र सूर्य के समान मालूम होता था, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य उदयाचल से प्राची दिशा में प्रकट होता है उसी प्रकार वह भी महाराज नाभिराज से महारानी मरुदेवी में प्रकट हुआ था। जिस तरह सूर्य किरणों से प्रकाशमान होता है तथा अन्धकार नष्ट करता है उसी तरह वह भी मति, श्रुति, अवधि ज्ञानरूपी-किरणों से चमक रहा था और अज्ञान-तिमिर को नष्ट करता था। बालक-रूपी बाल-सूर्य को देखकर दवांगनाओं के नयन-कमल विकसित हो गये थे और उनसे हर्षाश्रु-रूपी मकरन्द झरने लगा था। बालक की अनुपम प्रभा से समस्त प्रसूति-गृह अन्धकार-रहित हो गया था; इसलिये देवियों ने जो दीपक जलाये थे वे केवल मंगल के लिए ही थे। उस समय तीनों लोकों में उल्लास मच गया था। कुछ क्षण के लिये नारकी भी सुखी हो गये थे। दिशाएं निर्मल हो गयी थीं, आकाश निर्मेघ हो गया था, नदी तालाब आदि का पानी स्वच्छ हो गया था, सूर्य की कान्ति फीकी पड़ गई थी, मन्द सुगन्धित पवन बह रही थी। वन में एक साथ छहों ऋतुओं की शोभा प्रकट हो गई थी; घर-घर उत्सव मनाये जा रहे थे, जगह-जगह पर लय और ताल के साथ सुन्दर संगीत हो रहे थे, मृदंग, वीणा आदि बाजों के मधुर शब्द समस्त गगन में गूंज रहे थे, मकानों की शिखरों पर कई रंग की पताकाएं फहराई गई थीं, सड़कों पर सुगन्धित जल सींचकर चन्दन छिड़का गया था और उत्तम-उत्तम फूल बिखेरे गये थे और आकाश से तरह-तरह के रत्न तथा मन्दार, सुन्दरनमेरु, पारिजात, सन्तान आदि वृक्षों से फूल बरस रहे थे। इन सबसे अयोध्यापुरी की शोभा बड़ी ही विचित्र मालूम होती थी। उस समय वहां ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं था जिसका हृदय तीर्थंकर बालक की उत्पत्ति सुनकर आनन्द से उमड़ न रहा हो। देव, दानव, मृग, मानव, आदि सभी प्राणियों के हृदयों में आनन्द-सागर लहरा रहा था।

बालक के पुण्य प्रताप से भवनवासी देवों के भवन में बिना बजाये ही शंख बजने लगे थे। व्यन्तरों के भवनों में भेरी का शब्द होने लगा था। ज्योतिषियों के विमान सिंहनाद से प्रतिध्वनित हो उठे थे और कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टाओं का सुन्दर शब्द होने लगा था। जगद्गुरु जिनेन्द्र देव के सामने किसी दूसरे का राज्य सिंहासन सुदृढ़ नहीं रह सकता, मानो यह

प्रकट करते हुए ही देवों के आसन हिल गये थे। जब इन्द्र हजार आंखों से भी आसन हिलने का कारण न जान सका तब उसने अवधिज्ञान-रूपी लोचन खोला जिससे वह शीघ्र ही समझ गया कि अयोध्यापुरी में श्रीमहाराज नाभिराज के घर प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। यह जानकर इन्द्र ने शीघ्रतापूर्वक सिंहासन से उठ अयोध्यापुरी की ओर सात कदम जाकर तीर्थंकर बालक को परोक्ष नमस्कार किया। फिर भगवान के जन्माभिषेक-महोत्सव में अनुगमन करने के लिए प्रस्थान-भेरी बजवाई। भेरी का गम्भीर शब्द, चिरकाल से सोये हुए समीचीन धर्म को जगाते हुए के समान, तीनों लोकों में फैल गया था; प्रस्थान-भेरी की ध्वनि सुन समस्त देव-सेनाएं अपने अपने आवासों से निकलकर स्वर्ग के गोपुर-द्वार पर इन्द्र की प्रतीक्षा करने लगीं। सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भी इन्द्राणी के साथ ऐरावत हाथी पर बैठकर समस्त देव सेनाओं के साथ-साथ अयोध्यापुरी की ओर चला। रास्ते में अनेक सुर-नर्तकियां नृत्य करती जाती थीं। सरस्वती वीणा बजाती थी, गन्धर्व गाते थे और भरताचार्य नृत्य की व्यवस्था करते जाते थे। उस समय परस्पर के आघात से टूट-टूट कर नीचे गिरते हुए माला के मणि ऐसे मालूम पड़ते थे मानो ऐरावत आदि हाथियों के पाद-संचार से चूर्ण हुए नक्षत्रों के टुकड़े ही हों। धीरे-धीरे वह देव-सेना आकाश से नीचे उतरी और अयोध्यापुरी की तीन प्रदक्षिणाएं देकर उसे चारों ओर से घेरकर आकाश में स्थित हो गई। इन्द्र-इन्द्राणी आदि कुछ प्रमुख जन नाभिराज के भवन पर पहुँचे और तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसके भीतर प्रविष्ट हुए। वहां राजमन्दिर की अनूठी शोभा देखकर इन्द्र बहुत ही हर्षित हुआ। जिन-बालक को लाने के लिए इन्द्र ने इन्द्राणी को प्रसूति-गृह में भेजा और स्वयं आंगण में खड़ा रहा। वहां जब इन्द्राणी की दृष्टि माता के पास शयन करते हुए जिन-बालक पर पड़ी तब उसका हृदय आनन्द से भर गया। इन्द्राणी ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर वह मरुदेवी को मायामयी निद्रा से अचेत कर उसके समीप माया-निर्मित एक बालक सुलाकर जिन-बालक को बाहर ले आई। उस समय उनके आगे-आगे दिक्कुमारियां अष्ट मंगल लिए हुए चल रही थीं, कोई जय-जय शब्द कर रहीं थीं और कोई मनोहर मंगल-गीत गा रही थीं। इन्द्राणी ने जिन-बालक को ले जाकर इन्द्र को सौंप दिया। कहते हैं कि इन्द्र

दो आंखों से बालक का सौंदर्य देखकर सन्तुष्ट नहीं हो सका था; इसलिए उसने उसी समय विक्रिया से हजार आंखे बना ली थीं। पर कौन कह सकता है कि वह हजार आंखों से भी उन्हें देखकर सन्तुष्ट हुआ होगा? उस समय देव-सेना में जय-जयकार शब्द के सिवाय और कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता था। सौधर्म इन्द्र ने उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाया और स्वयं उन्हें गोद में लेकर अपने हाथों से आश्रय देता रहा। उस समय बालक वृषभनाथ के सिर पर ऐशान स्वर्ग का इन्द्र धवल छत्र लगाये हुए था। सनत्कुमार और महेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनों चमर ढोर रहे थे तथा अवशिष्ट इन्द्र और देव जय जयकार कर रहे थे। इसके अनन्तर वह विशाल सेना आकाश-मार्ग से मेरुपर्वत की ओर चली और धीरे-धीरे चलकर निन्यानवे हजार योजन उच्च मेरुपर्वत पर पहुँच गई। मेरु पर्वत की शिखर पर जो पाण्डुक वन है उसमें देव-सेना को ठहराकर देवराज इन्द्र उस वन के ईशान दिशा की ओर गया। वहां उसकी दृष्टि पाण्डुक-शिला पर पड़ी। वह शिला स्फटिक मणियों से बनी हुई थी, देखने में अर्धचन्द्र-सी मालूम होती थी, पचास योजन चौड़ी, सौ योजन लम्बी और आठ योजन ऊंची थी। उसके बीच भाग में एक रत्न-खचित सोने का सिंहासन रखा था और उस सिंहासन के दोनों ओर दो सिंहासन और रखे हुए थे। इन्द्र ने वहां पर वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए वस्त्रों से एक सुन्दर मण्डप तैयार करवा कर उसे अनेक तरह के रत्न और चित्रों से सजवाया था। इसके अनन्तर इन्द्र ने जिन-बालक को ऐरावत हाथी के गण्डस्थल से उतार कर बीच के सिंहासन पर विराजमान कर दिया तथा बगल के दोनों आसनों पर सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्र बैठे। इन दोनों इन्द्रों के समीप से लेकर क्षीर-समुद्र तक देवों की दो पंक्तियां बनी हुई थी जो वहां से जल से भरे कलश हाथों-हाथ इन्द्रों के पास पहुँचा रही थीं। दोनों इन्द्रों ने विक्रिया से हजार-हजार हाथ बना लिये थे; इसलिये उन्होंने एक साथ हजार कलशे लेकर बालक का अभिषेक किया। जिन-बालक में जन्म से ही अतुल्य बल था; इसलिये वे उस विशाल प्रचण्ड जलधारा से रंचमात्र भी व्याकुल नहीं हुए थे। यदि वह प्रचण्ड धारा किसी वज्रमय पर्वत पर पड़ती तो वह भी खण्ड-खण्ड हो जाता, पर वह प्रचण्ड जलधारा जिनेन्द्र-बालक पर फूलों की कलिका से भी लघु मालूम पड़ती थी। जब अभिषेक का कार्य पूरा हो गया तब उत्तम वस्त्र से शरीर पोंछकर इन्द्राणी ने

उन्हें तरह-तरह के आभूषण पहिनाये। मनोहर शब्द और अर्थ से भरे हुए अनेक स्तोत्रों के द्वारा देवराज ने उनकी खूब स्तुति की। भक्ति से भरी हुई देव-नर्तकियों ने सुन्दर अभिनय-नृत्य किया और समस्त देवों ने उनका जन्म-कल्याणक देखकर अपनी देव-पर्याय को सफल समझा था। 'ये बालक वृष (धर्म) से शोभायमान हैं'-ऐसा देखकर इन्द्र ने उनका नाम वृषभनाथ रखा। इस तरह इन्द्र आदि देवमण्डल मेरुपर्वत पर अभिषेक महोत्सव समाप्त कर पुनः अयोध्या को वापिस आये और वहां उन्होंने जिन-बालक को माता की गोद में देकर अभिषेक-विधि के सब समाचार कह सुनाये। जिससे उनके माता-पिता आदि परिवार के लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। उसी समय इन्द्र ने 'आनन्दोद्यत' नाम का नाटक किया था जिसमें उसने अपनी अनूठी नृत्य-कला के द्वारा समस्त दर्शकों के चित्त को मोहित कर लिया था। फिर विक्रिया से बालक वृषभदेव के महाबल आदि दश पूर्व भवों का दृश्य परिचय कराया। महाराज नाभिराज ने भी दिल खोल कर पुत्रोत्पत्ति के उपलक्ष्य में अनेक उत्सव किये थे। उस समय अयोध्यापुरी की शोभा एवं सजावट के सामने कुबेर की अलकापुरी और इन्द्र की अमरावती भी बहुत फीकी मालूम होती थी। जन्माभिषेक का महोत्सव पूरा कर देव और देवेन्द्र अपने-अपने स्थानों पर चले गये। जाते समय इन्द्र, बालक के लालन-पालन में चतुर कुछ देव-कुमार और देव-कुमारियों को नाभिराज के भवन पर छोड़ गया था। वे देव-कुमार विक्रिया से अनेक रूप बना कर बालक का मनोरंजन करते थे और देव-कुमारियां तरह-तरह के उत्तम पदार्थों से उनका लालन-पालन करती थीं। कहते हैं कि इन्द्र ने तीर्थंकर बालक के हाथ के अंगूठे में अमृत छोड़ दिया था जिसे चूस-चूसकर वे बड़े हुए थे, उन्हें माता के दूध पीने की आवश्यकता नहीं हुई थी। बाल तीर्थंकर अपनी लीलाओं से सभी का मन हर्षित करते थे। उस समय ऐसा कौन होगा जो बालक की मन्द मुस्कान, तोतली बोली और मनोहर चेष्टाओं से प्रमुदित न हो जाता हो? उन्हें जन्म से ही मति, श्रुति और अवधिज्ञान था। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि उन्हें किसी गुरु से विद्या सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे अपने आप ही समस्त विद्याओं और कलाओं में कुशल हो गये थे। उनके अद्‌भुत पाण्डित्य के सामने अच्छे-अच्छे विद्वानों को अपना अभिमान छोड़ देना पड़ता था।

वे कभी विद्वान् मित्रों के साथ कोमल कान्त पदावली के द्वारा कविता की रचना करते थे; कभी अलंकार शास्त्र की चर्चा करते थे; कभी तरह-तरह की पहेलियों के द्वारा मन बहलाया करते थे, कभी न्याय शास्त्र की चर्चा से अभिमानी वादियों का मान भंग करते थे, कभी सुन्दर संगीत-सुधा का पान करते थे, कभी मयूर, तोता, हंस, सारस आदि पक्षियों की मनोहर चेष्टायें देख-देख कर प्रसन्न होते थे, कभी आए हुये प्रजाजन से मधुर वार्तालाप करते थे, कभी हाथी पर सवार होकर नदी, नद, तालाब, बगीचा आदि की सैर करते थे और कभी ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ कर प्रकृति की शोभा देखते थे। इस प्रकार राजकुमार वृषभनाथ ने सुखपूर्वक कुमारकाल व्यतीत कर तरुण अवस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर की शोभा तप्त काञ्चन की तरह बहुत ही भली मालूम होती थी। उनका शरीर नन्द्यावर्त आदि एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यजंनों से विभूषित था। उनका रुधिर दूध के समान श्वेत था, शस्त्र, पाषाण, धूप, सर्दी, वर्षा, विष, अग्नि, कंटक आदि कोई भी वस्तुयें उन्हें कष्ट नहीं पहुँचा सकती थीं। उनके शरीर से फूले हुए कमल-सी सुगन्ध निकलती थी। युवावस्था ने उनके अंग-प्रत्यंग में अपूर्व शोभा ला दी थी। यदि आप कवियों की वाणी को केवल कल्पना न समझते हों तो मैं कहूँगा कि उस समय निशानायक चन्द्रमा अपने कलंक को दूर करने के लिए भगवान का मुख बन गया था और उसकी स्त्री निशा अपना दोषा नाम हटाने के लिए उनके केश बन गई थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो वहां उत्पल (नयन-कुमुद) और उत्तम श्री (अधंकार की शोभा तथा उत्कृष्ट शोभा) कहां से आती? क्योंकि उत्पलों की शोभा चन्द्रमा के रहते हुए और अंधकार की शोभा रात के रहते हुए ही होती है। उनके गले में तीन रेखायें थीं जिनसे मालूम होता था कि वह गला तीनों लोकों में सबसे सुन्दर है। गले की सुन्दर आभा देखकर बेचारे शंख से न रहा गया और वह पराजित होकर समुद्र में डूब मरा। कोई कहते हैं कि उनका वक्ष:स्थल मोक्षस्थान था क्योंकि वहां पर शुद्ध दोषरहित मुक्ता (मोती) तथा मुक्त जीव विद्यमान थे। और कोई कहते हैं कि उनका वक्ष:स्थल हिमालय पर्वत था; क्योंकि उस पर मुक्ता-हार रूपी गंगा का प्रवाह पड़ रहा था। उनकी नाभि सरोवर के समान सुन्दर थी, उसमें मिथ्यात्वरूपी घाम से संतप्त धर्म-रूपी हस्ती डूबा हुआ था; इसलिए

उसके पास काली रोमराजि उस हस्ती की मद-धारा-सी मालूम होती थी। उनके कन्धे बैल के ककुद के समान अत्यन्त स्थूल थे। भुजायें घुटनों तक लम्बी थीं। उरू त्रिभुवन-रूप-भवन के मजबूत खम्भों के समान जान पड़ती थीं और चरण लाल कमलों की तरह मनोहर थे।

यह आश्चर्य की बात थी कि जो युवावस्था प्रत्येक मानव-हृदय पर विकार की छाप लगा देती है; उस युवावस्था में भी राजपुत्र वृषभनाथ के मन पर विकार के कोई चिन्ह प्रकट नहीं हुए थे। उनकी बालकों जैसी खुली हंसी और निर्विकार चेष्टायें उस समय भी ज्यों की त्यों विद्यमान थीं।

एक दिन महाराजा नाभिराय ने वृषभनाथ के बढ़ते हुए यौवन को देखकर उनका विवाह करना चाहा पर ज्योंहि उनकी निर्विकार चेष्टाओं और उदासीनता पर महाराज की दृष्टि पड़ी त्योंहि वे कुछ हिचक गये। उन्होंने सोचा-''इनका हृदय अभी से निर्विकार है-विकारशून्य है। जब ये बन्धन-मुक्त हाथी की नांई हठ से तप के लिए वन को चले जावेंगे, तब दूसरे की कन्या का क्या होगा?'' क्षणेक के लिये ऐसा विचार करने के बाद उनके दिल में आया कि 'संभव है, विवाह कर देने से संसार से ये कुछ परिचित हो सकेंगे; इसलिए सहसा वन को न भागेंगे और दूसरी बात यह भी है कि यह युग का प्रारम्भ है। इस समय के लोग बहुत भोले हैं, सृष्टि की व्यवस्था एक चाल से नहीं के बराबर है। लोग प्रायः एक दूसरे का अनुकरण करते है; अतएव इस युग में विवाह की रीति प्रचलित करना तथा सृष्टि को व्यवस्थित बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सम्भव है जब तक इनकी कालसन्धि (तप करने के योग्य समय की प्राप्ति) नहीं आई है तब तक ये विवाह-सम्बन्ध स्वीकार कर भी लेंगे।'' ऐसा सोचकर एक समय पिता नाभिराज वृषभनाथ के पास गये। वृषभनाथ ने पिता का उचित सत्कार किया। कुछ समय ठहरकर नाभिराज ने कहा-'हे त्रिभुवनपते'! यद्यपि मैं समझता हूँ कि आप स्वयंभू हैं- अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं, मैं आपकी उत्पत्ति में केवल उसी प्रकार निमित्त मात्र हूँ जिस प्रकार सूर्य की उत्पत्ति में उदयाचल होता है; तथापि निमित्त मात्र की अपेक्षा मैं आपका पिता हूँ इसलिए मेरी आज्ञा का पालन करना आपका कर्तव्य है। मुझे आशा है कि आप जैसे उत्तम पुत्र गुरुजनों की बातों का उल्लंघन नहीं करेंगे। मैं जो बात कहना चाहता हूँ वह

यह है कि इस समय आप लोक की सृष्टि की ओर दृष्टि दीजिये जिसमें आपको लोक की सृष्टि में प्रवृत्त हुआ देखकर दूसरे लोग भी उसमें प्रवृत्त होवें। इस समय मानव-समाज को सृष्टि का क्रम सिखलाने के लिए आप ही सर्वोत्तम हैं, आपका ही व्यक्तित्व सबसे ऊंचा है। इसलिए आप किसी योग्य कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दीजिये।" इतना कहकर नाभिराज जब चुप हो गये तब कुमार वृषभनाथ ने केवल मन्द मुस्कान से पिता के वचनों का उत्तर दिया। महाराज नाभिराज पुत्र की अनुमति पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय इन्द्र की सहायता से तैयारियां करनी शुरू कर दीं और किसी शुभमुहूर्त में राजा कच्छ और महाकच्छ की बहिनें यशस्वती तथा सुनन्दा के साथ विवाह कर दिया। यशस्वती और सुनन्दा के सौन्दर्य के विषय में विशेष न लिख कर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वे दोनों अनुपम सुन्दरी थीं। उस समय उन जैसी सुन्दरी स्त्रियां दूसरी नहीं थीं। कुमार के विवाहोत्सव में देव तथा देवराज सभी ने सहयोग दिया था। पुत्र-वधुओं को देख कर माता मरुदेवी का हृदय फूला न समाता था। उन दिनों अयोध्या में कई तरह के उत्सव मनाये गये थे। वे यशस्वती और सुनन्दा के साथ नाना तरह की क्रीडाएं करते हुए सुख से समय बिताने लगे।

एक दिन रात के समय यशस्वती महादेवी अपने महल की छत पर रत्नखचित पलंग पर सो रही थी। सोते समय उसने रात्रि के पिछले पहर में सुमेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र, कमल, मही-ग्रसन और समुद्र ये स्वप्न देखे। प्रातः होते ही मांगलिक बाजों तथा बन्दीजनों की स्तुतियों के मनोहर शब्दों से उसकी नींद खुल गई। जब वह सोकर उठी तब उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने स्वप्नों का फल जानने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किये पर जब सफलता न मिली तब नहा धोकर और सुन्दर वस्त्राभूषण पहिन कर युवराज वृषभनाथ के पास गई। उन्होंने उसका खूब सत्कार किया तथा अपने पास में ही सुवर्णमय आसन पर बैठाया। कुछ समय बाद उनसे महादेवी ने रात में देखे हुए स्वप्न कहे और उनका फल जानने की इच्छा प्रकट की। हृदयवल्लभा के वचन सुनकर युवराज वृषभनाथ ने हंसते हुए कहा-सुन्दरि! तुम्हारे मेरुपर्वत के देखने से चक्रवर्ती, सूर्य के देखने से प्रतापी, चन्द्रमा के

देखने से कान्तिवान्, कमल के देखने से लक्ष्मीवान्, मही-ग्रसन के देखने से समस्त वसुधा का पालक और समुद्र के देखने से गम्भीर हृदयवाला चरमशरीरी पुत्र उत्पन्न होगा। वह पुत्र इस इक्ष्वाकुवंश की कीर्ति-कौमुदी को प्रसारित करेगा और अपने अतुल्य भुजबल से भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का राज्य करेगा। पतिदेव के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर यशस्वती महादेवी बहुत ही हर्षित हुई। इसके अनन्तर व्याघ्र का जीव सुबाहु, जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वहां से चय कर यशस्वती के गर्भ में आया। धीरे-धीरे महादेवी के शरीर में गर्भ के चिन्ह प्रकट हो गये, समस्त शरीर रक्तहीन हो गया, स्तन-युगल स्थूल और कृष्ण वर्ण हो गये, मध्य भाग कृष हो गया और उदर वृद्धि को प्राप्त हो गया था। उस समय उसका मन श्रृंगार-चेष्टाओं से हट कर वीर चेष्टाओं में रमता था। वह शाणपर घिसी हुई तलवार में मुंह देखती थी, योद्धाओं के वीरता भरे वचन सुनती थी, धनुष की टंकार सुनकर अत्यन्त हर्षित होती थी, पिंजरे में बंद किये हुए सिंहों के बच्चों से प्यार करती थी और शूर-वीरों की युद्ध-कला देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती थी। महादेवी की उक्त चेष्टाओं से स्पष्ट मालूम होता था कि उसके गर्भ में किसी विशेष पराक्रमी पुरुष ने अवतार लिया है।

क्रम-क्रम से जब नौ महीने बीत चुके तब किसी शुभ लग्न में प्रातः काल के समय उसने एक तेजस्वी बालक को प्रसूत किया। उस समय वह बालक प्रतापी सूर्य के समान और यशस्वती देवी प्राची दिशा के समान मालूम होती थी। वह बालक अपनी भुजाओं से जमीन को छूता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये निमित्त-शास्त्र के जानकारों ने कहा था कि यह पुत्र सार्वभौम समस्त पृथ्वी का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होगा। पुत्र-रत्न की उत्पत्ति से युवराज वृषभदेव बहुत ही प्रसन्न हुए थे। मरुदेवी और नाभिराज के हर्ष का तो पार ही नहीं रहा था। उस समय अयोध्या में ऐसा कोई भी मानव नहीं था जिसे वृषभदेव के पुत्र की उत्पत्ति सुनकर हर्ष ने हुआ हो। सम्पूर्ण नगरी तरह-तरह की पताकाओं से सजाई गई थी, राजमार्ग सुगंधित जल से सींचे गये थे और उन पर सुगंधित फूल बिखेरे गये थे। प्रत्येक घर के आंगन में रत्नचूर्ण से चौक पूरे गये थे और अट्टालिकाओं में सारंगी, तबला आदि मनोहर बाजों के साथ संगीतचतुर पुरुषों के श्रुति-सुभग गान हुए थे। राजा नाभिराज ने जो दान दिया था उससे पराजित होकर कल्पवृक्ष,

कामधेनु और चिन्तामणि रत्न भी भूलोक छोड़ कहीं अन्यत्र जा छिपे थे। कच्छ, कहाकच्छ आदि राजाओं ने मिलकर पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और उसका 'भरत' नाम रखा। भरत अपनी बाल चेष्टाओं से माता-पिता का मन हर्षित करता हुआ बढ़ने लगा।

भगवान वृषभनाथ के वज्रजंघ भव में जो आनन्द नाम का पुरोहित था और क्रम-क्रम से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था वह कुछ समय बाद यशस्वती के वृषभसेन नाम का पुत्र हुआ। फिर क्रम-क्रम से सेठ धनमित्र, शार्दुलार्य, वराहार्य, वानरार्य और नकुलार्य के जीव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर उसी यशस्वती के क्रम से अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युतवीर और वरवीर नाम के पुत्र हुए। इस तरह भरत के बाद महादेवी यशस्वती से निन्यानवे पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। अब वृषभनाथ की दूसरी पत्नी सुनन्दा का हाल सुनिये।

एक दिन, रात के समय सुनन्दा ने भी उत्तम स्वप्न देखे जिसके फलस्वरूप उसके गर्भ में वज्रजंघ भव का सेनापति जो क्रम-क्रम से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, अवतीर्ण हुआ। नौ माह के बाद सुनन्दा ने बाहुबली नाम का पुत्र उत्पन्न किया। बाहुबली का जैसा नाम था, वैसे ही उसमें गुण थे। उसकी वीर चेष्टओं के सामने यशस्वति के समस्त पुत्रों को मुंह की खानी पड़ती थी। वृषभेश्वर की वज्रजंघ भव में अनुन्दरी नाम की बहिन थी, वह कुछ समय बाद उसी सुनन्दा के सुन्दरी नाम की पुत्री हुई। इस प्रकार युवराज वृषभनाथ का समय अनेक पुत्र-पुत्रियों के साथ सुख से व्यतीत होता था।

एक दिन महाराज वृषभेश्वर सभा भवन में स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे हुए थे, कई एक अमरकुमार चमर ढोर रहे थे, बन्दीगण गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक आदि की महिमा का व्याख्यान कर रहे थे; पास में ही देव, मनुष्य, विद्याधर आदि बैठै हुए थे। इतने में ब्राह्मी और सुन्दरी कन्यायें उनके पास पहुँची। कन्याओं ने पिता वृषभ को झुककर प्रणाम किया। वृषभदेव ने उन्हें उठा कर अपनी गोद में बैठा लिया और प्रेम से कुशल प्रश्न पूछा। पुत्रियों की विनयशीलता देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। उसी समय उन्होंने विद्या प्रदान के योग्य समझकर उन्हें विद्याप्रदान करने का निश्चय किया और

निश्चयानुसार वर्णमाला सिखलाने के बाद उन्होंने ब्राह्मी को गणितशास्त्र और सुन्दरी को व्याकरण, छंद तथा अलंकार शास्त्र सिखलाये। ज्येष्ठ पुत्र भरत के लिये अर्थशास्त्र और नाट्यशास्त्र, वृषभसेन के लिए संगीत-शास्त्र, अनन्तविजय को चित्रकला और घर बनाने की विद्या, बाहुबली को कामतंत्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, हस्तितंत्र, अश्वतंत्र तथा रत्न-परीक्षा आदि शास्त्र पढ़ाये। इसी तरह अन्य पुत्रों को भी लोकोपकारी समस्त शास्त्र पढ़ाये। उस समय अनेक शास्त्रों के जानकार पुत्रों से घिरे हुए युवराज तेजस्वी किरणों से उपलक्षित सूर्य के समान मालूम होते थे। इस तरह महान् पवित्र पुत्र और स्त्रियों के साथ विनोदमय जीवन बिताते हुए तीर्थंकर वृषभनाथ का बहुत कुछ समय क्षण भर के समान बीत गया।

यह पहले लिख आये हैं कि वह समय अवसर्पिणी काल का था; इसलिये प्रत्येक विषय में ह्रास ही ह्रास होता जाता था। कुछ समय पहले कल्पवृक्षों के बाद बिना बोयी हुई धान्य पैदा होती थी; पर अब वह नष्ट हो गई, औषधि वगैरह की शक्तियां कम हो गईं; इसलिए मनुष्य खाने पीने के लिए दु:खी होने लगे। सब ओर 'त्राहि-त्राहि' की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। जब लोगों को अपनी रक्षा का कोई भी उपाय नहीं सूझ पड़ा तब वे एकत्रित होकर महाराज नाभिराज की आज्ञानुसार राजा वृषभनाथ के पास पहुँचे और दीनता भरे वचनों में प्रार्थना करने लगे -"हे त्रिभुवनपते! हे दयानिधे! हम लोगों के दुर्भाग्य से कल्पवृक्ष तो पहले ही नष्ट हो चुके थे, पर अब रही सही धान्य आदि भी नष्ट हो गई है। इसलिए भूख-प्यास की बाधायें हम सबको अधिक कष्ट पहुँचा रही हैं। वर्षा, धूप और सर्दी से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। नाथ! इस तरह हम लोग कब तक जीवित रहेंगे? आप हम सबके उपकार के लिए ही पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुए हैं। आप विज्ञ हैं, समर्थ हैं, दया के सागर हैं, इसलिए जीविका के कुछ उपाय बतलाकर हमारी रक्षा कीजिए, प्रसन्न होइये।" इस तरह लोगों की आर्त वाणी सुनकर राजा वृषभदेव का हृदय दया से भर आया। उन्होंने निश्चय किया कि पूर्व-पश्चिम विदेहों की तरह यहां पर भी ग्राम शहर आदि का विभाग कर असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह कार्यों की प्रवृत्ति करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही लोग सुख से आजीविका कर सकेंगे। ऐसा निश्चय कर उन्होंने लोगों को आश्वासन दिया और इच्छानुसार समस्त

व्यवस्था कराने के लिए इन्द्र का स्मरण किया। उसी समय इन्द्र समस्त देवों के साथ अयोध्यापुरी आया और वृषभेश्वर के चरण-कमलों में प्रणाम कर आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। राजा वृषभदेव ने अपने समस्त विचार इन्द्र के सामने प्रकट किये। इन्द्र ने हर्षित हो मस्तक झुकाकर उनके विचारों का समर्थन किया और स्वयं देव परिवार के साथ सृष्टि की रचना करने के लिये तत्पर हो गया।

सबसे पहले उसने अयोध्यापुरी में चारों दिशाओं में बड़े-बड़े सुन्दर जिन-मन्दिरों की रचना की; फिर काशी- कौशल-कलिंग-कर्नाटक अंग-बंग-मगध-चोल-केरल-मालवा- महाराष्ट्र-सोरठ-आन्ध्र-तुरुष्क-कररसेन विदर्भ आदि देशों का विभाग किया। उन देशों में नदी-नहर-तालाब वन-उपवन आदि लोकोपयोगी सामग्री का निर्माण किया। फिर उन देशों के मध्य में परिखा कोट बगीचा आदि से शोभायमान गांव, पुर, खेट, कर्वट आदि की रचना की। उस समय पुर अर्थात् नगरों का विभाग करने वाले इन्द्र का पुरन्दर नाम सार्थक हो गया था। वृषभेश्वर की आज्ञा पाकर देवेन्द्र ने उन नगरों में प्रजा को ठहराया। प्रजाजन भी रहने के लिए ऊंचे-ऊंचे मकान पर रहकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। इन्द्र अपना कर्तव्य पूरा कर समस्त देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। एक दिन मौका पाकर वृषभदेव ने प्रजा के लोगों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना कर उन्हें उनके योग्य आजीविका के उपाय बतलाये। उन्होंने क्षत्रियों को धनुष-बाण तलवार आदि शस्त्रों का चलाना सिखलाकर दीन-हीन जनों की रक्षा का कार्य सौंपा। वैश्यों को देश-विदेशों में घूमकर तरह-तरह के व्यापार करना सिखलाये और शूद्रों को दूसरों की सेवा शुश्रूषा का काम सौंपा था। उस समय भगवान का आदेश लोगों ने मस्तक झुकाकर स्वीकार किया था जिससे सब ओर सुख-शान्ति विराजने लगी थी।

वृषभेश्वर ने सृष्टि की सुव्यवस्था की थी; इसलिए लोग उन्हें स्रष्टा-ब्रह्मा नाम से और उस युग को कृतयुग नाम से पुकारने लगे थे। जब कुमार आदिनाथ का प्रजा के ऊपर पूर्ण व्यक्तित्व प्रगट हो गया तब इन्द्र ने समस्त देवों के साथ आकर महाराज नाभिराज की सम्मतिपूर्वक उनका राज्यभिषेक किया। राज्याभिषेक के समय अयोध्यापुरी की खूब सजावट की

गई थी, गगनचुम्बी मकानों पर कई रंग की पताकाएं फहराई गई थीं। जगह-जगह पर तोरण द्वार बनाकर उनमें मणिमयी बन्धन-मालाएं बांधी गई थीं और सड़कें सुगन्धित जल से सींचकर उन पर हरी-हरी दूब बिछाई गई थी। जगद्गुरु आदिनाथ का राज्याभिषेक था और देव देवेन्द्र उसके प्रवर्तक थे; तब किसकी कलम में शक्ति है जो उस समय की शोभा का सविस्तार वर्णन कर सके?

मणिखचित सुवर्ण सिंहासन पर बैठे हुए कुमार आदिनाथ का तेजोमय मुख ठीक सूर्य के समान चमकता था। पास में खड़े हुए बन्दीगण मनोहर शब्दों में उनकी कीर्ति गा रहे थे। महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से उनके मस्तक पर राज्यपट्ट बांधा था। उस समय सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र चमर ढोर रहे थे और ईशान स्वर्ग का इन्द्र सिर पर छत्र लगाये हए था। सौधर्मेन्द्र ने सभास्थल में 'आनन्द' नाम का नाटक किया था जिसे देखकर समस्त देव, दानव, नर, विद्याधर आदि अत्यन्त हर्षित हुए थे। महाराज आदिनाथ ने पहले प्रभावक शब्दों में सुन्दर संभाषण दिया जिसमें धर्म, अर्थ, आदि पुरुषार्थों का स्पष्ट विवेचन किया गया था। फिर लघुता प्रगट करते हुए सृष्टि का भार अपने कंधों पर लिया-अर्थात् राज्य करना स्वीकार किया था। महाराज वृषभदेव का राज्याभिषेक समाप्त कर देव, देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

लोग वर्ण व्यवस्था से सुखमय जीवन बिताने लगे थे। पर काल के प्रभाव से लोगों के हृदय उत्तरोत्तर कुटिल होते जाते थे; इसलिए कभी कोई वर्ण-व्यवस्था के क्रम का उल्लंघन भी कर बैठते थे। वह क्रमोल्लंघन आदिनाथ को सह्य नहीं हुआ; इसलिए उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ख्याल रखते हुए अनेक तरह के दण्ड-विधान नियुक्त किये थे।

उन्होंने अपने अलावा सोमप्रभ, हरि, अकम्पन और काश्यप नाम के चार महा माण्डलिक राजाओं का भी राज्याभिषेक कराया था। उन चारों माण्डलिक राजाओं के प्रत्येक के चार हजार मुकुटबद्ध राजा अधीन थे। आदिनाथ ने इन राजाओं को अनेक प्रकार के दण्ड-विधान सिखला कर राज्य का भार सौंप दिया था और आप महा मण्डलेश्वर होकर सबकी देखभाल किया करते थे। महाराज आदिनाथ ने सोमप्रभ को 'कुरुराज' नाम से पुकारा

था और उनके वंश का नाम 'कुरुवंश' रखा था। हरि को 'हरिकान्त' नाम से सम्बोधित किया था और उनके वंश का नाम 'हरिवंश' रखा था। अकम्पन को 'श्रीधर' नाम से प्रख्यात किया था और उनके वंश का नाम 'नाथवंश' रखा था एवं कश्यम को 'मघवा' नाम से पुकारा था और उनके वंश का नाम 'उग्रवंश' रखा था। इसके उपरान्त कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं को भी वृषभेश्वर ने अच्छे-अच्छे देशों का राजा बना दिया था। अपने पुत्रों में ज्येष्ठ भरत को युवराज बनाया तथा शेष पुत्रों को भी योग्य पदों पर नियुक्त किया था।

महाराज वृषभनाथ ने समस्त मनुष्यों को इक्षु (ईख) के रस का संग्रह करने का उपदेश दिया था; इसलिये लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे थे। उन्होंने प्रजा-पालन के उपाय प्रचलित किये थे इसलिये उन्हें लोग 'प्रजापति' कहते थे। उन्होंने अपने वंशकुल का उद्धार किया था इसलिये लोग उन्हें 'कुलधर' कहते थे। वे काश्य अर्थात् तेज के अधिपति थे इसलिए लोग उन्हें 'काश्यप' कहते थे। वे कृतयुग के प्रारम्भ में सबसे पहले हुए थे इसलिये लोग उन्हें 'आदि ब्रह्मा' नाम से पुकारते थे। अधिक कहां तक कहें, उस समय की प्रजा ने उनके गुणों से विमुग्ध होकर कई तरह के सुन्दर-सुन्दर नाम रख दिये थे।

उनके राज्य काल में कभी किसी जगह परस्पर राजाओं में कलह नहीं हुई। सब देश खूब सम्पन्न थे; कहीं भी ईति भीति का डर नहीं था, सभी लोग सुखी थे। वहां का प्रत्येक प्राणी, राज राजेश्वर भगवान् वृषभदेव के राज्य की प्रशंसा किया करता था। इस तरह उन्होंने तिरेसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्य किया। उनका वह विस्तृत समय पुत्र-पौत्र आदि का सुख भोगते हुए सहज ही में व्यतीत हो गया था।

एक दिन महाराज वृषभदेव राजसभा में सुवर्ण सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनके आसपास में और भी अनेक राजा, सामन्त, पुरोहित, मंत्री आदि बैठे हुए थे। इतने में उपासना करने के लिये अनेक देव-देवियों के साथ सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र आया। आते समय इन्द्र सोचता आता था कि तीर्थंकर वृषभदेव अब तक सामान्य मनुष्यों की भांति विषय-वासना में फंसे हुए हैं। जब तक ये विषय-वासना से हटकर मुनिमार्ग में पदार्पण नहीं करेंगे तब तक संसार

का कल्याण होना मुश्किल है। इसलिये किसी भी उपाय से आज इन्हें विषय-भोगों से विरक्त बना देने का उद्योग करना चाहिये। ये सोचकर उसने राजसभा में एक नीलाञ्जना नामक अप्सरा को, जिसकी आयु अत्यन्त अल्प रह गई थी, नृत्य करने के लिये खड़ा किया। जब नीलाञ्जना नृत्य करते-करते क्षण भर में बिजली की भांति विलीन हो गई तब इन्द्रों ने रस में भंग न हो इसलिये उसी के समान रूप और वेष-भूषावाली दूसरी अप्सरा को नृत्य-स्थल में खड़ी कर दी। वह भी नीलाञ्जना की तहर हाव-भाव-पूर्वक मनोहर अभिनय दिखाने लगी। साधारण जनता को इन सब परिवर्तन का कुछ भी पता नहीं लगा; पर महाराज को दिव्य दृष्टि से यह रहस्य छिपा न रहा। वे नीलांजना के अदृश्य होते ही संसार से एकदम उदास हो गये। इन्द्र ने अपनी चतुराई से जो दूसरी अप्सरा खड़ी की थी, उसका उन पर कुछ भी असर नहीं हुआ। वे सोचने लगे-'कि यह शरीर हवा के वेग से कम्पित दीप-शिखा के समान नश्वर है, यह लक्ष्मी बिजली की चमक की तरह क्षणभंगुर है, यौवन संध्या की लाली के समान देखते-देखते नष्ट हो जाता है; और यह विषय-सुख समुद्र की लहरों के समान चंचल है। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य करती हुई यह कमलनयनी देवी भी जब आयु क्षीण हो जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुई है; तब दूसरा और कौन संसार में अमर होगा? देवों के सामने मनुष्यों की आयु ही कितनी है? यह लक्ष्मी विषराशि (समुद्र) से उत्पन्न हुई हैं; तब भी लोग इसे अमृत-सागर से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। जो शरीर इस आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह मिला हुआ है- सुख दु:ख में साथ देता है, वह भी जब समय पाकर आत्मा से न्यारा हो जाता है; तब बिल्कुल न्यारे रहने वाले स्त्री, पुत्री, पुत्र, धन-सम्पति आदि में कैसे स्थिर बुद्धि की जा सकती है? यह प्राणी पाप के वश नरक गति में जाता है, वहां सागरों वर्ष पर्यन्त अनेक तरह के दु:ख भोगता है; वहां से निकल तिर्यंचगति में शीत-उष्ण भूख-प्यास आदि के विविध दु:ख उठाता है। कदाचित् सौभाग्य से मनुष्य भी हुआ तो दरिद्रता रोग आदि से दु:खी होकर हमेशा संक्लेश का अनुभव करता है और कभी कुछ पुण्योदय से देव भी हुआ तो वहां भी अनेक मानसिक दु:खों से दु:खी होता रहता है। इस तरह चारों गतियों में कहीं भी सुख का ठिकाना नहीं है। सच्चा सुख मोक्ष में ही प्राप्त हो सकता है और वह मोक्ष मनुष्य पर्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस मनुष्य पर्याय को पाकर यदि मैंने आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न नहीं किया तब मुझसे मूर्ख और कौन होगा?" इधर भगवान अपने हृदय में ऐसा विचार कर रहे थे, उधर बह्मलोक पांचवें स्वर्ग में रहने वाले लौकान्तिक देवों के आसन कम्पायमान हुए जिससे वे महाराज आदिनाथ का हृदय विषयों से विरक्त समझ शीघ्र ही उनके पास आये और तरह-तरह के वचनों से स्तुति कर उनके विचारों का समर्थन करने लगे। देवों के वचन सुनकर उनकी वैराग्य-धारा अत्यन्त वेगवती हो गई। अब उन्हें राज्य-सभा में, गगन-चुम्बी महलों में, स्वर्गपुरी को जीतने वाली अयोध्यापुरी में और स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि में थोड़ा भी आनन्द नहीं आता था। जब लौकान्तिक देव अपना कार्य समाप्त कर हंसों के समान आकाश में उड़ गये तब इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि चारों निकाय के देवों ने अयोध्यापुरी आकर जय जय घोषणा के साथ महाराज का क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक के बाद में तप-कल्याणक की विधि प्रारम्भ की। इसी बीच में महाराज वृषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत के लिए राजगद्दी देकर बाहुबली को युवराज बना दिया था जिससे वे राज्य कार्य की ओर से बिल्कुल निराकुल हो गये थे। उस समय तप-कल्याणक और राज्याभिषेक इन दो महान् उत्सवों से नर-नारियों और देव-देवियों के ही क्या, प्राणी मात्र के हृदयों में आनन्द-सागर लहरा रहा था। त्रिभुवनपति महाराज वृषभनाथ, महाराज नाभिराज और महारानी मरुदेवी आदि से आज्ञा लेकर वन में जाने के लिये देव-निर्मित पालकी पर सवार हुए। वह पालकी खूब सजाई गई थी। उसके ऊपर कई रंगों की पताकाएं लगी हुई थीं और चारों ओर बंधी हुई मणियों की छोटी-छोटी घंटियां रुण-झुण शब्द करती थीं। सबसे पहले बड़े-बड़े भूमिगोचरी राजा पालकी को अपने कंधों पर रखकर जमीन में सात कदम चले, फिर विद्याधर राजा कन्धों पर रखकर सात कदम आकाश में चले, इसके अनन्तर प्रेम से भरे हुए सुर असुर उस पालकी को अपने कन्धों पर रखकर आकाश मार्ग से चले। उस समय देव-देवेन्द्र जय जय शब्द बोलते और कल्पवृक्ष के सुगन्धित फूलों की वर्षा करते जाते थे। असंख्य देव-देवियां और नर-नारी का समूह महाराज के पीछे जा रहा था। शोक से विह्वल माता मरुदेवी, महादेवी यशस्वती और सुनन्दा आदि अन्तःपुर की नारियां तथा महाराज नाभिराज, भरतेश्वर, बाहुबली, कच्छ, महाकच्छ आदि प्रधान-प्रधान राजा अत्यन्त उत्कण्ठित भाव से महाराज के तप-कल्याणक

की महिमा देख रहे थे। देव लोग तीर्थंकर की पालकी अयोध्यापुरी के समीपवर्ती सिद्धार्थ नामक वन में ले गये। वह वन चारों ओर से सुगन्धित फूलों की सुवास से सुगन्धित हो रहा था। वहां चतुर देवांगनाओं ने कई तरह के चौक पूर रखे थे। देवों ने एक सुन्दर पटमण्डप बनवाया था जिसमें देवांगनाओं का मनोहर अभिनय-नृत्य हो रहा था। वह वन गन्धर्व किन्नरों के सुरीले संगीत से गूंज रहा था। वन के मध्य भाग में एक चन्द्रकान्त मणि की शिला पड़ी थी। पालकी से उतर कर महाराज उसी शिला पर बैठ गये। वहां उन्होंने क्षण भर ठहर कर सबकी ओर मधुर दृष्टि से देखा और फिर देव, देवेन्द्र तथा कुटुम्बी-जनों से पूछ कर समस्त वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। पंच-मुष्टियों से केस उखाड़ डाले तथा पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़े हो सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हुए इन्द्र, सिद्ध और आत्मा की साक्षीपूर्वक समस्त परिग्रहों का त्याग कर दिया था; इस तरह तीर्थंकर आदिनाथ ने चैत्र वदी नवमी के दिन सांयकाल के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। इन्हें दीक्षा लेते समय ही मन:पर्यय ज्ञान और अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं थीं। इनके साथ में कच्छ महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। चार हजार मुनियों से घिरे हुए आदीश्वर महाराज, तारा परिवृत्त चन्द्रमा की तरह शोभायमान होते थे।

दीक्षा लेते समय वृषभदेव ने जो केश उखाड़ कर फेंक दिये थे, इन्द्र इन्हें रत्नमयी पिटारी में रखकर क्षीरसागर ले गया और उसकी तरल तरंगों में विनय-पूर्वक छोड़ आया था। जिनेन्द्र के तप-कल्याणक का उत्सव पूरा कर समस्त देव देवेन्द्र अपने स्थान पर चले गये। बाहुबली आदि राजपुत्र भी पितृ-वियोग से कुछ खिन्न होते हुए अयोध्यापुरी को लौट आये।

वन में महामुनि आदिनाथ छह महीना का अनशन धारण कर एक आसन से बैठे हुए थे। धूप, वर्षा, शीत आदि की बाधाएं उन्हें रंच-मात्र भी विचलित नहीं कर सकीं थीं। वे मेरु के समान अचल थे, बालक के समान निर्विकार थे, निर्मेघ आकाश की तरह शुद्ध थे, साक्षात् शरीरधारी शम के समान मालूम होते थे। उनकी दृष्टि नासा के अग्र भाग पर लगी हुई, हाथ नीचे को लटक रहे थे, और मुंह के भीतर अन्यत्र रूप से कुछ मंत्राक्षरों का उच्चारण हो रहा था। कहने का मतलब यह है कि वे समस्त इन्द्रियों को

बाह्य व्यापार से हटाकर अध्यात्म की ओर लगा चुके थे। अपने आप उत्पन्न हुए अलौकिक आत्मानन्द का अनुभव कर रहे थे। न उन्हें भूख का दु:ख था, न प्यास का कष्ट था और न राज्य कार्य की ही कुछ चिन्ता थी।

उधर मुनिराज वृषभदेव आत्मध्यान में लीन हो रहे थे इधर कच्छ और महाकच्छ आदि चार हजार राजा जो कि देखा-देखी ही मुनि बन बैठे थे-मुनि मार्ग का कुछ रहस्य नहीं समझ सके, कुछ दिनों में ही भूख-प्यास की बाधाओं से तिलमिला उठे। वे सब आपस में सलाह करने लगे-कि 'महाराज वृषभदेव ने जाने किस लिये नग्न दिगम्बर होकर बैठे हैं। ये हम लोगों से कुछ कहते ही नहीं हैं। न उन्हें भूख प्यास की बाधा सताती है, न ये धूप, वर्षा, सर्दी से ही दु:खी होते हैं। पर हम लोगों का हाल तो इनसे बिल्कुल उल्टा हो रहा है। अब हमसे भूख प्यास की बाधा नहीं सही जाती। हमने सोचा था कि इन्होंने कुछ दिनों के लिये ही यह वेष रचा है, पर अब तो दो माह हो गये फिर भी इनके रहस्य का पता नहीं चलता। जो भी हो, शरीर की रक्षा तो हम लोगों को अवश्य करनी चाहिए और अब इसका उपाय क्या है? यह चलकर उन्हीं से पूछना चाहिय।" ऐसी सलाहकर सब राजमुनि, मुनिनाथ वृषभदेव के पास जाकर तरह-तरह के शब्दों में उनकी स्तुति करने लगे-उनकी धीरता की प्रशंसा करने लगे। स्तुति कर चुकने के बाद उन्होंने मुनिवेष धारण करने का कारण पूछा; उसकी अवधि पूछी और 'हम भूख प्यास का दु:ख नहीं सह सकते', यह प्रकट कर उसके दूर करने का उपाय पूछा। पर वे तो मौन व्रत लिये हुए थे, आत्मध्यान में मस्त थे, उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थों से सर्वथा हट गई थी-वे कुछ न बोले। जब उन्हें वृषभदेव की ओर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला, उन्होंने आंख उठाकर भी उन लोगों की ओर नहीं देखा तब वे बहुत घबराये और मुनि-मार्ग से भ्रष्ट होकर जंगलों में चले गये। उन्होंने सोचा था कि यदि हम अपने-अपने घर जाते हैं तो राजा भरत हमको दण्डित करेगा इसलिये इन्हीं सघन वनों में रहना अच्छा है। यहां वृक्षों के कन्द, मूल फल खाकर नदी, तालाब आदि का मीठा पानी पीवेंगे और पर्वतों की गुफाओं में रहेंगे। अब ये शेर, चीते वगैरह ही हम लोगों के परिवार होंगे, इस तरह भ्रष्ट होकर वे चार हजार द्रव्यलिंगी मुनि ज्योंही तालाब में पानी पीने के लिये घुसे त्योंही उन देवताओ ने प्रकट होकर कहा

कि यदि तुम दिगम्बर मुद्रा धारण कर ऐसा अन्याय करोगे तो हम तुम्हें दण्डित करेंगे। यह सुनकर किन्हीं ने वृक्षों के पत्ते व वल्कल पहिनकर हाथ में पलास वृक्ष के दण्ड ले लिये। किन्हीं ने शरीर में भस्म रमा ली और किन्हीं ने जटायें बढ़ा लीं। कहने का मतलब यह है कि उन्हें जिसमें सुविधा दिखी वही वेष उन्होंने धारण कर लिया। इतना होने पर भी सब लोग भगवान आदिनाथ को ही अपना इष्ट देव समझते थे, उन्हें सिंह और अपने को सियार समझते थे; वे लोग प्रतिदिन तालाबों में से कमल के फूल तोड़कर लाते थे और उनसे भगवान की पूजा किया करते थे।

वृषभदेव को बाह्य जगत का कुछ ध्यान नहीं था। वे समता भावों से क्षुधा तृषा की बाधा सहते हुए आत्मध्यान में लीन रहते थे। जिस वन में महामुनि वृषभेश्वर ध्यान कर रहे थे उस वन में जन्म-विरोधी जीवों ने भी परस्पर का विरोध छोड़ दिया था-सिंहनी गाय के बच्चे को प्यार से दूध पिलाती थी और गाय सिंहनी के बच्चे को प्रेम से पुकारती थी, मृग और सिंह परस्पर में खेला करते थे, सर्प, नेवला, मोर आदि विरोधी जीव एक दूसरे के साथ क्रीड़ा किया करते थे, हाथियों के बच्चे बड़े मृगराजों की अयालों-गर्दन के बालों को नोचते थे। सच है-विशद्ध आत्मा का असर प्राणियों पर ही क्यों, अचेतन वस्तुओं पर भी पड़ सकता है।

एक दिन कच्छ और महाकच्छ राजाओं के लड़के नमि और विनमि भगवान के चरण-कमलों के पास आकर उनसे प्रार्थना करने लगे कि 'हे त्रिभुवन नायक! आप अपने समस्त पुत्रों तथा इतर राजकुमारों को राज्य देकर सुखी कर आये पर हम दोनों को आपने कुछ भी नहीं दिया। भगवन्! आप तीनों लोकों के अधीश्वर हैं, समर्थ हैं, दयालु हैं, इसलिये राज्य देकर हमको सुखी कीजिए। भगवान आत्मध्यान में लीन हो रहे थे; इसलिये यद्यपि नमि विनमि को उनकी ओर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला तथापि वे अपनी प्रार्थना जारी ही किये गये। इस घटना से एक धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ जिससे वह भगवान के ध्यान में कुछ बाधा समझकर शीघ्र ही उनके पास आया। आकर जब वह देखता है कि दोनों ओर खड़े हुये नमि-विनमि भगवान से राज्य की याचना कर रहे हैं तब धरणेन्द्र ने अपना वेष बदल कर दोनों राजकुमारों से कहा कि आप लोग राजा भरत से राज्य की याचना

कीजिये जो आपकी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं। इनके पास क्या रखा है? जिसे देकर ये आपकी राज्य-लिप्सा को पूर्ण करें! आप लोग राजकुमार इतना भी नहीं समझ सके कि जिसके पास होता है वही किसी को कुछ दे सकता है।" धरणेन्द्र की बातें सुनकर उन दोनों ने कहा कि महाशय! आप बड़े बुद्धिमान मालूम होते हैं, बोलने में आप बहुत ही चतुर प्रतीत होते हैं, आपका वेष भी विश्वसनीय है पर मेरी समझ में नहीं आता कि आप बिना पूछे ही हम लोगों के बीच में क्यों बोलने लगे? तीनों लोकों के एक मात्र अधीश्वर वृषभदेव की चरण छाया को छोड़कर भरत से राज्य की याचना करूं? जो बेचारा खुद जरा-सी जमीन का राजा है। कहिये महाशय! जो कमण्डलु महासागर के जल से नहीं भरा वह क्या गोष्पद के जल से भर जावेगा? क्या अनोखा उपदेश है आपका? राजकुमारों की उक्ति प्रत्युक्ति से प्रसन्न होकर धरणेन्द्र ने अपना कृत्रिम वेष छोड़ दिया और प्रकृत वेष में प्रकट होकर नमि विनमि से कहा-"राजपुत्रो! राज्य का विभाग करते समय भगवान वृषभेश्वर आप लोगों का राज्य मुझे बतला गये हैं सो चलिये मैं चल कर आपका राज्य आपको दे दूं; इस समय वे ध्यान में लीन हैं इनके मुख से आपको कुछ भी उत्तर नहीं मिलेगा" इत्यादि प्रकार से समझा कर वह धरणेन्द्र उन्हें विमान पर बैठाकर विजयार्ध पर्वत पर ले गया। पर्वत की अलौकिक शोभा देखकर दोनों राज-पुत्र बहुत ही प्रसन्न हुये।

उस पर्वत की दो श्रेणियां हैं एक दक्षिण श्रेणी और दूसरी उत्तर श्रेणी। इन दोनों श्रेणियों पर सुन्दर-सुन्दर नगरों की रचना है जिसमें विद्याधर लोग रहा करते हैं। वहां पहुँचकर धरणेन्द्र ने कहा कि भगवान आप लोगों को यहां का राज्य देना स्वीकार कर चुके हैं सो आप यहां का राज्य प्राप्त कर देवराज की तरह अनेक भोगों को भोगो और इन विद्याधरों का पालन करो। ऐसा कहकर उसने दक्षिण श्रेणी के साम्राज्य में नमि का और उत्तर श्रेणी के साम्राज्य में विनमि का अभिषेक किया, उन्हें कई प्रकार की विद्यायें दीं तथा जनता से उनका परिचय कराया। नमि-विनमि विद्याधरों का राज्य पाकर बहुत प्रसन्न हुये। धरणेन्द्र कर्तव्य पूरा कर अपने स्थान को वापिस चला गया।

ध्यान करते-करते जब छह माह व्यतीत हो गये तब वृषभदेव ने अपनी ध्यान-मुद्रा समाप्त कर आहार लेने का विचार किया। यद्यपि उनके शरीर में

जन्म से ही अतुल्य बल था-वे आहार न भी करते तब भी उनके शरीर में कुछ शिथिलता न आती; तथापि मुनि-मार्ग चलाने का ख्याल करते हुये उन्होंने आहार करने का निश्चय कर गांवों में विहार करना शुरू कर दिया। विहार करते समय वे चार हाथ जमीन देखकर चलते थे और किसी से कुछ बोलते न थे। यह हम पहले लिख चुके हैं कि उस समय के लोग अत्यन्त भोले थे। आदिनाथ के पहले वहां कोई मुनि हुआ ही नहीं था; इसलिये वे लोग मुनि मार्ग से सर्वथा अपरिचित थे। वे यह नहीं समझते थे कि मुनियों के लिये आहार कैसे दिया जाता है? महामुनि आदिनाथ किसी के कुछ बतलाते न थे क्योंकि यह नियम है कि दीक्षा लेने के बाद जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक तीर्थंकर मौन होकर रहते हैं-किसी से कुछ नहीं कहते। इसलिए जब वे आहार के लिए नगरों में पहुँचते तब कोई लोग कहने लगते थे कि हे देव! प्रसन्न होओ, कहिये कैसे आगमन हुआ? कोई महामूल्य रत्न सामने रखकर ग्रहण करने की प्रार्थना करते थे, कोई हाथी घोड़ा आदि सवारियां समर्पण कर उन्हें प्रसन्न करना चाहते थे, कोई सर्वांग सुन्दरी कन्यायें ले जाकर उन्हें स्वीकार करने का आग्रह करते थे और कोई सोने की थालियों में उत्तम-उत्तम भोजन ले जाकर ग्रहण करने की प्रार्थना करते थे। पर वे विधिपूर्वक न मिलने के कारण बिना आहार लिए ही नगरों से वापिस चले जाते थे। इस तरह जगह-जगह घूमते हुए उन्हें एक माह और बीत गया पर कहीं विधिपूर्वक उत्तम पवित्र आहार नहीं मिला। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि जिनके गर्भ में आने के छह माह पहले इन्द्र किंकर की तरह हाथ जोड़कर आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहा, सम्राट भरत जिनका पुत्र था, और जो स्वयं तीनों लोकों के अधिपति कहलाते थे वे भी बिना कुछ आहार के लिये निरन्तर छह माह तक एक-दो नहीं कई नगरों में घूमते रहे पर आहार न मिला। कितना विषम है कर्मों का उदय।

इस तरह महामुनि आदिनाथ ने एक वर्ष तक कुछ भी नहीं खाया-पिया था तो भी उनके चित्त व शरीर में किसी प्रकार की विकृति और शिथिलता नहीं दीख पड़ती थी। अब हम कुछ समय के लिये पाठकों का चित्त वहां ले जाते हैं जहां पर महामुनि के लिये अकस्मात् आहार प्राप्त होगा।

जिस समय की यह बात है उस समय कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर

में एक सोमप्रभ राजा राज्य करते थे, वे बड़े ही धर्मात्मा थे, उनके छोटे भाई का नाम श्रेयांसकुमार था, यह श्रेयांसकुमार भगवान आदिनाथ के वज्रजंघ भव में श्रीमती स्त्री का जीव था जो क्रम-क्रम से आर्या, स्वयंप्रभ देव, केशव, अच्युत, प्रतीन्द्र धनदेव आदि होकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था और वहां से चयकर श्रेयांसकुमार हुआ था। एक दिन रात्रि के पिछले पहर में श्रेयांसकुमार ने अत्यन्त ऊंचा मेरुपर्वत, शाखाओं में लटकते हुए भूषणों से सुन्दर कल्पवृक्ष, मूंगा के समान लाल-लाल अयाल से शोभायमान सिंह, जिसके सींगों पर मिट्टी लगी हुई है ऐसा बैल, चमकते हुए सूर्य, चन्द्रमा, लहराता हुआ समुद्र और अष्ट मंगल द्रव्यों को लिए हुए व्यंतर देव स्वप्न में देखे। सवेरा होते ही उसने अपने पुरोहित से ऊपर कहे हुए स्वप्नों का फल पूछा। पुरोहित ने निमित्तज्ञान से सोचकर कहा कि मेरुपर्वत के देखने से उसके समान उन्नत कोई महापुरुष अपने शुभागमन से आपके भवन को अलंकृत करेगा और बाकी स्वप्न उन्हीं महापुरुषों के गुणों की उन्नति बतला रहे हैं। पुरोहित के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर सोमप्रभ और श्रेयांस दोनों भाई हर्ष के मारे फूले न समाते थे। प्रातः काल के समय देखे गये स्वप्न शीघ्र ही फल देते हैं। पुरोहित के इन वचनों ने तो उन्हें और भी अधिक हर्षित बना दिया था। राजभवन में बैठे हुए दोनों भाई उन महापुरुष की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि इतने में महापुरुष महामुनि आदिनाथ ईर्या समिति से विहार करते हुए हस्तिनापुर जा पहुँचे। जब वे राजभवन के पास आये तब सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार को उनके आने की खबर दी। द्वारपाल के मुख से महामुनि का आगमन सुनकर दोनों भाई दौड़े हुए आये और उन्हें प्रणाम कर बहुत ही आनन्दित हुए। युवराज श्रेयांसकुमार ने ज्योंही महामुनि का दिव्य रूप देखा त्यों ही उसे जातिस्मरण हो आया। श्रीमती और वज्रजंघ भव का समस्त वृत्तान्त उनकी आंखों के सामने ज्यों का त्यों झूलने लगा। पुण्डरीकिणीपुरी को जाते समय रास्ते में सरोवर के किनारे जो मुनि-युगल के लिए आहार दिया था वह भी श्रेयांस को ज्यों का त्यों याद हो गया। यह प्रातः काल का समय आहार देने के योग्य है ऐसा विचारकर उसने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक पड़गाहा और श्रद्ध, तुष्टि आदि गुणों से युक्त होकर महामुनि वृषभनाथ को आहार देने के लिए भीतर

लिवा ले गया। वहां उसने राजा सोमप्रभ और उनकी स्त्री लक्ष्मीमती के साथ महामुनि के पाणिपात्र में इक्षुरस की धाराएं प्रदान कीं। इस पवित्र दान से प्रभावित होकर देवों ने आकाश से रत्नों की वर्षा की, दुन्दुभि बाजे बजाये, पुष्प बरसाये और जय-जय ध्वनि के साथ 'अहो दानम् अहो दानम्' कहते हुए दान की प्रशंसा की। उस समय सब दिशाएं निर्मल हो गई थीं। आकाश में मेघ का एक टुकड़ा भी नजर नहीं आता था और मन्द, सुगन्ध पवन चलने लगी थी। महामुनीन्द्र वृषभेश्वर के लिये दान देकर दोनों भाइयों ने अपने आपको कृतकृत्य समझा। बहुतों ने इस दान की अनुमोदना की।

आहार ले चुकने के बाद वृषभदेव वन की ओर विहार कर गये। उस युग में सबसे पहले दान की प्रथा श्रेयांसकुमार ने ही चलाई थी; इसलिए देवों ने आकर उसका खूब सत्कार किया। जब सम्राट भरत को इस बात का पता चला तब वे भी समस्त परिवार के साथ हस्तिनापुर आये और वहां सोमप्रभ, श्रेयांस तथा लक्ष्मीमती का सत्कार कर प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर श्रेयांसकुमार ने दान का स्वरूप, दान की आवश्यकता तथा उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों का स्वरूप बतलाकर दानतीर्थ की प्रवृत्ति चलाई। प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव को आहार देकर श्रेयांसकुमार ने जिस लोकोत्तर पुण्य का उपार्जन किया था उसका वर्णन कौन कर सकता है? आचार्यों ने कहा है कि जो तीर्थंकरों को सबसे पहले आहार देता है वह नियम से उसी भव से मोक्ष प्राप्त करता है, सो श्रेयांस भी लोक में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर आयु के अन्त समय में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

महामुनि आदिनाथ बीहड़ अटवियों में ध्यान लगाकर आत्मशुद्धि करते थे। वे बहुत दिनों का अन्तराल देकर नगरों में आहार लेने के लिये जाते थे, वह भी रूखा-सुखा स्वल्प आहार करते थे। वे अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश-प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान-इन बारह तपों को भलीभांति तपते थे। उन्होंने जगह-जगह घूमकर अपनी चेष्टाओं से मुनि-मार्ग का प्रचार किया था। यद्यपि वे उस समय मुंह से कुछ बोलते न थे तथापि इनकी क्रियाएं इतनी प्रभावक होती थीं कि लोग उनहें देखकर बहुत जल्दी प्रतिबुद्ध हो जाते थे। वे कभी ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ की चोटियों पर ध्यान लगाये बैठते थे, कभी शीतकाल

की भीषण रात्रि में नदियों के तटपर आसन जमाते थे, और कभी वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे योगासन लगाकर बैठते थे। इस तरह उग्र तपश्चर्या करते-करते जब उन्हें एक हजार वर्ष बीत गये तब वे एक दिन 'पुरिमताल' नामक नगर के पास पहुँचे और वहां शकट नामक वन में निर्मल शिलातल पर पद्मासन लगा कर बैठे। उस समय उनकी आत्म-विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी जिसके फलस्वरूप उन्होंने क्षपक श्रेणी में प्रवेश कर शुक्ल ध्यान के द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सकल पदार्थों को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान का लाभ किया। भगवान् आदिनाथ केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोक को और तीनों कालों के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने, देखने लगे थे। ज्ञानावरण के नाश होने से उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। दर्शनावरण के अभाव में केवलदर्शन और मोहनीय के अभाव में अनन्त सुख और अन्तराय के अभाव में अनन्त वीर्य प्राप्त हुआ था।

वृषभ जिनेन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है इस बात का पता जब इन्द्र को चला तब वह समस्त परिवार के साथ भगवान की पूजा के लिये 'पुरिमतालपुर' आया। इन्द्र के आने के पहिले ही धनपति कुबेर ने वहां दिव्य समवसरण-सभा की रचना कर दी थी। वह सभा बारह योजन विस्तृत नीलमणि की गोल शिला-तल पर बनी हुई थी। जमीन से पांच हजार धनुष ऊंची पहुँचने के लिये उसमें बीस हजार सीढियां बनी हुई थीं, उस सभा के चारों ओर अनेक मणिमय सुवर्णमय कोट बने हुए थे। उसमें चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ बनाये गये थे, जिन्हें देखने से बड़े-बड़े मानियों का मान खण्डित हो जाता था। अनेक नाटयशालायें बनी हुई थीं जिनमें स्वर्ग की अप्सरायें भगवद् भक्ति से प्रेरित होकर नृत्य कर रही थीं। अनेक परिखाएं थीं जिनमें सहस्रदल (हजार पांखुड़ी वाले कमल) फूल रहे थे। वहां के रत्नमय दरवाजों पर देव लोग पहरा दे रहे थे। ऊपर चलकर भगवान् की गन्धकुटी बनाई गई थी जिसमें रत्नमय सिंहासन रखा हुआ था। सिंहासन के चारों ओर श्रीमण्डप बनाया गया था, उसके सब ओर परिक्रमा-रूप में बाहर सभाएं बनाई गई थीं, जिनमें देव, देवियां, मनुष्य, तिर्यंच, पशु-पक्षी आदि

सभी सुख से बैठ सकते थे। कुबेर के द्वारा बनाई गई हुई दिव्य सभा को देखकर इन्द्र बहुत ही हर्षित हुआ, और भक्ति से 'जय जय' शब्द करता हुआ समस्त परिवार के साथ वहां पहुँचा जहां पूर्ण ज्ञानी, योगी, भगवान आदिनाथ विराजमान थे। ऊपर जिस गन्धकुटी का कथन कर आये हैं भगवान उसी में स्वर्ण सिंहासन पर चार अंगुल अन्तरिक्ष में विराजमान थे। वहां उनके दिव्य तेज से सब ओर प्रकाश-सा फैल रहा था। इन्द्र ने विनय सहित नमस्कार कर सुमधुर शब्दों में हजार नामों से उन्हें अलंकृत कर उनकी स्तुति की।

महाराज भरत राजसभा में बैठे हुए ही थे कि इतने में पुरोहित ने पहुँचकर उनसे जगद्गुरु वृषभदेव के केवलज्ञान प्राप्त होने का समाचार सुनाया। उसी समय कंचुकी (अन्तःपुर के पहरेदार) ने आकर महाराज को पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनाया और उसी समय शस्त्रपाल ने आकर कहा कि "नाथ! शस्त्रशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है, जो अपने तेज से सूर्य के तेज को पराजित कर रहा है।" राजा भरत तीनों के मुख से एक साथ शुभ समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। इन तीन उत्सवों में से पहले किसमें योगदान करना चाहिये, यह विचार कर कुछ क्षण के लिए भरत महाराज व्याकुल-चित्त हुए थे अवश्य; पर उन्होंने बहुत शीघ्र "धर्मकार्य ही प्रथम करना चाहिये"-ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया और निश्चय के अनुसार समस्त भाई, बंधु, मंत्री, पुरोहित, मरुदेवी आदि परिवार के साथ गुरुदेव-पितृदेव के कैवल्य-महोत्सव में योगदान करने के लिये 'पुरिमतालपुर' पहुँचे। वहां समवसरण की अद्भुत शोभा देखकर भरत का चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। देव-द्वारपालों ने उन्हें सभा के भीतर पहुँचा दिया। वहां उन्होंने प्रथम पीठिका पर विराजमान धर्म-चक्रों की प्रदक्षिणा दी, फिर द्वितीय पीठिका पर शोभायमान ध्वजाओं की पूजा की, इसके अनन्तर गन्ध-कुटी में सुवर्ण सिंहासन पर चार अंगुल निरालम्ब विराजमान महायोगीश्वर भगवान वृषभदेव को देखकर उनका हृदय भक्ति से गद्गद् हो गया। भरत आदि ने तीन प्रदक्षिणाएं दीं, फिर जमीन पर मस्तक झुकाकर जिनेन्द्र देव को नमस्कार किया और श्रुतिसुखद शब्दों में अनेक स्तोत्रों से उनकी स्तुति कर जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा की। भक्ति प्रदर्शित करने के बाद भरत आदि मनुष्यों के लिये निश्चित कोठे में बैठ गये। उस समय जिनेन्द्र देव के

आसन के पास अनेक किसलयों से शोभायमान अशोक वृक्ष था जो अपनी श्यामल-रक्त-प्रभा से प्राणिमात्र के शोक-समूह को नष्ट कर रहा था। वे ऊंचे सिंहासन पर विराजमान थे, उनके शरीर पर तीन छत्र लगे हुए थे जो साफ-साफ बतला रहे थे कि भगवान तीन जगत् के स्वामी हैं। उनके पीछे भामण्डल लगा हुआ था जो अपनी कान्ति से भास्कर (सूर्य) को भी पराजित कर रहा था, यक्षकुमार जाति के देव चौंसठ चमर ढ़ोर रहे थे, जो भगवान के फैलते हुए धवल यश की तरह मालूम होते थे। देवलोग स्वर, ताल के साथ दुन्दुभि आदि हजारों तरह के बाजे बजा रहे थे और आकाश से मन्दार, सुन्दरनमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के सुगन्धित फूल बरसा रहे थे। उस समय उनका एक ही मुख चारों ओर से दिखाई देता था। उनके पुण्य-प्रताप से चारों ओर एक योजन तक सुभिक्ष हो गया था, कोई धन-धान्य के अभाव में दु:खी नहीं था। उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती थी, कोई किसी को नहीं सताता था, सभी के हृदय-क्षेत्रों में दया-सरिता कल-कल नाद करती हुई बह रही थी। त्रिभुवनपति वृषभदेव के इस दिव्य प्रभाव को देखकर सभी चकित हो गये थे। उनके मुखचन्द्र को देखकर प्राणिमात्र के हृदयों में आनन्द का समुद्र लहरा रहा था। उस सभा में देवलोग इतना सुन्दर प्रबन्ध कर रहे थे, कि जिससे किसी को कुछ भी कष्ट मालूम नहीं होने पाता था। जन्म के अन्धे, लंगड़े बहरे आदि मनुष्य उस सभा में पहुँच कर निरोग हो जाते थे। धीरे-धीरे सभा के बारहों कोठे देव, देवियों, मनुष्य स्त्रियां तथा पशु, पक्षी आदि से खचाखच भर गये थे। जब सभा में पूर्ण शान्ति विराजने लगी, तब भगवान के मुखारविन्द से दिव्य वाणी प्रकट हुई। उनकी वह वाणी 'ओंकार' रूप थी। उसमें मुंह से प्रकट होते समय अक्षरों का विभाग नहीं मालूम होता था, इसलिये लोग उसे 'निरक्षरी भाषा' कहते हैं। उस भाषा में सब भाषाओं का रूप-परिणमन करने की शक्ति थी, इसलिये जो प्राणी जिस भाषा को समझता था उसके कानों में भगवान की वाणी उसी भाषा में परिणत हो जाती थी। उनकी वह वाणी इतनी मधुर और स्पष्ट होती थी कि उसे सुनकर सभी को मालूम होता था कि हमारे कानों में अमृत के झरने झर रहे हैं।

उन्होंने अतिशयपूर्ण दिव्य ध्वनि में धर्म-अधर्म का स्वरूप समझा कर

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का; जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का; जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों का; पुण्य-पाप का और लोक-अलोक का स्वरूप बतलाया था। यह भी बतलाया था कि "जब तक प्राणियों की दृष्टि बाह्य भौतिक पदार्थों में उलझी रहेगी तब तक उसे आत्मीय आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। उसे प्राप्त करने के लिये तो सब ओर से मोह छोड़कर कठिन तपस्याएं करने की आवश्यकता है-इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है और है आवश्यकता आत्मध्यान में अचल होने की।" भगवान की भव्य भारती सुनकर हर एक का चित्त द्रवीभूत हो गया था। राजा भरत ने दृढ़ सम्यग्दर्शन धारण किया। कुरुकुल चूड़ामणि राजा सोमप्रभ, दानतीर्थ के प्रवर्तक युवराज श्रेयांस और भरत का छोटा भाई वृषभसेन इन तीन पुरुषों ने प्रभावित होकर उसी सभा में जिन-दीक्षा ले ली और मति, श्रुति, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान के धारक गणधर मुख्य श्रोता बन गये। ब्राह्मी और सुन्दरी नामक पुत्रियां भी पूज्य पिता के चरण-कमलों के उपाश्रय में आर्यिका के व्रत लेकर समस्त आर्यिकाओं की गणिनी (स्वामिनी) हो गई थीं। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा जो कि पहले मुनि-मार्ग से भ्रष्ट हो गये थे, भरत-पुत्र मरीचि को छोड़कर वे सब फिर से भावलिंगपूर्वक सच्चे दिगम्बर मुनि हो गये थे। आदिनाथ का पुत्र अनन्तवीर्य भी दीक्षित हो गया। श्रुतकीर्ति ने श्रावक के व्रत लिये और प्रियव्रता ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये। इनके सिवाय असंख्य नर-नारियों ने व्रत-विधान धारण किये थे; यहां सिर्फ दो-चार मुख्य-मुख्य व्यक्तियों का नामोल्लेख किया गया है। बहुत से देव-देवियों ने अपने आपको सम्यग्दर्शन से अलंकृत किया था। इस प्रकार भगवान का केवलज्ञान-महोत्सव देखकर भरत-सम्राट राजधानी अयोध्या को वापिस लौट आये। लोगों का आना-जाना जारी रहता था; इसलिये समवसरण की भूमि देव, मनुष्य और तिर्यंचों से कभी खाली नहीं होने पाती थी।

इन्द्र ने जिनेन्द्र देव से प्रार्थना की कि "हे देव! संसार के प्राणी अधर्म-रूप सन्ताप से सन्तप्त हो रहे हैं। उन्हें हेय उपादेय का ज्ञान नहीं है; इसलिये देश-विदेशों में विहार कर उन्हें हित का उपदेश देने के लिये यही समय उचित है। किसी एक जगह जनता का उपस्थित होना अशक्य है; अतएव यह कार्य जगह-जगह विहार करने से ही सम्पन्न हो सकेगा।" इन्द्र

की प्रार्थना सुनकर उन्होंने अनेक देशों में विहार किया। वे आकाश में चलते थे, चलते समय देवलोग उनके पैरों के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते जाते थे। मन्द सुगन्धित हवा बहती थी, गन्धोदक की वृष्टि होती थी, देव 'जय जय' शब्द करते थे, उस समय पृथ्वी कांच के समान निर्मल हो गई थी, समस्त ऋतुएं एक साथ अपनी-अपनी शोभाएं प्रकट कर रही थीं, पृथ्वी में कहीं कण्टक नहीं दिखाई देते थे, सब ओर सुभिक्ष हो गया था, कहीं आर्त ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती थी और उनके आगे धर्म-चक्र तथा अष्ट-मंगल द्रव्य चला करता था। कहने का मतलब यह है कि उनके पुण्य परमाणु इतने सुभग और विशाल थे कि वे जहां भी जाते थे, वहीं देव, दानव, मानव आदि सभी प्राणी उनके वशीभूत हो जाते थे। विहार करते-करते वे जहां रुक जाते थे, धनपति कुबेर वहीं पर पूर्व की तरह समवसरण-सभा की रचना कर देता था जहां बैठ कर भव्य जीवन सुखपूर्वक आत्महित का श्रवण करते थे। उनके उपदेश की शैली इतनी मोहक थी कि वे जहां भी उपदेश देते थे वहीं असंख्य नर-नारी प्रतिबुद्ध होकर मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका बन जाते थे। उस समय सकल भारतवर्ष में अखण्ड रूप से जैनधर्म फैला हुआ था। इस प्रकार देश-विदेशों में घूमकर वे कैलाशगिरि पर पहुँचे और वहां आत्म-ध्यान में लीन हो गये। अब कुछ सम्राट भरत के विषय में सुनिये-

समवशरण से लौटकर महाराज भरत ने पहिले चक्ररत्न की पूजा की और फिर याचकों को इच्छानुसार दान देते हुये पुत्रोत्पत्ति का उत्सव किया। 'अभिनव राजा भरत के पुत्र उत्पन्न हुआ है' यह समाचार किसे न हर्षित बना देता था? उस उत्सव में अयोध्यापुरी इतनी सजाई गई थी कि उसके पुरन्दरपुरी अमरावती भी लज्जा से हतप्रभ हो जाती थी। प्रत्येक भवन की शिखरों पर तरह-तरह की पताकाएं फहराई गई थीं, राजमार्ग सुगन्धित जल से सींचे गये थे, बड़े-बड़े बाजों के शब्द से आकाश गूंज गया था, सभी ओर मनोहर संगीत और नृत्य-ध्वनि सुनाई पड़ रही थी, जगह-जगह तोरणद्वार बनाये गये थे, और हर एक घरों के द्वार पर मणिमयी वन्दन मालाएं लटकाई गयी थीं। उस समय अन्तःपुर की शोभा तो सबसे निराली एवं अनुपम थी।

इधर समस्त नगर में पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया जा रहा था, उधर महाराज भरत दिग्विजय की यात्रा के लिये तैयारी कर रहे थे। वह समय

शरद ऋतु का था। आकाश में कहीं-कहीं दुग्धफेन बादलों के समूह फैल रहे थे, जो कि भरत-राज के निर्मल यश के समान मालूम होते थे, गगन में जो सूर्य चमकता था वह सम्राट के तीव्र प्रताप की तरह जान पड़ता था, रात में निर्मल चन्द्रमा शोभा देता था जो कि भरत के साधु स्वभाव की तरह दिखाई देता था, नद-नदी, तालाब आदि का पानी स्वच्छ हो गया था, सूर्य की तेजस्वी किरणों से मार्गों का कीचड़ सूख गया था, तालाबों में दिन में कमल और रात में कुमुद फूलते थे। उन पर भ्रमर जो मनोहर गुंजार करते थे, सो ऐसा मालूम होता था, मानो वे भरत-राज का यश ही गा रहे हैं। हंस अपने धवल पर फैलाकर निर्मल नीले नभ में उड़ते हुए नजर आते थे, उस समय प्रकृतिरानी की शोभा सबसे निराली थी। भरत ने उस समय को ही दिग्विजय के लिये योग्य समझकर शुभ मुहूर्त में प्रस्थान किया। प्रस्थान करते समय गुरुजनों ने भरत का अभिषेक किया। सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनाये, माथे पर कुंकुम का तिलक लगाया और आरती उतारी थी। समस्त वृद्धजनों ने आशीर्वाद दिया, बालकों ने अदम्य उत्साह प्रकट किया और महिलाओं ने पुष्प तथा धान के खीले बरसाये थे। उस समय भरत-राज की असंख्य सेना उमड़ते हुए समुद्र की तरह मालूम होती थी। वृषभनन्दन भरत कुमार आद्य चक्रवर्ती थे, इसलिये उनके चौदह रत्न और नौ निधियां प्रकट हुई थीं। रत्नों के नाम ये हैं- 1 सुदर्शन चक्र, 2 सूर्यप्रभ छत्र, 3 सौनन्दक खड्ग, 4 चण्डवेग दण्ड, 5 चर्मरत्न, 6 चूड़ामणि, 7 चिन्ताजननी काकिणी, 8. कामवृष्टि गृहपति, 9 अयोध्या सेनापति, 10 भद्रमुख तक्षक, 11 बुद्धिसागर पुरोहित, 12 विजयार्धयाग हस्ती, 13 पवनंजय अश्व और 14 मनोहर सुभद्रा स्त्री। इनमें से प्रत्येक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते थे। ये सब रत्न दिग्विजय के समय चक्रवर्ती के साथ चल रहे थे। इनके रहते हुए उन्हें कोई भी काम कठिन मालूम नहीं होता था। नव निधियां ये हैं- 1 काल, 2 महाकाल, 3 पाण्डुक, 4 मानवाख्य, 5 वैरूपाख्य, 6 सर्व रत्नाख्य, 7 शंख, 8 पद्म और 9 पिंगलाख्य। इन निधियों की भी हजार-हजार देव रक्षा करते थे। निधियों के रहते हुए भरत सम्राट को कभी धन-धान्य की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। इच्छानुसार समस्त वस्तुएं निधियों से ही प्राप्त हो जाती थीं। भरत चक्रवर्ती अपने तक्षक-रत्न (उत्तम बढ़ई) के द्वारा बनाये गये रथ पर बैठे हुए थे। उनके मस्तक पर रत्नखचित सोने का मुकुट चमक रहा था। सिर

पर रजत छत्र लगा हुआ था और दोनों ओर चमर ढोरे जा रहे थे। बन्दी गण गुणगान कर रहे थे। अनेक हाथी, घोड़ा, रथ और प्यादों से भरी हुई सम्राट की सेना बहुत भली मालूम होती थी।

उस समय लोगों के पदाघात से उड़ती हुई धूलि ने सूर्य के प्रकाश को ढक लिया था, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सूर्य भरत के प्रताप से पराजित होकर कहीं पर जा छिपा है। सैनिकों के हाथों में अनेक तरह के आयुध (हथियार) चमक रहे थे। भरत सम्राट का सैनिक बल देखने के लिये आये हुए देव और विद्याधरों के विमानों से समस्त आकाश भर गया था। वह सेना अयोध्यापुरी से निकलकर प्रकृति की शोभा निहारती हुई मैदान में द्रुतगति से जाने लगी थी। बीच-बीच में अनेक अनुयाजी राजा अपनी सेना सहित भरत के साथ मिलते थे, इसलिए वह सेना नदी की भांति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। बहुत कुछ मार्ग अतिक्रम करने पर भरतेश गंगा नदी के पास पहुँचे। गंगा की अनूठी शोभा देखकर भरत का चित्त अत्यन्त हर्षित हो गया। गंगा नदी ने शीतल जलकणों से मिली हुई और सरोज गंध से सुवासित मन्द समीर से उनका स्वागत किया। भरत ने उस दिन गंगा तीर पर ही बिताया। भरत तथा सेना के ठहरने के लिये स्थपति अनेक तम्बू तैयार कर दिये थे, जिनसे ऐसा मालूम होता था कि भरत के विरह से दुःखी होकर अयोध्यापुरी ही वहां पहुँच गई है। दूसरे दिन विजयार्ध गिरि के समान अत्यन्त ऊंचे विजयार्ध नामक हाथी पर बैठ कर सम्राट ने समस्त सेना के साथ गंगा के किनारे-किनारे प्रस्थान किया। चण्डवेग नामक दण्ड के प्रताप से समस्त रास्ता पक्की सड़क के समान साफ होता जाता था, इसलिये सैनिकों को चलने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाता था। बीच में अनेक नरपाल मुक्ताफल, कस्तूरी, सुवर्ण, चांदी, आदि का उपहार लेकर भरतेश से भेंट करने के लिये आते थे। इस तरह कुछ दूर तक चलने के बाद वे गंगा-द्वार पर पहुँचे। वहां पर उपसागर की अनुपम शोभा देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। फिर क्रम-पूर्वक स्थल-मार्ग से वेदी-द्वार में प्रविष्ट हुए। वहां गंगा नदी के किनारे के वनों में अपनी विशाल सेना ठहरा कर लवण समुद्र के ऊपर अधिकार करने की इच्छा से भरत महाराज तीन दिन तक वहीं रहे। वहां उन्होंने लगातार तीन दिन का अनशन किया तथा कुशासन पर बैठ कर जैन शास्त्रों के मंत्रों की आराधना की। यह सब करते हुए भी

भरत परमेष्ठी पूजा, सामायिक आदि नित्यकर्म नहीं भूलते थे। वहां भी उन्होंने पुरोहित के साथ मिलकर पंच परमेष्ठी की पूजा की थी और एकाग्रचित्त होकर ध्यान सामायिक आदि किया था। फिर समस्त सेना की रक्षा के लिये सेनापति को छोड़कर अजितंजय नामक रथ पर सवार हो गंगा-द्वार से प्रवेश कर लवण-समुद्र में प्रस्थान किया। वे जिस रथ पर बैठे हुए थे वह अनेक दिव्य अस्त्रों से भरा हुआ था। उसमें जो घोड़े जुते हुये थे वे जल में भी स्थल की तरह चलते थे और अपने वेग से मन के वेग को भी जीतते थे। उनका वह रथ पानी में ठीक नाव की तरह चल रहा था। रथ चालन के प्रबल वेग से समुद्र में जो ऊंची लहरें उड़ती थीं उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वह भरत के अभिगमन से प्रसन्नचित्त होकर बढ़ रहा हो। चलते-चलते जब वे बारह योजन आगे निकल गये तब उन्होंने वज्रमय धनुष पर अपने नामांकित बाण आरोपित किया और क्रोध से हुँकार करते हुए ज्यों ही उसे छोड़ा त्योंही वह मगध देव की सभा में जा पड़ा। बाण के पड़ते ही मगध देव के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह अपनी अल्प बुद्धि से चक्रवर्ती के साथ लड़ने के लिये तैयार हो गया! परन्तु उनके बुद्धिमान मंत्रियों ने बाण में चक्रवर्ती भरत का नाम देख उसे शान्त कर दिया और कहा कि "यह चक्रवर्ती का बाण है इसकी दिव्य गन्ध, अक्षत आदि से पूजा करनी चाहिये। इस समय प्रथम चक्रवर्ती भरत दिग्विजय के लिये निकले हुये हैं, वे बड़े प्रतापी हैं। भरत क्षेत्र के छह खण्ड की वसुधा पर उनका एकछत्र राज्य होगा। सब देव, विद्याधर आदि उनके वश में रहेंगे; इसलिये प्रबल शत्रु के साथ विग्रह करना उचित नहीं है।" मंत्रियों के वचन सुनकर मगध का कोप शान्त हो गया। अब वह अनेक मणि मुक्ताफल आदि लेकर मंत्री वगैरह आत्मजनों के साथ सम्राट भरत के पास पहुँचा और वहां उनके सामने समस्त उपहार भेंट कर विनम्र शब्दों में कहने लगा-देव आज हमारे पूर्वकृत शुभ कर्मों का उदय आया है जिससे आप जैसे महापुरुषों का समागम प्राप्त हुआ है। आपके शुभागमन से मुझे जो हर्ष हो रहा है वह वचनों से नहीं कहा जा सकता। साक्षात् परमेश्वर वृषभदेव जिनके पिता हैं, और चौदह रत्न तथा नौ निधियां अप्रमत्त होकर जिनकी सदा सेवा किया करती हैं, ऐसे आपके सामने, यद्यपि यह मणि मुक्ताओं की तुच्छ भेंट शोभा नहीं देती तथापि प्रार्थना है कि, महानुभाव सेवक की इस अल्प भेंट को भी स्वीकृत करेंगे। यह कहकर

उसने भरत के कानों में मणिमय कुण्डल और गले में मणिमय हार पहिना दिया। भरत महाराज मगधदेव के नम्र व्यवहार से बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने सुमधुर शब्दों में उसके प्रति अपना आभार प्रकट कर मित्रता प्रकट की। मगध भी कर्तव्य पूरा कर अपने स्थान को वापिस चला गया।

चक्रवर्ती भी विजय प्राप्त कर शिविर (सेनास्थान) वापिस आ गये। विजय का समाचार सुनकर चक्रवर्ती की समस्त सेना आनन्द से फूल उठी। उसने हर्षध्वनि से सारे आकाश को गुंजा दिया। फिर दक्षिण दिशा के राजाओं को वश में करने के लिए चक्रवर्ती ने विशाल सेना के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उस समय भरत महाराज उपसागर और लवणसागर के बीच में जो स्थल-मार्ग था, उसी पर गमन कर रहे थे। वहां उनकी वह विशाल सेना लहराते हुए तीसरे सागर के समान जान पड़ती थी। इस तरह अनेक देशों को उल्लंघन करते और उनके राजाओं को अपने अधीन बनाते हुये भरतजी इष्ट स्थान पर पहुँचे। वहां पर उन्होंने इलायची की बेलों से मनोहर वन में सेना ठहरा कर पूर्व की तरह वैजयन्त महाद्वार से दक्षिण लवणोदधि में प्रवेश किया और बारह योजन दूर जाकर उसके अधिपति व्यन्तर देव को पराजित कर वे वहां से वापिस लौट आये। फिर उसी समुद्र और उपसमुद्र के बीच के रास्ते से प्रस्थान कर पश्चिम की ओर रवाना हुए। क्रम-क्रम से सिन्धु नदी के द्वार पर पहुँचे, वहां उन्होंने द्वार के बाहर ही चन्दन, नारियल, एला, लवंग आदि वृक्षों से शोभायमान वनों में सेना ठहराकर पहले की तरह लवण-समुद्र में प्रवेश किया और बाहर योजन दूर जाकर व्यन्तरों के अधीश्वर प्रभास नामक देव को पराजित किया। विजय प्राप्त कर लौटे हुए सम्राट का सेना ने शानदार स्वागत किया। इस प्रकार पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा में विजय प्राप्त कर चुकने के बाद भरत जी उत्तर दिशा की ओर चले। अब तक उनकी सेना बहुत अधिक बढ़ गई थी क्योंकि रास्ते में मिलने वाले अनेक राजा मित्र होकर अपनी-अपनी सेना लेकर उन्हीं के साथ मिलते जाते थे। जब वह विशाल सेना चलती थी तब उसके भार से पृथ्वी, पर्वत और पादप आदि सभी वस्तुऐं कांप उठती थीं। उसकी जयध्वनि सुनते ही शत्रु राजाओं के दिल दहल जाते थे। चलते-चलते चक्रवर्ती विजयार्ध पर्वत के पास पहुँचे, वहां उन्होंने सुख से समस्त सेना को ठहराया और स्वयं

आवश्यक कार्य कर चुकने के बाद मंत्रों की आराधना में लग गये। कुछ समय बाद वहां पर एक देव भरत से मिलने के लिए आया। भरत ने उसे सत्कार पूर्वक आसन दिया। भरत प्रदत्त आसन पर बैठकर देव ने निम्न शब्दों में अपना परिचय दिया-'प्रभो! मैं विजयार्ध नाम का देव हूँ, मैं जाति का व्यन्तर हूँ, आपको आया हुआ देखकर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आज्ञा कीजिए, मैं हर एक तरह से आपका सेवक हूँ। देव! देखिये, आपका निर्मल-धवल यश समस्त आकश में कैसा छा रहा है'-इत्यादि मनोहर स्तुति कर उसने चक्रवर्ती का तीर्थोदक से अभिषेक किया और अनेक वस्त्राभूषण, रत्नश्रृंगार, सफेद छत्र, दो चमर तथा सिंहासन प्रदान किया। इसके बाद देव आज्ञा प्रकट कर अपनी जगह पर वापिस चला गया। 'यह विजयार्ध गिरि की दक्षिण श्रेणी में रहता है इसलिये इसके वशीभूत हो चुकने पर भी उत्तर श्रेणी के देव को वश में करना बाकी है, और जब समस्त विजयार्ध पर हमारा अधिकार हो चुकेगा तभी दक्षिण भारत की दिग्विजय पूर्ण हुई कहलावेगी'-ऐसा सोचकर भरत महाराज ने जल, सुगन्धि आदि से चक्ररत्न की पूजा की तथा उपवास रखकर मंत्रों की आराधना की। फिर समस्त सेना के साथ प्रस्थान कर विजयार्ध गिरि की पश्चिम गुफा के पास आये। चक्रवर्ती ने पास के वनों में सेना ठहरा दी। वहां पर भी अनेक राजा तरह-तरह के उपहार लेकर उनसे मिलने के लिए आये। उत्तर विजयार्ध का स्वामी कृतमाल नामक देव भी भरत के स्वागत के लिये आया। भरत ने उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन किया। कृतमाल ने चौदह आभूषण देकर भरत की खूब प्रशंसा की और गुफा में प्रवेश करने के उपाय बतलाये। चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर कृतमाल को वापिस किया और स्वयं दण्ड-रत्न से गुफा के द्वार का उद्घाटन किया। द्वार का उद्घाटन करते ही जब उसमें से चिरसंचित ऊष्मा (गर्मी) निकलने लगी तब उन्होंने सेनापति से कहा कि जब तक यहां की ऊष्मा शांत होती है तब तक तुम पश्चिम खण्ड पर विजय प्राप्त करो। चक्रवर्ती की आज्ञानुसार सेनापति अश्व-रत्न पर सवार हो कुछ सेना के साथ पश्चिम की ओर आगे बढ़ा। उस समय उसके आगे दण्ड-रत्न भी चल रहा था। याद रहे कि भरत का सेनापति हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का पुत्र जयकुमार था। वह बड़ा वीर, बहादुर और निर्मल बुद्धिवाला था। जयकुमार ने दण्ड-रत्न से गुहा द्वार का उद्घाटन किया। पहले द्वार के समान उसमें से भी ऊष्मा (दाह) निकलने

लगी पर उसने उसकी परवाह नहीं की। वह अश्व-रत्न पर सवार हो शीघ्रता से आगे निकल गया। देवों की सहायता से उसकी समस्त सेना भी कुशलतापूर्वक आगे निकल गई। इस प्रकार सेनापति समस्त सेना के साथ विजयार्ध गिरि की तट-वेदिका को पार कर सिन्धु नदी की पश्चिम वेदिका के तोरणद्वार से म्लेच्छ खण्डों में जा पहुँचा। वहां उसने घूम-घूमकर समस्त म्लेच्छ खण्डों में चक्रवर्ती का शासन प्रतिष्ठित किया। फिर म्लेच्छ राजा और उनकी सेना के साथ वापिस आकर पहली गुहा के द्वार का निरीक्षण किया। सेनापति को मलेच्छ खण्डों के जीतने में जितना (छह माह का) समय लगा था उतने समय की अवधि में गुफा द्वार की ऊष्मा शांत हो चुकी थी। गुफा में प्रवेश करने के उपाय सोचकर विजयी जयकुमार चक्रवर्ती से आ मिला। चक्रवर्ती भरत ने उसका बहुत सम्मान किया। जयकुमार ने साथ में आये हुए म्लेच्छ राजाओं का चक्रवर्ती से परिचय कराया।

इसके अनन्तर सम्राट भरत समस्त सेना के साथ उस गुफाद्वार में प्रविष्ट हुए। सेनापति और पुरोहित गुफा की दोनों दीवालों पर काकिणी रत्न घिसते जाते थे जिससे उस तमिस्रापूर्ण गुफा में सूर्य-चन्द्रमा के प्रकाश की तरह प्रकाश फैलता जाता था। गुफा का आधा मार्ग तय करने पर उन्हें 'निमन्ना' और 'उन्मन्ना' नाम की दो नदियां मिलीं। निमन्ना नदी हर एक पदार्थ को डूबा देती थी और उन्मन्ना नदी डूबे हुए पदार्थ को ऊपर ला देती थी। स्थपति-रत्न ने दोनों नदियों के पुल तैयार कर दिये थे। चक्रवर्ती समस्त सेना के साथ उन्हें पार कर आगे बढ़े। इस तरह कुछ दिनों तक निरन्तर चलने पर गुफा-मार्ग समाप्त हो गया और चक्रवर्ती तट के वन में पहुँच गये। वहां सिन्धु नदी के शीतल जल-कणों से मिश्रित पवन के सुखद स्पर्श से सबको बहुत आनन्द हुआ। तटवन की मनोहरता से प्रमुदित होकर चक्रवर्ती ने कुछ दिनों तक वहीं पर विश्राम किया। भरत की आज्ञा पाकर सेनापति जयकुमार ने पश्चिम की तरह पूर्व खण्डों में भी घूम-घूम कर उनका शासन स्थापित किया। जब जयकुमार लौट कर वापिस आये तब चक्रवर्ती ने उनका खूब आदर-सत्कार किया।

अब चक्रवर्ती समस्त सेना लेकर मध्यम खण्ड को जीतने के लिये चले। वहां इनकी सेना का तुमुलरव सुनकर दो म्लेच्छ युद्ध करने के लिए

भरत के सामने आये। उन म्लेच्छ राजाओं को उनके बुद्धिमान मंत्रियों ने पहले तो युद्ध करने से बहुत रोका पर अन्त में जब उनका विशेष आग्रह देखा तब उन्हें युद्ध करने के अनेक उपाय बताये। मंत्रियों के कहे अनुसार म्लेच्छ राजाओं ने मंत्र-बल से नागदेवों का आह्वान किया। नागदेव मेघों का रूप बनाकर समस्त आकाश में फैल गये और लगे चक्रवर्ती की सेना पर मूसलाधार पानी बरसाने। पानी बरसते समय ऐसा मालूम होता था मानों आकाश के फट जाने से स्वर्ग-गंगा का प्रबल प्रवाह ही वेग से नीचे गिर रहा हो। जब चक्रवर्ती की सेना उस प्रचण्ड वर्षा से आकुल व्याकुल होने लगी तब उन्होंने ऊपर छत्ररत्न और नीचे चर्मरत्न फैला कर उसके बीच में समस्त सेना के साथ विश्राम किया। लगातार सात दिन तक मूसलाधार वर्षा होती रही जिससे ऐसा मालूम होने लगा था कि भरत की सेना समुद्र में तैर रही है। मौका देखकर भरत ने उपद्रव दूर करने के लिये गणबद्ध देवों को आज्ञा दी। गणबद्ध देवों ने अपनी अप्रतिम हुँकार से समस्त दिशाएं गुन्जा दी। उसी समय बहादुर जयकुमार ने दिव्य धनुष लेकर बाणों से आकाश को भर दिया और सिंहनाद से सब नागों के दिल दहला दिये। वे डर कर भाग गये जिससे आकाश निर्मल हो गया। उसमें पहले की भांति सूर्य चमकने लगा। भरत ने जयकुमार की वीरता से प्रसन्न होकर उसका 'मेघेश्वर' नाम रखा और उपद्रव को दूर हुआ समझ कर छत्ररत्न का संकोच किया। जब नागदेव भाग गये तब म्लेच्छ राजा बहुत दु:खी हुए; क्योंकि इनके पास चक्रवर्ती की सेना के साथ लड़ने के लिये और कोई उपाय नहीं था। अन्त में हार मान कर वे चक्रवर्ती से मिलने के लिये आये और साथ में अनेक मणि, मुक्ता आदि का उपहार लाये। सम्राट भरत म्लेच्छ राजाओं से मित्र की तरह मिले। भरत का सद्व्यवहार देखकर वे पराजित होने का दु:ख भूल गये और कुछ देर तक अनुनय विनय करने के बाद अपने स्थान पर चले गये। इसके अनन्तर भरतजी समस्त सेना के साथ हिमवत् पर्वत की ओर गये। वहां मार्ग में सिन्धु देवी ने अभिषेक कर उन्हें एक उत्तम सिंहासन भेंट किया। कुछ दिनों तक गमन करने के बाद वे हिमवत् पर्वत के उपकण्ठ (समीप) में पहुँच गये। वहां उन्होंने पुरोहित के साथ उपवास करके चक्ररत्न की पूजा की तथा और भी अनेक मंत्रों की आराधना की। फिर हाथ में वज्रमय धनुष लेकर हिमवत् पर्वत की शिखर को लक्ष्य कर अमोघ बाण छोड़ा। उसके प्रताप से वहां रहने

वाला देव नम्र होकर चक्रवर्ती से मिलने आया और साथ में अनेक वस्त्राभूषणों की भेंट लाया। चक्रवर्ती ने उसके नम्र व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे विदा किया। वहां से लौटकर वे वृषभाचल पर्वत पर पहुँचे। वह पर्वत श्वेत वर्ण का था; इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो चक्रवर्ती का एकत्रित यह ही हो। सम्राट भरत ने वहां पहुँचकर अपनी कीर्ति-प्रशस्ति लिखनी चाही, पर उन्हें वहां कोई ऐसा शिला-तल खाली नहीं मिला जिस पर किसी का नाम अंकित न हो। अब तक दिग्विजयी भरत का हृदय अभिमान से फूला न समाता था; पर ज्योंही उनकी दृष्टि असंख्य राजाओं की प्रशस्तियों पर पड़ी त्योंही उनका समस्त अभिमान दूर हो गया। निदान, उन्होंने एक शिला पर दूसरे राजा की प्रशस्ति मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिख दी। सच है संसार के समस्त प्राणी स्वार्थ-साधन में तत्पर हुआ करते हैं। वृषभाचल से लौटकर वे गंगा द्वार पर आये, वहां गंगादेवी ने अभिषेक कर उन्हें अनेक रत्नों के आभूषण भेंट किये। वहां से भी लौटकर वे विजयार्ध गिरि के पास आये। वहां गुहा-द्वार का उद्घाटन कर प्राच्य खण्ड की विजय करने के लिये सेनापति जयकुमार को भेजा और आप वहीं पर छह मास तक सुख से ठहरे रहे। इसी बीच में विद्याधरों के राजा नमि, विनमि अनेक उपहार लेकर चक्रवर्ती से भेंट करने के लिये आये। चक्रवर्ती के सद्व्यवहार से प्रसन्न होकर नमि राजा ने उनके साथ अपनी सुभद्रा नाम की बहिन का विवाह कर दिया। अनवद्य सुन्दरी सुभद्रा को पाकर चक्रवर्ती ने अपना समस्त परिश्रम सफल समझा। इतने में सेनापति जयकुमार प्राच्य खण्डों को जीतकर वापिस आ गया। अब सब सेना और सेनापति के साथ चक्रवर्ती भरत, खण्ड-प्रपात नामक गुहा में घुसे। वहां नाट्यमाल नाम के देव ने उनका खूब सत्कार किया तथा अनेक वस्त्राभूषण दिये। गुहा पर करने के बाद क्रम-क्रम से भरत महाराज कैलाश गिरि पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने कुछ दिनों तक विश्राम किया। कैलाश की गगनचुम्बी धवल शिखरों ने भरतराज के हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया था। वहां का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते हुए उनका जी उसे छोड़ना नहीं चाहता था। यही कारण था कि वहां पर कथानायक भगवान वृषभदेव समवसरण सहित कई बार पहुँचे और भरत ने आगे चलकर तीर्थंकरों के सुन्दर मन्दिर बनवाये।

कैलाश से लौटकर सम्राट भरत ने राजधानी अयोध्या की ओर प्रस्थान किया और कुछ प्रयाण (पड़ाव) तय करने के बाद अयोध्यापुरी को वापिस आ गये। दिग्विजयी भरत के स्वागत के लिये अयोध्या नगरी खूब सजाई गई थी। समस्त नगरवासी और आसपास के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी अगवानी के लिये गये थे। अपने प्रति प्राजा का असाधारण प्रेम देखकर भरत जी बहुत प्रसन्न हुए। वे सब लोगों के साथ अयोध्यापुरी में प्रवेश करने के लिये चले। सब लोगों के आगे चक्ररत्न चल रहा था।

चक्ररत्न जो सुदर्शन-चक्र भारतवर्ष की छह खण्ड वसुन्धरा में उनकी इच्छा के विरुद्ध कहीं पर नहीं रुका था, वह पुरी में प्रवेश करते समय बाह्य द्वार पर अचानक रुक गया। यक्षों के प्रयत्न करने पर भी जब चक्ररत्न तिल भर भी आगे नहीं बढ़ा, तब चक्रवर्ती ने विस्मित होकर पुरोहित से उसका कारण पूछा। पुरोहित जी ने निमित्तज्ञान से उसका कारण बतलाया कि "अभी आपको अपने भाइयों को वश में करना बाकी है, जब तक आपके सब भाई आपके अधीन न हो जायेंगे तब तक चक्ररत्न का नगर में प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि इस दिव्य शस्त्र का ऐसा नियम है कि जब तक छह खण्ड के समस्त प्राणी चक्रवर्ती के अनुयायी ने बन जावें तब तक वह लौटकर नगर में प्रवेश नहीं कर सकता।" पुरोहित के वचन सुनकर चक्रवर्ती ने अनेक उपहारों के साथ अपने भाइयों के पास चतुर दूत भेजे और उन्हें अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया। भरत के भाइयों ने ज्योंही दूतों के मुख से उनका सन्देश सुना त्योंही उन्होंने संसार से विरक्त होकर राज्य-तृष्णा छोड़कर दीक्षा लेना अच्छा समझा और निश्चय के अनुसार दीक्षा लेने के लिये भगवान आदिनाथ के पास चले भी गये। दूत ने लौटकर भरत जी से सब समाचार कह सुनाये। भाइयों के विरह से उन्हें चिन्ता हुई तो अवश्य, किन्तु राज्य-लिप्सा भी कोई चीज है उसके वशीभूत होकर उन्होंने अपने हृदय में बन्धु-विरह को अधिक स्थान नहीं दिया। फिर उन्होंने अपनी दूसरी मां सुनन्दा के पुत्र बाहुबली के पास एक चतुर दूत भेजा। उस समय बाहुबली पोदनपुर के राजा थे। वह दूत क्रम-क्रम से अनेक देशों को लाघंता हुआ पोदनपुर पहुँचा और वहां द्वारपाल के द्वारा राजा बाहुबली के पास अपने आने की खबर भेजकर राजसभा में पहुँचा। वहां एक ऊंचे

सिंहासन पर बैठे हुए बाहुबली को देखकर इनके मन में संशय हुआ कि 'यह शरीरधारी है या अनंग है? मोहिनी आकृति से युक्त बसंत है? मूर्तिधारी प्रताप है? अथवा घाम तेज का समूह है? दूत ने उन्हें दूर से ही नमस्कार किया। बाहुबली ने भी बड़े भाई भरत के राजदूत का यथोचित सत्कार किया। कुछ समय बाद जब उन्होंने उससे आने का कारण पूछा तब वह विनीत शब्दों में कहने लगा-'नाथ! राज-राजेश्वर भरत ने जो कि भारतवर्ष की छह खण्ड वसुन्धरा को जीत कर वापिस आये हैं, राजधानी अयोध्या से मेरे द्वारा आपके पास सन्देश भेजा है-प्यारे भाई! यह विशाल राज्य तुम्हारे बिना शोभा नहीं देता; इसलिये तुम शीघ्र ही आकर मुझसे मिलो। क्योंकि राज्य वही कहलाता है जो समस्त बन्धु-बान्धवों के भोग का कारण हो। यद्यपि मेरे चरणकमलों में समस्त देव विद्याधर और सामान्य मनुष्य भक्ति से मस्तक झुकाते हैं; तथापि जब तक तुम्हारा प्रतापमय मस्तक उनके पास मन्जाल मराल (मनोहर हंस) की भांति आचरण नहीं करेगा तब तक उनकी शोभा नहीं।' इसके अनन्तर महाराज ने यह भी कहला भेजा है कि 'जो कोई हमारे अमोघ शासन को नहीं मानता उनका शासन यह चक्ररत्न करता है।' जब दूत संदेश सुना कर चुप हो रहा था तब कुमार बाहुबली मृदु हास्य सहित बोले-'ठीक, तुम्हारे राज-राजेश्वर बहुत ही बुद्धिमान मालूम होते हैं। उन्होंनें अपने संदेश में कुछ-कुछ साम, दाम और विशेष कर भेद-दण्ड का कैसा अनुपम समन्वय कर दिखाया है।'' कहते कहते बाहुबली की गंभीरता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उन्होंने गंभीर स्वर में कहा-तुम्हारा राजा भरत बहुत मायाचारी मालूम होता है। उसके मन में कुछ और ही है और संदेश कुछ और ही भेज रहा है। यदि दिग्विजयी भरत सचमुच में सुर-विजयी है तो फिर दर्भ-कुशा के आसन पर बैठ कर उनकी आराधना क्यों करता था? इसी तरह यदि उसकी सेना अजेय थी तो वह म्लेच्छों के समर में लगातार सात दिन तक क्यों कष्ट उठाती रही? पूज्य पिताजी ने मुझमें और उसमें समान रूप से राजनपद का प्रयोग किया था। फिर उसके साथ 'राजराजेश्वर' का प्रयोग कैसा? सचमुच तुम्हारा राजा चक्री है, कुम्हार है; उसे चक्र घुमाने का खूब अभ्यास है। इसलिए वह अनेक पार्थिव घड़े बनाता रहता है, चक्र ही उसके जीवन का साधन है। उससे जाकर कह दो कि 'यदि तुम अरिचक्र का संहार करोगे तो जीवन-जल-आयु से हाथ धोना पड़ेगा।' भरत के अन्तिम सन्देश

का उत्तर देते समय बाहुबली के ओंठ कांपने लगे थे, आंखें लाल हो गई थीं। उन्होंने दूत से कहा–"जाओ, तुम्हारा भरत संग्रामस्थल में मेरे समय ताण्डव नृत्य रच कर अपना 'भरत-नट' नाम सार्थक करे। मैं किसी तरह उसकी सेवा स्वीकार नहीं कर सकता।" उक्त उत्तर के साथ बाहुबली ने दूत को विदा किया और युद्ध के लिए सैना तैयार की। इधर दूत ने आकर जब भरत से ज्यों के त्यों सब सामाचार कह सुनाये तब वे भी युद्ध के लिये सेना लेकर पोदनपुर पहुँचे। भाई-भाई की यह लड़ाई किसी को अच्छी नहीं लगी। दोनों पक्षों के बुद्धिमान मंत्रियों ने दोनों को लड़ने से रोका, पर राज्यलिप्सा और अभिमान से भरे हुए उनके हृदय में किसी के भी वचन स्थान न पा सके। अगत्या दोनों ओर के मंत्रियों ने एकमत हो भरत और बाहुबली से निवेदन किया कि इस युद्ध में सेना का व्यर्थ संहार होगा; इसलिए उत्तम है आप दोनों परस्पर युद्ध करें एवं सैनिक खड़े चुपचाप तमाशा देखें। आप सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध, फिर जल-युद्ध और अन्त में मल्लयुद्ध ही करें। इन तीनों युद्धों में जो हार जावेगा वही पराजित कहलावेगा। मंत्रियों के सुझाव दोनों भाईयों को योग्य प्रतीत हुए; इसलिये उन्होंने अपनी-अपनी सेना को युद्ध करने से रोक दिया। निश्चयानुसार सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध करने के लिये दोनों भाई युद्ध-भूमि में उतरे। दृष्टि-युद्ध का नियम यह था कि "दोनों विजिगीषु एक दूसरे की आंखों की ओर देखें; इस प्रकार देखते हुए जिसके पलक पहले झपक जावे वही पराजित कहलावे।" यहां इतना ध्यान रखिये कि भरत का शरीर पांच सौ धनुष ऊंचा था और बाहुबली का पांच सौ पच्चीस। इसलिये दृष्टि-युद्ध के समय भरत को ऊपर की ओर देखना पड़ता था और बाहुबली को नीचे की ओर। वायु भरने से भरत के पलक पहले झपक गये-विजयलक्ष्मी बाहुबली को प्राप्त हुई। इसके अनन्तर जल-युद्ध के लिये दानों भाई तालाब में प्रविष्ट हुए। जल-युद्ध का नियम था कि "दोनों एक दूसरे पर पानी फेंके; जो पहले रुक जावेगा वही पराजित कहलावेगा।" बाहुबली ऊंचे थे, इसलिये वे जो जल-पुंज निक्षेप करते थे वह भरत के सारे शरीर पर पड़ते थे और भरत जो जल-पुंज निक्षेप करते थे वह बाहुबली को छू भी न सकते थे। निदान, बाहुबली ही विजय हुए। अन्त में मल्ल-युद्ध के लिए दोनों वीर प्रस्तुत हो युद्ध-स्थल में उतरे। मल्ल-युद्ध देखने के लिए समागत देव और विद्याधरों के विमानों से आकाश भर गया था और पृथ्वी-तल पर असंख्य

मनुष्य-राशि दिख रही थी। देखते-देखते बाहुबली ने भरत को उठाकर चक्र की भांति आकाश में घुमा दिया जिससे बाहुबली का जयनाद समस्त आकाश में गूंज उठा। चक्रवर्ती भरत को अपना अपमान सह्य नहीं हुआ; इसलिए उन्होंने क्रोध में आकर भाई बाहुबली के ऊपर सुदर्शन चक्र चला दिया जो कि दिग्विजय के समय किसी के ऊपर नहीं चलाया गया था। पुण्य के प्रताप से चक्ररत्न, बाहुबली कुमार का कुछ भी न बिगाड़ सका, वह उनकी तीन प्रदक्षिणाएं देकर भरत के पास वापिस लौट आया। जब भरत ने चक्र चलाया था तब सब ओर से 'धिक्-धिक्' की ध्वनि आ रही थी। बड़े भाई भरत का यह नृशंस व्यवहार देखकर कुमार बाहुबली का मन संसार से एकदम उदास हो गया। उन्होंने सोचा कि 'मनुष्य, राज्य आदि कि लिप्सा से क्या-क्या अनुचित काम नहीं कर बैठते। जिस राज्य के लिये भरत और मैंने इतनी विड़म्बना की है, अन्त में उसे छोड़कर चला जाना पड़ेगा'-इत्यादि विचार कर उन्होंने अपने पुत्र महाबली को राज्य-भार सौंप कर जिनदीक्षा ले ली। वे एक वर्ष तक खड़े-खड़े ध्यान-मग्न रहे, उनके पैरों में अनेक वन-लताएं और सांप लिपट गये थे; फिर भी वे ध्यान से विचलित नहीं हुए। एक वर्ष के बाद उन्हें दिव्यज्ञान, केवलज्ञान प्राप्त हो गया; जिसके प्रताप से वे तीनों कालों की बात और तीनों लोकों को एक साथ जानने और देखने लगे थे और अन्त में सबसे पहले कामदेव मोक्ष-धाम को गये।

इधर जब क्रोध का वेग शान्त हुआ तब भरत भी बाहुबली के बिना बहुत दु:खी हुए। किन्तु उपाय ही क्या था? समस्त पुरवासी और सेना के साथ लौटकर उन्होंने अयोध्या में प्रवेश किया। वहां समस्त राजाओं ने मिलकर भरत का राज्याभिषेक किया, और उन्हें सम्राट-राजाधिराज के रूप में स्वीकार किया। अब वे निष्कंटक होकर समस्त पृथ्वी का शासन करने लगे। सम्राट भरत ने राज्य-रक्षा के लिये समस्त राजाओं को राज-धर्म, क्षत्रिय-धर्म का उपदेश दिया था। जिसके अनुसार प्रवृत्ति करने से राजा और प्रजा सभी लोग सुखी रहते थे। राजा प्रजा की भलाई करने में संकोच नहीं करते थे और प्रजा, राजा की भलाई में प्राण देने के लिये भी तैयार रहते थे। इस तरह महाराज भरत स्त्री-रत्न सुभद्रा के साथ नाना प्रकार के भोग भोगते हुए सुख से समय बिताते थे।

एक दिन उन्होंने विचारा कि "मैंने जो इतनी अधिक सम्पत्ति इकट्ठी की है, उसका क्या होगा? बिना दान किये इसकी शोभा नहीं, पर दान दिया भी किसे जावे? मुनिराज तो संसार से सर्वथा निस्पृह हैं; इसलिये वे न तो धन-धान्य आदि का दान ले सकते हैं, न उन्हें देने की आवश्यकता भी है। वे केवल भोजन की इच्छा रखते हैं, सो गृहस्थ उनकी इच्छा पूर्ण कर देते हैं। हां गृहस्थ धन-धान्य का दान ले सकते हैं, पर अव्रती गृहस्थों को दान देने से लाभ ही क्या होगा? इसलिए अच्छा हो जो प्रजा में से कुछ दान-पात्रों का चुनाव किया जावे; जो योग्य हों उन्हें दान देकर इस विशाल सम्पत्ति को सफल बनाया जावे। वे लोग दान लेकर आजीविका की चिन्ताओं से निर्मुक्त हो धर्म का प्रचार करेंगे और पठन-पाठन की प्रवृत्ति करेंगे।" ये सोचकर उन्होंने किसी व्रत के दिन प्रजा को राज-मन्दिर में आने के लिए आमंत्रित किया। राज-मन्दिर के रास्ते में हरी-हरी दूब लगवा दी, जब व्रतधारी प्रजा मन्दिर के द्वार पर पहुँच कर वहां हरी दूब देखी तब वे अपने व्रत की रक्षा के लिए आगे न बढ़, वहीं पर खड़े रह गये। पर जो अव्रती थे वे पैरों से दूब को कुचलते हुए भीतर पहुँच गये। भरत ने जब व्रती मनुष्यों को बाहर खड़े हुए देखा तो दूसरे प्रासुक रास्ते से बुलाकर उनका खूब सत्कार किया। उस समय व्रती मनुष्यों को भरत महाराज ने गृहस्थोपयोगी समस्त क्रियाकाण्ड, संस्कार, आवश्यक कार्य आदि का उपदेश देकर यज्ञोपवीत प्रदान किये और जगत् में उन्हें वर्णोत्तम ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध किया। पाठक भूले न होंगे कि पहले भगवान वृषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थापना की थी, और अब भरत ने वर्णोत्तम ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है। इस तरह सृष्टि की लौकिक और धार्मिक व्यवस्था के लिए चार वर्णों की स्थापना हुई थी। भरत ने ब्राह्मणों के लिए अनेक वस्त्राभूषण प्रदान किये और उनकी आजीविका के समुचित प्रबन्ध कर दिये। धीरे-धीरे ब्राह्मणों की संख्या बढ़ती गई। वे आजीविका आदि की चिन्ता से निर्मुक्त हो स्वतंत्र चित्त से शास्त्रों का अध्ययन और जैन-धर्म का प्रचार करते थे। वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन न हो, इस बात का सम्राट बहुत ख्याल रखते थे। उस समय क्षत्रिय प्रजा का पालन करते थे, वैश्य व्यापार के द्वारा सबकी आर्थिक चिन्ता दूर करते थे, शूद्र एक दूसरे की सेवा करते थे और ब्राह्मण पठन-पाठन का प्रचार करते थे। कोई अपने अपने कर्मों में व्यतिक्रम नहीं करने पाते थे; इसलिए सब लोग

सुख-शांति से जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन भरत महाराज ने रात्रि के पिछले पहर में कुछ अद्‌भुत स्वप्न देखे जिससे उनके चित्त में बहुत कुछ उद्वेग पैदा हुआ। स्वप्नों का निश्चित फल जानने के लिए उन्होंने किसी और से नहीं पूछा, वे सीधे जगत्पूज्य भगवान आदिनाथ के समवसरण में पहुँचे। वहाँ उन्होंने गंधकुटी में विराजमान जगद्‌गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और जल, चंदन आदि से उनकी पूजा की; पूजा कर चुकने के बाद भरत ने पूछा- 'हे त्रिभुवनगुरो! धर्म-मार्ग के प्रवर्तक आपके रहते हुए भी मैंने अपनी बुद्धि-मन्दता से एक ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि की है; उससे कुछ हानि तो न होगी?' यह कहकर रात्रि के देखे स्वप्न भी कह सुनाये और उनके फल जानने की इच्छा प्रकट की। भरत का प्रश्न समाप्त होते ही भगवान ने दिव्य वाणी में कहा-

पूजा द्विजानां श्रृणु वत्स ! साध्वी, कालान्तरे प्रत्युत दोष हेतुः।
काले कलौजाति मदादिमेते, बैरं करिष्यन्ति यतः सुमार्गे॥-अर्हदास

वत्स! यद्यपि इस समय ब्राह्मणों की पूजा श्रेयस्करी है, उससे कोई हानि नहीं है; तथापि कालांतर में वह रोष का कारण होगी। यही लोग कलिकाल में समीचीन मार्ग के विषय में जाति आदि अहंकार से विद्वेष करेंगे। यह सुनकर भरत ने कहा-'यदि ऐसा है, तब मुझे इन्हें विध्वंस (नष्ट) करने में क्या देर लगेगी? मैं शीघ्र ही ब्राह्मण वर्ण को मिटा दूँगा।' तब उन्होंने कहा नहीं, धर्म-सृष्टि का अतिक्रम करना उचित नहीं है, इसके बाद उन्होंने जो स्वप्नों का फल बतलाया था, वह यह है- 1. 'ऐ वत्स! पृथ्वीतल में विहार करने के बाद पर्वत शिखरों पर बैठे हुए तेईस सिंहों के देखने का फल यह है कि प्रारम्भ से तेईस तीर्थंकरों के समय में दुर्णय की उत्पत्ति नहीं होगी पर जो तुमने दूसरे स्वप्न में 2. एक सिंह-बालक के पास हाथी खड़ा देखा है, उससे मालूम होता है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में कुलिंगी साधु अनेक दुर्णय प्रकट करेंगे।

3. हाथी के भार से जिसकी पीठ भग्न हो गई है ऐसे घोड़े को देखने से यह प्रकट होता है कि दुःषमा पंचम काल के साधु तप का भार सहन नहीं कर सकेंगे। 4. सूखे पत्ते खाते हुए बकरों का देखना यह बतलाता है कि कालिकाल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जावेंगे।

5. मदोन्मत्त हाथी की पीठ पर बैठा हुआ बन्दर बतलाता है कि दु:षमा काल में अकुलीन मनुष्य राज्यशासन करेंगे।

6. कौओं के द्वारा उल्लुओं का मारा जाना बतलाता है कि कालान्तर में मनुष्य सुखद जैन धर्म को छोड़कर दूसरे मतों का अवलम्बन करने लगेंगे।

7. नृत्य करते हुए भूतों के देखने से मालूम होता है कि आगे चलकर प्रजा के लोग व्यन्तरों को ही देव समझकर पूजा करेंगे।

8. जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और आसपास पानी भरा हुआ है, ऐसे तालाब देखने का फल यह है कि कालान्तर में मध्य खण्ड में सद्धर्म का अभाव हो जावेगा और आसपास में स्थिर रहेगा।

9. धूलिधूसर रत्नों के देखने से ज्ञात होता है कि दु:षमा काल में मुनियों के ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होवेंगी।

10. कुत्ते का सत्कार देखना यह बतलाता है कि आगे चलकर व्रत रहित ब्राह्मण पूजे जावेंगे।

11. घूमते हुए जवान बैल के देखने का यह फल है कि मनुष्य युवावस्था में ही मुनिव्रत धारण करेंगे।

12. चन्द्रमा के परिवेष (घेरा) देखने से यह मालूम होता है कि कलिकाल के मुनियों को अवधिज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

13. परस्पर मिलकर जाते हुए बैलों को देखने से प्रकट होता है कि साधु एकाकी अकेले विहार नहीं कर सकेंगे।

14. सूर्य का मेघों में छिप जाना बतलाता है कि पंचमकाल में प्राय: केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।

15. सूखा वृक्ष देखने से 'पुरुष स्त्रियां चरित्र से च्युत हो जावेंगी' यह प्रकट होता है।

16. वृक्षों के जीर्ण (पके हुए) पत्तों के देखने से विदित होता है कि पंचम युग में महौषधियां तथा रस वगैरह नष्ट हो जावेंगे।

इस तरह उन्होंने स्वप्नों का फल बतलाकर भरत आदि समस्त श्रोताओं को विघ्न-शांति के लिये धर्म में दृढ़ रहने का उपदेश दिया। देवाधिदेव वृषभदेव की अमृत वाणी से संतुष्ट होकर भरत महाराज ने विघ्न-शांति के

लिए उनकी पूजा की, स्तुति की, और अन्त में नमस्कार कर अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया।

भरत के मरीचि, अर्ककीर्ति आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे। ग्रंथ-विस्तार के भय से उन सबका यहाँ उपाख्यान नहीं किया जाता है।

एक दिन मेघेश्वर जयकुमार ने जो कि भरत चक्रवर्ती का सेनापति था, संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली और तप की विशुद्धि से मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके जिनेन्द्र वृषभदेव का गणधर बन गया। केवलज्ञान से शोभायमान त्रिभुवनपति वृषभजिनेन्द्र धर्म-क्षेत्रों में धर्म का बीज बोकर और उपदेशामृत की वृष्टि से उसे सींचकर पौष मास के पूर्णमासी के दिन चिर परिचित कैलाश पर्वत पर पहुँचे। वहां उन्होंने योग-निरोध किया, समवसरण में बैठना छोड़ दिया, उपदेश देना बन्द कर दिया। केवल मेरु की तरह अचल होकर आत्म-ध्यान में लीन हो गये। जिस दिन वृषभदेव ने योग-निरोध किया था उसी दिन भरत ने स्वप्न में लोक के अन्त तक लम्बायमान मन्दराचल देखा। युवराज ने, भवरोग नष्ट करने के बाद महौषधि को स्वर्ग जाने के लिए उद्यत देखा; गृहपति ने सकल नर-समूह को मनवांछित फल देकर स्वर्ग जाने के लिये तैयार हुए, कल्पवृक्ष को देखा। प्रधानमंत्री ने, याचकों को अनेक रत्न देकर आगे जाते हुए रत्नद्वीप को देखा, और सुभद्रा देवी ने महादेवी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शोक करती हुई इन्द्राणी को देखा। जब भरत ने पुरोहित से स्वप्नों को फल पूछा तब उसने कहा-'ये सब स्वप्न देवाधिदेवा वृषभनाथ के निर्वाण-प्रस्थान का सूचक है।' इतने में ही आज्ञाकारी 'आनन्द' ने आकर भरत से भगवान् के योग-निरोध का सब समाचार कह सुनाया। चक्रवर्ती भरत उसी समय समस्त परिवार के साथ कैलाश गिरि पर पहुँचे और चौदह दिन तक त्रिलोकीनाथ की पूजा करते रहे।

त्रिलोकीनाथ धीरे-धीरे अपने मन को बाह्य जगत से हटाकर अन्तरात्मा में लगाते जाते थे। उस समय वे कैलाश के शिखर पर पूर्व दिशा की ओर पल्यंकासन से बैठे हुए थे। उनके शरीर का एक रोमांच भी हिलता हुआ नजर नहीं आता था। सब देव, विद्याधर, मनुष्य वगैरह हाथ जोड़े चुपचाप बैठे थे। वह दृश्य न जाने कितना शांतिमय होगा? योग-निरोध किये हुए जब तेरह दिन समाप्त हो गये और माघ कृष्णा चतुर्दशी का मंजुल प्रभात आया, प्राची

दिशा में लालिमा फैल गई, तब उन्होंने शुक्लध्यान-खड्ग के प्रथम प्रहार से बहत्तर कर्म-शत्रुओं को धराशायी बना दिया। अब आप तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुँच गये। वहां पहुँचकर वे 'अयोग केवली' कहलाने लगे। उस समय उनके न वचन योग था, न काय योग और न मनोयोग ही था। उनके इस आंतरिक परिवर्तन का रहस्य बाह्य लोगों को कैसे पता लगता? वे तो उन्हें पूर्व की भांति ही ध्यानारूढ़ देखते रहे। चौदहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए उन्हें बहुत ही थोड़ा ('अ इ उ ऋ लृ') इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना समय हुआ था कि उन्होंने शुक्लध्यान-रूपी तीक्ष्ण तलवार के दूसरे प्रहार से बाकी बचे हुए तेरह कर्म-शत्रुओं को भी धराशायी बना दिया। अब आप सर्वदा के लिये सर्वथा स्वतंत्र हो गये। उनकी आत्मा तत्क्षण में लोकशिखर पर पहुँच गई और शरीर देखते-देखते विलीन हो गया। केवल नख और केश बाकी बचे थे। उसी समय 'जय-ध्वनि' करते हुए आकाश से समस्त देव आये। उन्होंने माया से भगवान का दूसरा शरीर निर्माण कर उसे चन्दन, कर्पूर, लवंग, घतृ आदि से बने हुए कुण्ड में विराजमान किया, फिर अग्निकुमार देव ने अपने मुकुटों के परस्पर संघात से उसमें अग्नि-ज्वाला प्रज्ज्वलित की। उसी समय कुछ गणधर और सामान्य केवली भी मोक्ष पधारे थे; सो देवों ने भगवत्कुण्ड से दक्षिण की ओर 'गणधर कुण्ड' और 'केवली कुण्ड' बनाकर उनमें उनका अग्नि-संस्कार किया था।

आज पवित्र आत्माएं संसार-बन्धन से मुक्त हो गईं। यह सुनकर किस मुमुक्षु प्राणी को अनन्त आनन्द न हुआ होगा? अग्नि शान्त होने पर समस्त देवों ने तीनों कुण्डों से भस्म निकाल कर अपने ललाट, कण्ठ, भुज, शिखर और हृदय में लगा ली। उस समय समस्त देव आनन्द से उन्मत्त हो रहे थे। उन्होंने गा बजाकर मधुर संगीत से मुक्त आत्माओं की स्तुति की, इन्द्र ने आनन्द से 'आनन्द' नाटक किया और सुरगुरु बृहस्पति ने संसार का स्वरूप बतलाया। इस तरह भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाकर देव लोग अपनी-अपनी जगह पर चले गये। पिता के वियोग से भरत को दु:खी देखकर वृषभसेन गणधर ने उन्हें अपने उपदेशामृत से शान्त किया जिससे भरत जी शोकरहित

हो गणधर महाराज को नमस्कार कर अयोध्यापुरी लौट आये।

नाभिराज, मरुदेवी, यशस्वती, सुनन्दा, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि के जीव अपनी-अपनी तपस्या के अनुसार स्वर्ग में देव हुए। पिता के निर्वाण के बाद चक्रवर्ती भरत कुछ समय तक राज्य-शासन करते तो अवश्य रहे, पर भीतर से बिल्कुल उदासीन रहते थे। भगवान वृषभदेव की निर्वाण-भूमि होने के कारण कैलाशगिरि उस दिन से 'सिद्धक्षेत्र' नाम से प्रसिद्ध हो गया। भरत ने वहां पर चौबीस तीर्थंकरों के सुन्दर मन्दिर बनवा कर उनमें मणिमयी प्रतिमाएं विराजमान करायी थीं।

एक दिन वे दर्पण में अपना मुहं देख रहे थे कि उनकी दृष्टि पके बालों पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही उनके हृदय में वैराग्य-सागर लहरा पड़ा। उन्होंने तप को ही सच्चे कल्याण का मार्ग समझकर अर्ककीर्ति को राज्य दे दिया और स्वयं गणीन्द्र वृषभसेन के पास जाकर दीक्षा ले ली। भरत का हृदय इतना अधिक निर्मल था कि उन्हें दीक्षा लेने के कुछ समय बाद ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवली भरत ने भी जगह-जगह घूमकर धर्म का प्रचार किया और अन्त में कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर आत्म-स्वातंत्र्य रूप मोक्ष प्राप्त किया। वृषभसेन, अनन्त विजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर, श्रेयांस, जयकुमार आदि गणधरों ने भी काल-क्रम से मोक्ष लाभ किया। इस तरह प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभनाथ का पवित्र चरित्र पूर्ण हुआ। इनके बैल का चिन्ह है।

2. भगवान श्री अजितनाथ जी

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्र शत्रु र्विद्या विनिर्वान्त कषाय दोषः।
लब्धात्म लक्ष्मी रजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम्॥

-आ. समन्तभद्र

वे आत्म-स्वरूप में लीन, शत्रु और मित्रों को समान रूप से देखने वाले, सम्यक्ज्ञान से कषाय-रूपी शत्रुओं को हटाने वाले, आत्मीय विभूति को प्राप्त हुए और अजित है आत्मा जिनकी ऐसे भगवान अजित जिनेन्द्र मुझे कैवल्य लक्ष्मी से युक्त करें।

पूर्वभव परिचय

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण किनारे पर एक मत्स नाम का देश है। उसमें धन-धान्य से सम्पन्न एक सुसीमा नगर है। वहां किसी समय विमलवाहन नाम का राजा राज्य करता था। राजा विमलवाहन समस्त गुणों से विभूषित था। वह उत्साह, मंत्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से सतत न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। राज्य कार्य करते हुए भी वह कभी आत्म-धर्म संयम, सामायिक आदि को नहीं भूलता था। वह बहुत ही मन्द-कषायी था।

एक दिन राजा विमल को कुछ कारण पाकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वह सोचने लगा-संसार के भीतर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। ये मेरी आत्मा भी एक दिन इस शरीर को छोड़कर चली जावेगी, क्योंकि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध तभी तक रहता है जब तक कि आयु शेष रहती है। यह आयु भी धीरे-धीरे घटती जा रही है; इसलिए आयु पूर्ण होने के पहले ही आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिये।

इस प्रकार विचार कर वह वन में गया और वहां किन्हीं दिगम्बर यती के पास दीक्षित हो गया। उसके साथ और भी बहुत से राजा दीक्षित हुए थे। गुरु के चरणों के समीप रहकर उसने खूब विद्या अध्ययन किया जिससे उसे ग्यारह अंग का ज्ञान हो गया था। उसी समय उसने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिंतवन भी किया था जिससे उनके 'तीर्थंकर' नामक महापुण्य प्रकृति का बंध भी हो गया था।

विमलवाहन आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मरकर विजय विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहां उसकी आयु तेतीस सागर की थी। उसका जैसा शरीर शुक्ल था वैसा हृदय भी शुक्ल था। उसे वहां संकल्प मात्र से ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते थे। पहले की तरह वासना से वहां भी उसका चित्त विषयों से उदासीन रहता था। वह यहां विषयानन्द को छोड़कर आत्मानन्द में ही लीन रहता था। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उसे एक बार आहार की इच्छा होती थी और तेतीस पक्ष बाद एक बार श्वासोच्छ्वास हुआ करता था। वहां उसके शरीर की ऊंचाई एक हाथ की थी। अहमिन्द्र विमलवाहन के विजय विमान में पहुँचते ही अवधिज्ञान हो गया था जिससे वह त्रस नाड़ी के भीतर

के परोक्ष पदार्थों को प्रत्यक्ष की तरह स्पष्ट जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान अजितनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

इसी भारत वसुन्धरा पर अत्यन्त शोभायमान एक साकेतपुरी (अयोध्यापुरी) है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय राजा जितशत्रु राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम विजयसेना था। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी आयु जब वहां पर छः माह बाकी रह गई तब यहां राजा जितशत्रु के घर पर प्रतिदिन चार-चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी। वे रत्न इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर बरसाता था। यह अतिशय देखकर जितशत्रु बहुत ही आनन्दित होते थे। इसके बाद जेठ महीने की अमावस के दिन रात्रि के पिछले भाग में जब कि रोहिणी नक्षत्र का उदय था, ब्रह्म मुहूर्त के कुछ समय पहले महारानी विजयसेना ने ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद अपने मुंह में एक मत्त हस्ती को प्रवेश करते हुए देखा।

प्रातः होते ही महारानी ने स्वप्नों का फल जितशत्रु से पूछा सो उन्होंने देशावधि-रूप लोचन से देख कर कहा कि हे देवी! तुम्हारे कोई तीर्थंकर पुत्र होगा। उसी के पुण्य-बल के कारण छह माह पहले से ये प्रतिदिन रत्न बरस रहे हैं और आज आपने ये सोलह स्वप्न देखे हैं ये उसी का संकेत देते हैं। स्वप्नों का फल सुनकर विजयसेना आनन्द से फूली न समाती थी। जिस समय इसने स्वप्न में मुंह में प्रवेश करते हुए गन्ध हस्ती को देखा था उसी समय अहमिन्द्र विमलवाहन का जीव विजय विमान से चयकर उसके गर्भ में अवतीर्ण हुआ। उस दिन देवों ने आकर साकेतपुरी में खूब उत्सव किया था।

धीरे-धीरे गर्भ पुष्ट होता गया, महाराज जितशत्रु के घर वह रत्नों की धारा गर्भ के दिनों में भी पहले की तरह ही बरसती रहती थी। भावी पुत्र के अनुपम अतिशय का ध्यान कर महाराज को बहुत आनन्द होता था। जब गर्भ का समय व्यतीत हो गया तब माघ शुक्ल दशमी के दिन महारानी विजयसेना ने पुत्ररत्न का प्रसव किया। वह पुत्र जन्म से ही मति, श्रुति और

अवधि, इन तीन ज्ञानों से शोभायमान था। उसकी उत्पत्ति के समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। उसी समय देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उसका जन्माभिषेक किया और 'अजित' नाम रखा। बालक अजितनाथ धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बालसुलभ चेष्टाओं से माता-पिता तथा बन्धु वर्ग आदि का मन प्रमुदित करते थे। आपस के खेल-कूद में भी जब इनके भाई इनसे पराजित हो जाते थे तब वे इनका अजित नाम सार्थक समझने लगते थे।

भगवान आदिनाथ को मुक्त हुए पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। उक्त अन्तराल में लोगों के हृदय में धर्म के प्रति जो कुछ शिथिलता-सी हो गयी थी; इन्होंने उसे दूर कर फिर से धर्म का प्रद्योत किया था। इनके शरीर का रंग तपे हुए सुवर्ण के समान था। ये बहुत ही वीर और क्रीड़ा-चतुर पुरुष थे। अनेक तरह की क्रीड़ा करते हुए जब इनके अठारह लाख पूर्व बीत गये तब इन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। महाराज जितशत्रु ने अनेक सुन्दर कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और किसी शुभ मुहूर्त में उन्हें राज्य देकर आप धर्म-सेवन करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए।

राजा अजितनाथ ने राज्य पाकर प्रजा का इस तरह शासन किया कि उनके गुणों से मुग्ध होकर वह महाराज जितशत्रु का स्मरण भी भूल गई। इन्होंने समयोपयोगी अनेक सुधार करते हुए त्रेपन लाख पूर्व तक राज्य-लक्ष्मी का भोग किया अर्थात् राज्य किया।

एक दिन राजा अजितनाथ महल की छत पर बैठे हुए थे कि उन्होंने चमकती हुई बिजली को अचानक नष्ट होते देखा। उसे देखकर उनका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे कि "संसार के हर एक पदार्थ इसी बिजली की तरह क्षणभंगुर है। मेरा यह सुन्दर शरीर और यह मनुष्य पर्याय भी एक दिन इसी तरह नष्ट हो जावेगी। जिस लिए मेरा जन्म हुआ था उसके लिये तो मैंने अभी तक कुछ भी नहीं किया। खेद है कि मैंने सामान्य अज्ञ मनुष्यों की तरह अपनी आयु का बहुभाग व्यर्थ ही खो दिया। अब आज से मैं सर्वथा विरक्त होकर दिगम्बर मुद्रा को धारण कर वन में रहूँगा। क्योंकि इन रंग-बिरंगे महलों में रहने से चित्त को शांति नहीं मिल सकती।" इधर

इनके चित्त में ऐसा विचार हो रहा था उधर लौकान्तिक देवों के आसन कांपने लगे थे। आसन कांपने से उन्हें निश्चय हो गया था कि 'तीर्थंकर अजितनाथ का चित्त वैराग्य की ओर बढ़ रहा है।' निश्चयानुसार वे शीघ्र ही इनके पास आये और तरह-तरह के सुभाषितों से इनकी वैराग्य-धारा को अत्यधिक प्रवर्द्धित कर अपने-अपने स्थान पर चले गये। उसी समय तप कल्याणक का उत्सव मनाने के लिये वहां समस्त देव आ उपस्थित हुए। सबसे पहले तीर्थंकर ने अभिषेकपूर्वक 'अजितसेन' नाम के पुत्र के लिये राज्य का भार सौंपा और फिर अनाकुल हो वन में जाने के लिये तैयार हो गये। देवों ने उनका भी तीर्थजल से अभिषेक किया और तरह-तरह के मनोहर आभूषण पहिनाये अवश्य, पर उनकी इस रागवर्द्धक क्रिया में तीर्थंकर को कुछ भी आनन्द नहीं मिला। वे 'सुप्रभा' नामक पालकी पर सवार हो गये। पालकी को मनुष्य, विद्याधर और देवलोग क्रम-क्रम से अयोध्या के सहेतुक वन में ले गये। वहां वे सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे एक सुन्दर शिला पर पालकी से उतरे। जिस शिला पर वे उतरे थे उस पर देवांगनाओं ने रत्नों के चूर्ण से कई तरह के चौक पूरे थे। सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे विराजमान द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ ने पहले सबकी ओर विरक्त दृष्टि से देखकर दीक्षित होने के लिये सम्मति ली। फिर पूर्व की ओर मुहंकर "नमः सिद्धेभ्यः" कहते हुए वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये और पंच मुष्टियों से केश उखाड़ डाले। इन्द्र ने केशों को उठा कर रत्नों के पिटारे में रख लिया और उत्सव समाप्त होने के बाद क्षीरसागर में क्षेपण कर आया। दीक्षा लेते समय उन्होंने षष्ठोपवास धारण किया। जिस दिन राजा अजितनाथ ने दीक्षा धारण की थी उस दिन माघ मास के शुक्ल पक्ष की नवमी थी और रोहिणी नक्षत्र का उदय था। दीक्षा सायंकाल के समय ली थी। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने दीक्षा धारण की थी। उस समय तीर्थंकर अजित की विशुद्धता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उन्हें दीक्षा लेते समय ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था।

जब प्रथमयोग समाप्त हुआ तब वे आहार के लिये अयोध्यापुरी में आये। वहां ब्रह्मा नामक श्रेष्ठी ने उन्हें उत्तम आहार दिया जिससे उसके घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। अजितनाथजी आहार लेकर चुपचाप वन को चले गये और वहां आत्म-ध्यान में लीन हो गये। योग पूरा होने पर वे

आहार के लिये नगरों में जाते और आहार लेकर पुनः वन में लौट आते थे। इस तरह बारह वर्ष तक उन्होंने कठिन तपस्याएं की, जिनके फलस्वरूप उन्हें पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन सायंकाल के समय रोहिणी नक्षत्र के उदय में केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अब महामुनि अजित अपने दिव्य ज्ञान (केवलज्ञान से) तीनों लोकों के सब चराचर पदार्थों को एक साथ जानने लगे। देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा पाकर धनपति कुबेर ने विशाल समवसरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी के मध्य भाग में अजित भगवान् विराजमान हुए। जब वह सभा देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि से खचाखच भर गई तब उन्होंने अपनी दिव्य-ध्वनि के द्वारा सबको धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर लोग आत्मधर्म में पुनः दृढ़ हो गये। अजित केवली ने देश-विदेश में घूम कर धर्म का खूब प्रचार किया था।

उनके सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे, तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिवाले, बारह हजार चार सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तर वादी थे। इस तरह सब मिलाकर एक लाख तपस्वी थे। प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकाएं और असंख्य देव-देवियां थीं और असंख्यात तिर्यंच थे।

समवरण भूमि में वे सतत आठ प्रातिहार्यों से युक्त रहते थे। अन्त में जब उनकी आयु एक महीने को शेष रह गयी तब वे श्रीसम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहां एक माह का योग धारण कर मौनपूर्वक खड़े हो गये। उस समय उन्होंने प्रति समय शुक्लध्यान के प्रताप से कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा की। दण्ड, प्रतर आदि समुद्घात से अन्य कर्मों की स्थिति बराबर की और फिर अन्तिम व्युपरत क्रिया-निवृत्ति शुक्लध्यान से समस्त अघातिया कर्मों का क्षय कर चैत्र शुक्ल पंचमी के दिन रोहिणी नक्षत्र के उदय में प्रातःकाल के समय मुक्ति-धाम को प्राप्त किया। वे सदा के लिये सुखी, स्वतंत्र, हो गये।

भगवान अजितनाथ की कुल आयु 72 बहत्तर लाख पूर्व की थी और

शरीर की ऊंचाई चार सौ पचास धनुष की थी। इनके समय में सगर नाम का द्वितीय चक्रवर्ती हुआ था। उसने भी आदि चक्रधर भरत की तरह भरतक्षेत्र के छह खण्डों को विजय किया था। अप्रासंगिक होने से यहां उसका विशेष चरित्र नहीं लिखा गया है। भगवान अजितनाथ के हाथी का चिन्ह था।

3. भगवान श्री सम्भवनाथ जी

त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसी रिहा कस्मिक एक वैद्यो, वैद्यो यथाऽनाथ! रुजां प्रशान्त्यै॥

–स्वामी समन्तभद्र

हे नाथ! जिस तरह रोगों की शान्ति के लिये कोई वैद्य होता है उसी तरह आप सम्भवनाथ भी उत्पन्न हुए तृष्णा रोग से दुःखी होनेवाले मनुष्य की रोग-शान्ति के लिये अकस्मात् प्राप्त हुए वैद्य थे।

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है उसमें एक क्षेमपुर नाम का नगर है। क्षेमपुर का जैसा नाम था उसमें वैसे ही गुण थे अर्थात् उसमें सतत क्षेम-मंगलों का ही निवास रहता था। वहां के राजा का नाम विमलवाहन था। विमलवाहन ने अपने बाहुबल से समस्त विरोधी राजाओं को वश में कर लिया था। शरद ऋतु के इन्दु की तरह उसकी निर्मल कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। वह जो भी कार्य करता था वह मंत्रियों की सलाह से ही करता था; इसलिये उसके समस्त कार्य सुदृढ़ हुआ करते थे।

एक दिन राजा विमलवाहन किसी कारणवश संसार से विरक्त हो गये जिससे उन्हें पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग काले भुजंगों की तरह दुःखदायी मालूम होने लगे। वे सोचने लगे कि 'यमराज किसी भी छोटे बड़े का ध्यान नहीं रखता। अच्छे से अच्छे और दीन से दीन मनुष्य इसकी कराल दंष्ट्रातल के नीचे चले जाते हैं। जब ऐसा है तब क्या मुझे छोड़ देगा? इसलिये जब तक मृत्यु निकट नहीं आती तब तक तपस्या आदि से आत्म-हित की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिये। ऐसा विचार कर वह विमलकीर्ति नामक औरस-पुत्र के

लिये राज्य देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के पास दीक्षित हो गया। उनके समीप में रह कर उसने कठिन-कठिन तपस्याओं से आत्म-शुद्धि की और निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन करते-करते ग्यारह अंग तक का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मुनिराज विमलवाहन यही सोचा करते थे कि इन दु:खी प्राणियों का संसार-सागर से कैसे उद्धार हो सकेगा? यदि मैं इनके हित-साधन में कृतकार्य हो सका तो अपने को धन्य समझूँगा। इसी समय उन्होंने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे उन्हें 'तीर्थंकर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर पहले ग्रैवेयक के सुदर्शन नामक विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तेईस सागर प्रमाण थी, शरीर की ऊंचाई साठ अंगुल थी और रंग धवल था। वे वहां तेईस पक्ष में श्वांस लेते थे और तेईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार करते थे। वे स्त्री संसर्ग से सदा रहित थे। उनके जन्म से ही अवधिज्ञान था, और शरीर में अनेक तरह की ऋद्धियां थीं। इस तरह वे वहां आनन्द से समय बिताने लगे। यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान संभवनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक श्रावस्ती नाम की नगरी है। उस नगरी की रचना बहुत ही मनोहर थी वहां गगनचुम्बी भवन थे, जिन पर अनेक रंगों की पताकाएं फहरा रही थीं। जगह-जगह पर अनेक सुन्दर वापिकाएं थीं। उन वापिकाओं के तटों पर मराल बाल-क्रीड़ा किया करते थे। उनके चारों ओर अगाध जल से भरी हुई परिखा थी और उसके बाद ऊंची शिखरों से मेघों को छूनेवाला प्राकारकोट था। जिस समय की यह कथा है उस समय वहां दृढ़राज्य नाम के राजा राज्य करते थे। वे अत्यन्त प्रतापी, धर्मात्मा, सौम्य और साधु स्वभाव वाले व्यक्ति थे। उनका जन्म इक्ष्वाकुवंश और काश्यप गोत्र में हुआ था। उनकी महारानी का नाम सुषेणा था। उस समय वहां महारानी सुषेणा के समान सुन्दरी स्त्री दूसरी नहीं थी। वह अपने रूप से देवांगनाओं को भी तिरस्कृत करती थीं; तब नर-नारी एवं देवियों की बात ही क्या थी? दोनों दम्पति सुखपूर्वक अपना समय बिताते थे; उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी।

ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी वहां की आयु जब केवल छह माह की बाकी रह गई, तब से राजा दृढ़राज्य के घर पर प्रतिदिन साढ़े दस करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी। रत्न-वर्षा के सिवाय और भी अनेक शुभ शकुन होने लगे थे जिससे राजदम्पति आनन्द से फूले न समाते थे। एक दिन रात्रि के पिछले पहर में महारानी सुषेणा ने सोते समय ऐरावत हाथी आदि को लेकर सोलह स्वप्न देखे और स्वप्न देखने के बाद मुंह में प्रवेश करते हुए एक गन्ध-सिन्दूर-मत्त हाथी को देखा। प्रातः होते ही उसने पतिदेव से स्वप्न का फल पूछा। राजा दृढ़राज्य ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर पुत्र ने अवतार लिया है। पृथ्वीतल में तीर्थंकर के जैसा पुण्य किसी का नहीं होता। देखो न! वह तुम्हारे गर्भ में आया भी नहीं था कि छह माह पहले से प्रतिदिन असंख्य रत्नराशि बरस रही है। कुबेर ने इस नगरी को कितना सुन्दर बना दिया है। यहां कि प्रत्येक वस्तु कितनी मोहक हो गई है कि उसे देखते जी नहीं अघाता। यहां राजा, रानी को स्वप्नों का फल बतला रहे थे, वहां भावी पुत्र के पुण्य प्रताप से देवों के अचल आसन भी हिल गये जिससे समस्त देव तीर्थंकर का गर्भावतार समझकर उत्सव मनाने के लिये श्रावस्ती आये और क्रम-क्रम से राज-मन्दिर में पहुँच कर उन्होंने राजा-रानी की खूब स्तुति की तथा उन्हें स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से खूब सत्कृत किया। गर्भावतार का उत्सव मनाकर देव अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये और कुछ देवियों को जिन-माता की सेवा के लिये वहीं पर छोड़ गये। देवियों ने गर्भ-शुद्धि आदि को लेकर अनेक तरह से महारानी सुषेणा की शुश्रुषा करनी प्रारम्भ कर दी। राजदम्पति भावी पुत्र के उत्कर्ष का ख्याल कर मन ही मन हर्षित होते थे। जिस दिन अहमिन्द्र (भगवान संभवनाथ के जीव) ने सुषेणा के गर्भ में अवतार लिया था; उस दिन फाल्गुन कृष्ण अष्टमी का दिन था, मृगशिर नक्षत्र का उदय था और प्राची दिशा में बाल-सूर्य कुमकुम रंग बरसा रहा था। देव-कुमारियों की शुश्रुषा और विनोद-भरी वार्ताओं से जब रानी के गर्भ के दिन सुख से बीत गये; उन्हें गर्भ-सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं हुआ; तब कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन मृगशिर नक्षत्र में पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही आकाश से असंख्य देव-सेनायें श्रावस्ती नगरी के महाराज दृढ़राज्य के घर आईं। इन्द्र ने इन्द्राणी को भेजकर प्रसूति-गृह से जिन बालक को मंगवाया।

पुत्र-रत्न की स्वाभाविक सुन्दरता देखकर इन्द्र आनन्द से फूला न समाता था। आई हुई देव-सेनाओं ने पहले के दो तीर्थंकरों की तरह मेरुपर्वत पर ले जाकर इनका भी जन्माभिषेक किया और वहां से वापिस आकर पुत्र को माता-पिता को सौंप दिया। बालक को देखने मात्र से ही 'शम्' अर्थात् सुख शांति प्राप्त होती थी; इसलिए इन्द्र ने उनका 'संभवनाथ' नाम रखा था। संभवनाथ अपने दिव्य गुणों से संसार में भगवान कहलाने लगे। देव और देवेन्द्र जन्म के समस्त उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

बालक संभवनाथ दोयज की चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल-सुलभ अनर्गल लीलाओं से माता-पिता, बन्धु-बान्धवों को सतत हर्षित किया करते थे। उनके शरीर का रंग सुवर्ण के समान पीला था। भगवान् अजितनाथ से तीस करोड़ वर्ष बाद उनका जन्म हुआ था। इस अन्तराल के समय धर्म के विषय में जो कुछ शिथिलता आ गई थी वह इनके उत्पन्न होते ही धीरे-धीरे विनष्ट हो गई।

इनकी पूर्ण आयु साठ लाख पूर्व की थी और शरीर की ऊंचाई चार सौ धनुष प्रमाण थी। जन्म से प्रन्द्रह लाख पूर्व बीत जाने पर इन्हें राज्य-विभूति प्राप्त हुई थी। इन्होंने राज्य पाकर अनेक सामयिक सुधार किये थे। समय की प्रगति देखते हुए आपने राजनीति को पहले से बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्धित किया। पिता दृढ़राज्य ने योग्य कुलीन कन्याओं के साथ इनका विवाह किया; इसलिये वे अनुरूप भार्याओं के साथ सांसारिक सुख भोगते हुए चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांक तक राज्य करते रहे।

एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की सुन्दर शोभा देख रहे थे कि उनकी दृष्टि एक श्वेत मेघखण्ड पर पड़ी। हवा के वेग से क्षण भर में वह मेघ विलीन हो गया-कहीं का कहीं चला गया। उसी समय राजा संभवनाथ के चारित्र मोहनीय के बन्धन ढीले हो गये थे जिससे वे संसार के विषयभोगों से सहसा विरक्त हो गये। वे सोचने लगे कि 'संसार की सभी वस्तुएं इस मेघ-खण्ड के समान क्षणभंगुर हैं, एक दिन मेरा यह दिव्य शरीर भी नष्ट हो जायेगा। मैं जिस स्त्री-पुत्रों के मोह में उलझा हुआ आत्म-हित की ओर प्रवृत नहीं हो रहा हूँ वे एक भी मेरे साथ न जावेगें।' इस तरह राजा संभवनाथ उदासीन होकर वस्तु का स्वरूप विचार ही रहे थे कि इतने में

लौकान्तिक देवों ने आकर उनके विचारों का खूब समर्थन किया। बारह भावनाओं के द्वारा उनकी वैराग्य-धारा को खूब बढ़ा दिया। अपना कार्य समाप्त कर लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक को वापिस चले गये। इधर तीर्थंकर जिन-पुत्र को राज्य देकर वन में जाने के लिये तैयार हो गये। देव और देवेन्द्रों ने आकर इनके तपकल्याणक का उत्सव मनाया। तदनन्तर वे सिद्धार्थ नाम की पालकी पर सवार होकर श्रावस्ती के समीपवर्ती सहेतुक वन में गये। वहां उन्होंने माता-पिता आदि इष्ट-जनों से सम्मति लेकर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी के दिन शालवृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये, पंच-मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले और उपवास की प्रतिज्ञा ले पूर्व की ओर मुंह कर ध्यान धारण कर लिया। उस समय का दृश्य बड़ा ही प्रभावक था। देखने वाले प्रत्येक प्राणी के हृदय पर वैराग्य की गहरी छाप लगती जाती थी। उन्हें दीक्षा के समय ही जो मन:पर्यय ज्ञान हो गया था वही उनकी आत्म-विशुद्धि को प्रत्यक्ष कराने के लिये प्रबल प्रमाण था।

दूसरे दिन उन्होंने आहार के लिये श्रावस्ती नगरी में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही राजा सुरेन्द्रदत्त ने पड़गाह कर विधिपूर्वक आहार दिया। आहार-दान से प्रभावित होकर देवों ने सुरेन्द्रदत्त के घर पंचाश्चर्य प्रकट किये थे। महामुनि संभवनाथ आहार लेकर ईर्या समिति से विहार करते हुए पुन: वन को वापिस चले गये और जब तक छद्मस्थ रहे तब तक मौन धारण कर तपस्या करते रहे। यद्यपि वे मौनी होकर भी उस समय सब जगह विहार करते थे तथापि उनकी सौम्य मूर्ति देखने मात्र से ही अनेक भव्यजीव प्रतिबुद्ध हो जाते थे। इस तरह चौदह वर्ष तक तपस्या करने के बाद उन्हें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन मृगशिर नक्षत्र के उदय होने पर संध्या के समय केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चारों प्रकार के देवों ने आकर उनके ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवरण की रचना की। जिसके मध्य में दिव्य-सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपनी सुललित दिव्य भाषा में सबको धर्मोपदेश दिया। वस्तु का वास्तविक रूप समझाया, संसार का स्वरूप बतलाया, चारों गतियों के दु:ख प्रकट किये और उनसे छुटकारा

पाने के उपाय बतलाए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर असंख्य नर-नारियों ने व्रत-अनुष्ठान धारण किये थे। क्रम-क्रम से उन्होंने समस्त आर्यक्षेत्रों में विहार कर सर्व-धर्म जैन धर्म का प्रचार किया था।

उनके समवरण में चारुषेण आदि एक सौ पांच गणधर थे, दो हजार एक सौ पचास द्वादशांग के वेत्ता थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षक थे, नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे, पन्द्रह हजार केवली थे, बारह हजार एक सौ पचास मन:पर्यय ज्ञानी थे, उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी थे और बारह हजार वादी थे। इन गुणियों से भरा हुआ समवरण बहुत ही भला मालूम होता था। धर्माया आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकाएं, असंख्य देव-देवियां और असंख्यात तिर्यंच उनके समवरण की शोभा बढ़ाते थे। भगवान् सम्भवनाथ अपने दिव्य उपदेश से इन समस्त प्राणियों को हित का मार्ग बतलाते थे।

अन्त में जब आयु का एक महीना बाकी रह गया तब वे विहार बन्द कर सम्मेद शैल की किसी शिखर पर जा विराजमान हुए और हजार मुनियों के साथ प्रतिमा-योग धारण कर आत्म-ध्यान में लीन हो गये। अन्त में शुक्लध्यान के प्रताप से बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मों का नाश कर चैत्र शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय मृगशिर नक्षत्र के उदय में सिद्धिसदन मोक्ष को प्राप्त हुए। देवों ने आकर उनका निर्वाण-महोत्सव मनाया। श्री संभवनाथ तीर्थंकर का चिह्न घोड़ा है।

4. भगवान श्री अभिनन्दननाथ जी

गुणाभिनन्दा-दभि-नन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्ति सखी-मशिश्रियत्।
समाधि तंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य गुणेन चायुजत्॥

-स्वामी समन्तभद्र

जिनेन्द्र! सम्यग्दर्शन आदि गुणों का अभिनन्दन करने से 'अभिनन्दन' कहलाने वाले आपने शान्तिसखी से युक्त दया-रूपी स्त्री का आश्रय किया था और फिर उसकी सत्कृति के लिये ध्यानैकमान होते हुए आप द्विविध अन्तरंग रूप निष्परिग्रहता से युक्त हुए थे।

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावती नामक देश है। उसमें रत्नसंचय नाम का एक मनोहर नगर है। उसमें किसी समय महाबल नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत की सम्पत्तिशाली था। उसके राज्य में सब प्रजा सुखी थी, चारों वर्णों के मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। महाबल प्रकृत महाबल ही था। उसने अपने बाहुबल से समस्त विरोधी राजाओं के दांत खट्टे कर दिये थे। वह सन्धि, विग्रह, यान, संस्थान, आसन और द्वैधीभाव इन छह गुणों से विभूषित था। उसके साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय कभी निष्फल नहीं होते थे। वह उत्साह, मंत्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से युक्त था, जिससे वह हरएक सिद्धियों का पात्र बना हुआ था। कहने का मतलब यह है कि उस समय वहां राजा महाबल की बराबरी करने वाला कोई दूसरा राजा नहीं था। अपनी कान्ति से देवांगनाओं को भी पराजित करने वाली अनेक नर, नारी तथा देवियों के साथ तरह-तरह के सुख भोगते हुए महाबल का बहुत सा समय व्यतीत हो गया।

एक दिन कारण पाकर उसका चित्त विषय-वासनाओं से हट गया जिससे वह अपने धनपाल नामक पुत्र को राज्य देकर विमलवाहन गुरु के पास दीक्षित हो गया। अब मुनिराज महाबल के पास रंचमात्र भी परिग्रह नहीं रहा था। वे सर्दी, गर्मी, वर्षा, क्षुधा आदि के दु:ख समता भावों से सहने लगे। संसार और शरीर के स्वरूप का विचार कर निरन्तर संवेग और वैराग्य-गुण की वृद्धि करने लगे। आचार्य विमलवाहन के पास रह कर उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का विशुद्ध हृदय से चिन्तवन किया जिससे उन्हें 'तीर्थंकर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में वे समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर विजय नाम के पहले अनुत्तर में महा ऋद्धिधारी अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी तेतीस सागर प्रमाण आयु थी, एक हाथ बराबर श्वेत देह थी, वे तेतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते और तैंतीस पक्ष में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते थे। वहां वे इच्छा मात्र से प्राप्त हुई उत्तम द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की अर्चा

करते और स्वेच्छा से मिले हुए देवों के साथ तत्व-चर्चा करके मन बहलाते थे। यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान अभिनन्दन नाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी है जो विश्वबन्धु तीर्थंकरों के जन्म से महापवित्र है। जिस समय की यह वार्ता है उस समय वहां स्वयम्बर राजा राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम सिद्धार्था था। स्वयंबर महाराज वीर-लक्ष्मी के स्वयंवर पति थे। वे बहुत ही विद्वान और पराक्रमी राजा थे। कठिन से कठिन कार्यों को वे अपनी बुद्धिबल से अनायास ही कर डालते थे, जिससे देखने वालों को दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती थी। राज-दम्पत्ति तरह-तरह के सुख भोगते हुए दिन बिताते थे।

ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी आयु जब विजय विमान में छह माह की बाकी रह गई तब से राजा स्वयंबर के घर के आँगन में प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होने लगी। साथ में और भी अनेक शुभ शकुन प्रकट हुए जिन्हें देखकर भावी शुभ की प्रतीक्षा करते हुए राज-दम्पत्ति बहुत ही हर्षित होते थे। इसके अनन्तर महारानी सिद्धार्था ने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन पुनर्वसु नामक नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में सुर, कुञ्जर आदि सोलह स्वप्न देखे और अन्त में अपने मुख में एक श्वेत वर्ण वाले हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः स्वयंबर महाराज ने उनका फल कहा-प्रिये! आज तुम्हारे गर्भ में स्वर्ग से चय कर किसी पुण्यात्मा ने अवतार लिया है-नौ माह बाद तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र होगा। जिसके बल, विद्या, वैभव, आदि के सामने देव देवेन्द्र अपना माथा धुनेंगे। पति के मुंह से भावी पुत्र का माहात्म्य सुनकर सिद्धार्था के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उस समय उसने अपने आप को समस्त स्त्रियों में सारभूत समझा था। गर्भ में स्थित तीर्थंकर बालक के पुण्य प्रताप से देव कुमारियां आ आकर महारानी की शुश्रुषा करने लगीं और चतुर्णिकाय के देवों ने आकर स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से खूब सत्कार किया, खूब उत्सव मनाया, खूब भक्ति प्रदर्शित की। धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूर्ण हो गये तक रानी सिद्धार्था ने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन आदित्य योग और पुनर्वसु नक्षत्र में उत्तम पुत्र उत्पन्न किया। देवों ने मेरुपर्वत पर ले जाकर

रमणीय सलिल से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने तरह-तरह के आभूषण पहिनाये। फिर मेरु पर्वत से वापिस आकर अयोध्यापुरी में अनेक उत्सव मनाये। राजा ने याचकों को मनचाहा दान दिया। इन्होंने राज-बन्धुओं की सलाह से बालक का 'अभिनन्दन' नाम रखा। बालक अभिनन्दन अपनी बाल चेष्टाओं से सबके मन को आनन्दित करता था; इसलिये उसका अभिनन्दन नाम सार्थक ही था। जन्मकल्याणक का महोत्सव मनाकर इन्द्र आदि अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये। पर इन्द्र की आज्ञा से बहुत से देव बालक अभिनन्दन कुमार के मनोविनोद के लिये वहीं पर रह गये। सम्भवनाथ के बाद दस लाख करोड़ सागर बीत चुकने पर भगवान् अभिनन्दननाथ हुए थे। उनकी आयु पचास लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊंचाई तीन सौ पचास धनुष की थी और रंग सुवर्ण की तरह पीला था, उनके शरीर से सूर्य के समान तेज निकलता था। वे मूर्तिधारी पुण्य के समान मालूम होते थे।

जब इनकी आयु के साढ़े बारह लाख वर्ष बीत गये तब महाराज स्वयंबर ने इन्हें राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली। अभिनन्दन स्वामी ने भी राज्य सिंहासन पर विराजमान होकर साढ़े छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग तक राज्य किया।

एक वे महल की छत पर बैठकर आकाश की शोभा देख रहे थे। देखते-देखते अकस्मात् उनकी दृष्टि एक बादलों के समूह पर पड़ी। उस समय वह बादलों का समूह आकाश के मध्यभाग में स्थित था। उसका आकार किसी मनोहर नगर के समान था। महाराज अनिमेष दृष्टि से उसके सौन्दर्य को देख रहे थे। पर इतने में वायु के प्रबल झोंके से वह बादलों का समूह नष्ट हो गया-कहीं का कहीं चला गया। बस, इसी घटना से उन्हें आत्मज्ञान प्रकट हो गया, जिससे उन्होंने राज्य-कार्य से मोह छोड़कर दीक्षा लेने का दृढ़ विचार कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने भी आकर उनके विचारों का समर्थन किया, चतुर निकायों के देवों ने आकर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। अभिनन्दन स्वामी राज्य का भार पुत्र को सौंपकर देव-निर्मित हस्तचित्रा पालकी पर सवार हुए। देव उस पालकी को उठाकर उग्र नामक उद्यान में ले गये। वहां उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के

दिन पुनर्वसु नक्षत्र के उदय में शाम के समय जगतवन्द्य सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर दीक्षा धारण कर ली-बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ दिये और केश उखाड़ कर फेंक दिये। उनके साथ में और भी हजार राजाओं ने दीक्षा धारण की थी। उन सबसे घिरे हुए महामुनि अभिनन्दन अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे। उन्होंने दीक्षा लेते समय बेला अर्थात् दो दिन का उपवास धारण किया था।

जब तीसरा दिन आया तब वे मध्याह्न से कुछ पहले आहार लेने के लिये अयोध्यापुरी में गये। उस समय वे आगे की चार हाथ जमीन देखकर चल रहे थे, किसी से कुछ कहते नहीं थे, उनकी आकृति सौम्य थी, दर्शनीय थी। वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो 'चचाल चित्र' किलकान्चनाद्रि' मेरुपर्वत ही चल रहा हो। महाराज इन्द्रदत्त ने उन्हें पड़गाह कर विधिपूर्वक आहार दिये जिससे उनके घर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। वहां से लौटकर अभिनन्दन स्वामी वन में जा विराजे और कठिन तपस्या करने लगे। इस तरह अठारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रह कर विहार किया।

एक दिन बेला उपवास धारण कर वे शाल वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उसी समय उन्होंने शुक्लध्यान के अवलम्बन से क्षपक श्रेणी में पहुँचे; क्रम-क्रम से आगे बढ़कर दसवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया; फिर बढ़ती हुई विशुद्धि से बारहवें गुणस्थान में पहुँचे, वहाँ अन्तर्मुहूर्त ठहर कर शुक्ल-ध्यान के प्रताप से अवशिष्ट चार घातिया कर्मों का नाश किया जिससे उन्हें पौष शुक्ला चतुर्दशी को संध्या को पुनर्वसु नक्षत्र में अतन्त चतुष्टय-अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य प्राप्त हो गये। उस समय सब इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की, ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। धनपति ने समवशरण की रचना की जिसके मध्य में सिंहासन पर अधर विराजमान होकर पूर्ण ज्ञानी भगवान अभिनन्दननाथ ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा सबको हित का उपदेश दिया। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष-इन सात तत्त्वों का विशद व्याख्यान किया। संसार के दु:खों का वर्णन कर उससे छूटने के उपाय बतलाये। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक प्राणी धर्म में दीक्षित हो गये। वे जो कुछ कहते थे वह विशुद्ध हृदय से कहते थे; इसलिए लोगों के हृदयों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ता

था। आर्यक्षेत्र में जगह-जगह घूम कर उन्होंने सार्व-धर्म का प्रचार किया और संसार-सिन्धु में पड़े हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन दे उन्हें तारने में सहायता प्रदान की।

उनके समवशरण में वज्रनाभि आदि को लेकर एक सौ तीन गणधर थे, दो हजार पांच सौ द्वादशांग के पाठी थे, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक थे, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, सोलह हजार केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार छह सौ मन:पर्यय ज्ञान के धारक थे, इस तरह सब मिलाकर तीन लाख मुनिराज थे। इनके सिवाय मेरुषेणा आदि को लेकर तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक थे, पांच लाख श्राविकाएं थीं। असंख्यात देव-देवियां थीं और थे असंख्यात तिर्यंच।

अनेक जगह विहार करने के बाद वे आयु के अन्तिम समय में सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहां से प्रतिमायोग धारण कर अचल हो बैठ गये। उस समय उनकी दिव्य ध्वनि आदि बाह्य वैभव लुप्त हो गया था। वे हर प्रकार से आत्म-ध्यान में लीन हो गये थे। धीरे-धीरे उन्होंने योगों की प्रवृत्ति को भी रोक लिया था जिससे उनके नवीन कर्मों का आस्रव बिल्कुल बन्द हो गया और शुक्लध्यान के प्रताप से सत्ता में स्थित अघातिया चतुष्क की पचासी प्रकृतियां धीरे-धीरे नष्ट हो गईं। इससे वे वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में प्रात:काल के समय मुक्ति-मन्दिर में जा पधारे। देवों ने आकर उनके निर्वाणकल्याणक का महोत्सव किया।

आचार्य श्री गुणभद्र लिखते हैं कि जो पहले विदेहक्षेत्र के रत्नसंचय नगर में महाबल नाम के राजा हुए फिर विजय अनुत्तर में अहमिन्द्र हुए और अन्त में साकेतपति अभिनन्दन नामक राजा हुए, वे अभिनन्दननाथ स्वामी हम सबकी रक्षा करें। श्री अभिनन्दन भगवान का चिह्न बन्दर है।

5. भगवान श्री सुमतिनाथ जी

रिपुनृप यम दण्डः पुण्डरीकिण्यधीशोहरिरिव रतिषेणी वैजयन्तेऽहमिन्द्रः।
सुमति रमत लक्ष्मीस्तीर्थकृद्यः कृतार्थ सकलगुणसमृद्धो वः स सिद्धिं विदध्यात्॥

-आचार्य गुणभद्र

जो शत्रुरूप राजाओं के लिये यमराज के दण्ड के समान अथवा हरि (इन्द्र) के समान पुण्डरीकिणी नगरी के राजा रतिषेण हुए, फिर वैजयन्त

विमान में अहमिन्द्र हुए वे अपार लक्ष्मी के धारक, कृतकृत्य, सब गुणों से सम्पन्न भगवान सुमतिनाथ तीर्थंकर तुम सबकी सिद्धि करें-तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करें।

पूर्वभव परिचय

दूसरे धातकीखण्ड द्वीप में पूर्वमेरु से पूर्व की ओर विदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तटपर पुष्कलावती नामक देश है। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है जो अपनी शोभा से पुरन्दरपुरी अमरावती को भी जीतती है। किसी समय उसमें रतिषेण नामक राजा राज्य करते थे। महाराज रतिषेण ने अपने अतुलकाय बल से जिस तरह बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया था उसी तरह अनुपम मनोबल से काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य और मोह इन छह अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लिया था। वे बड़े ही यशस्वी थे, दयालु थे, धर्मात्मा थे और थे सच्चे नीतिज्ञ। अनेक प्रकार के विषय भोगते हुए जब उनकी आयु का बहु भाग व्यतीत हो गया तब उन्हें एक दिन किसी कारणवश संसार से उदासीनता उत्पन्न हो गई। ज्योंही उन्होंने विवेकरूपी नेत्र से अपनी ओर देखा त्योंही उन्हें अपने बीते हुए जीवन पर बहुत ही सन्ताप हुआ। वे सोचने लगे-'हाय मैंने अपनी विशाल आयु इन विषय-सुखों के भोगने में ही बिता दी; पर विषय-सुख भोगने से सुख मिला है क्या? इसका कोई उत्तर नहीं है। मैं आज तक भ्रमवश दु:ख के कारणों को ही सुख का कारण मानता रहता हूँ। ओह! इत्यादि विचार कर वे अतिरथ पुत्र को राज्य दे वन में जाकर कठिन तपस्याएं करने लगे। उन्होंने अर्हन्नन्दन गुरु के पास रह कर ग्यारह अंगों का विधिपूर्वक अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का शुद्ध हृदय से चिन्तवन किया जिससे उन्हें 'तीर्थंकर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। मुनिराज रतिषेण आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मर कर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तेतीस सागर वर्ष की थी, शरीर एक हाथ ऊंचा और रंग उज्ज्वल श्वेत था। वे तेतीस हजार वर्ष बाद एक बार मानसिक आहार लेते थे और तेतीस पक्ष में सुरभित श्वास लेते थे। इस तरह वहां जिन-अर्चा और तत्त्व-चर्चाओं से

अहमिन्द्र रतिषेण के दिन सुख से बीतने लगे। यही अहमिन्द्र आगे के भव में कथानक भगवान सुमतिनाथ होंगे। अब कुछ वहां का वर्णन सुनिये जहां आगे चलकर उक्त अहमिन्द्र जन्म धारण करेंगे।

वर्तमान परिचय

पाठकगण, जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र की जिस अयोध्या से परिचित होते आ रहे हैं, उसी में किसी समय मेघरथ नाम के राजा राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम मंगला था। मंगला सचमुच मंगला ही थी। महाराज मेघरथ के सर्व मंगल मंगला के ही आधीन थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी वहां की आयु जब छह माह की बाकी रह गई थी तभी से महाराज मेघरथ के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी थी। श्रावण शुक्ला द्वितीय के दिन मघा नक्षत्र में मंगला देवी ने पिछले भाग में ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे और फिर मुंह में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातः होते ही उसने प्राणनाथ से स्वप्नों का फल पूछा तब उन्होंने अवधिज्ञान से जानकर कहा कि 'आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर बालक ने अवतार लिया है-सोलह स्वप्न उसी की विभूति के परिचायक हैं।' पति के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर और भावी पुत्र के सुविशाल वैभव का स्मरण करके वह बहुत ही सुखी होती थी। उसी दिन देवों ने आकर राजा रानी का खूब यश गाया, खूब उत्सव मनाये। इन्द्र की आज्ञा से सुर-कुमारियां महादेवी मंगला की अनेक प्रकार से शुश्रुषा करती थीं और प्रमोदमय वचनों से उसका मन बहलाये रहती थीं।

नौ महीने बाद चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में महारानी ने पुत्र उत्पन्न किया। पुत्र उत्पन्न होते ही तीनों लोकों में आनन्द छा गया। सबके हृदय आनन्द से उल्लसित हो उठे, कुछ क्षण के लिये नारकी भी मार काट का दुःख भूल गये, भवनवासी देवों के भवनों में अपने आप शंख बज उठे, व्यंतरों के मंदिरों में भेरी की आवाज गूँजने लगी, ज्योतिषियों के विमानों में सिंहनाद हुआ तथा कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टों की ध्वनि फैल गई। मनुष्य-लोक में भी दिशाएं निर्मल हो गईं, आकाश निर्मेघ हो गया, दक्षिण की शीतल और सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बहने लगी; नदी, तालाब

आदि का पानी स्वच्छ हो गया।

अथानन्तर तीर्थंकर के पुण्य से प्रेरे हुए देवलोग बालकर तीर्थंकर को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने क्षीर-सागर के जल से उनका अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने शरीर पोंछकर उन्हें बालोचित उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये और इन्द्र ने स्तुति की। फिर 'जय जय' शब्द से समस्त आकाश को व्याप्त करते हुए अयोध्या आये और बालक को माता-पिता को सौंप कर उन्होंने बड़े ठाट-बाट से जन्मोत्सव मनाया। उसी समय इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक किया था।

पुत्र का अनुपम माहात्म्य देखकर माता-पिता हर्ष से फूले न समाते थे। इन्द्र ने महाराज मेघरथ की सम्मति से बालक का नाम 'सुमति' रखा। उत्सव समाप्त कर देवलोग अपने अपने घर चले गये।

बालक सुमतिनाथ दोयज के चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह बाल-चन्द्र ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था त्यों-त्यों अपनी कलाओं से माता-पिता के हर्ष-सागर को बढ़ाता जाता था। तीर्थंकर सुमतिनाथ, अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर अवतीर्ण हुए थे। उनकी आयु चालीस लाख पूर्व की थी जो उसी अन्तराल में संयुक्त है। शरीर की ऊंचाई तीन सौ धनुष और कान्ति तपे हुये स्वर्ण की तरह थी। उनका शरीर बहुत ही सुन्दर था-उनके अंग-प्रत्यंग से लावण्य फूट-फूट कर निकल रहा था। धीर-धीरे जब उनके कुमारकाल के दस लाख पूर्व व्यतीत हो गये, तब महाराज मेघरथ उन्हें राज्य-भर सौंप कर दीक्षित हो गये।

तीर्थंकर सुमतिनाथ ने राज्य पाकर उसे इतना व्यवस्थित बनाया था कि जिससे उनका कोई भी शत्रु नहीं रहा था। समस्त राजा उनकी आज्ञाओं को मालाओं की तरह मस्तक पर धारण करते थे। उनके राज्य में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप देखने को न मिलते थे। उन्हें निरन्तर प्रजा के हित का ही ध्यान रहता था; इसलिये वे कभी ऐसे नियम नहीं बनाते थे जिनसे कि प्रजा दु:खी हो। महाराज मेघरथ दीक्षित होने के पहले ही उनका पाणिग्रहण (विवाह) योग्य कुलीन कन्याओं के साथ करा गये थे। सुमतिनाथ उन नर-देवियों के साथ अनेक सुख भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते थे। इस तरह राज्य करते हुए जब उनके उन्नीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग

बीत चुके तब किसी दिन कारण पाकर उनका चित्त विषय-वासनाओं से विरक्त हो गया जिससे उन्हें संसार के भोग विरस और दु:खप्रद मालूम होने लगे। ज्योंही उन्होंने अपने अतीत-जीवन पर दृष्टि डाली त्योंही उनके शरीर के रोमांच खड़े हो गये। उन्होंने सोचा-"हाय, मैंने एक मूर्ख की तरह इतनी विशाल आयु व्यर्थ ही गवां दी। दूसरों के हित का मार्ग बतलाऊं, उनका भला करूं-यह जो मैं बाल्यावस्था में सोचा करता था वह सब इस यौवन और राज्य सुख के प्रवाह में प्रवाहित हो गया। जैसे सैकड़ों नदियों का पान करते हुए भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती वैसे इन विषय-सुखों को भोगते हुए भी प्राणियों को तृप्ति नहीं होती। ये विषयाभिलाषाएं मनुष्य को आत्म-हित की ओर अग्रसर होने नहीं देतीं। इसलिये अब मैं इन विषयवासनाओं को जलांजलि देकर आत्म-हित की ओर प्रवृत्ति करता हूँ।"

इधर महाराज सुमतिनाथ विरक्त हृदय से ऐसा विचार कर रहे थे, उधर आसन कांपने से लौकान्तिक देवों को इनके वैराग्य का ज्ञान हो गया था; जिससे वे शीघ्र ही इनके पास आये और अपनी विरक्त वाणी से इनके वैराग्य को बढ़ाने लगे। जब लौकान्तिक देवों ने देखा कि अब इनका हृदय पूर्ण रूप से विरक्त हो चुका है तब वे अपनी-अपनी जगह पर वापिस चले गये और उनके स्थान पर असंख्य देवलोग आ गये। उन्होंने आकर वैराग्य-महोत्सव मनाना प्रारम्भ कर दिया। पहिले जिन देवियों का संगीत, नृत्य तथा अन्य चेष्टाएं राग बढ़ाने वाली होती थीं, आज उन्हीं देवियों की समस्त चेष्टाएं वैराग्य बढ़ा रहीं थीं।

महाराज सुमतिनाथ पुत्र को राज्य देकर देव-निर्मित 'अभया' पालकी पर बैठ गये। देवलोग 'अभया' को अयोध्या के समीपवर्ती सहेतुक नामक वन में ले गये; वहां उन्होंने नर-सुर की साक्षी में जगद्वंद्य सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर वैसाख शुक्ला नवमी के दिन मध्याह्न के समय मघा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करते समय ही वे तेला-तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर चुके थे; इसलिये लगातार तीन दिन तक ध्यानमग्न होकर एक आसान से बैठे रहे। ध्यान के प्रताप से उनकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी; इसलिये उन्हें दीक्षा लेने के बाद ही चौथा मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। जब तीन दिन समाप्त हुए

तब वे मध्याह्न में आहार के लिये सौमनस नगर में गये। वहां उन्हें 'द्युम्नद्युति' राजा ने पड़गाह कर समयानुकूल योग्य आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से राजा द्युम्नद्युति के घर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि सुमतिनाथ आहार लेकर वन को वापिस लौट आये और फिर आत्म-ध्यान में लीन हो गये।

इस तरह कुछ-कुछ दिनों के अन्तराल से आहार ले कठिन तपश्चर्या करते हुए जब बीस वर्ष बीत गये, तब उन्हें प्रियंगु वृक्ष के नीचे, शुक्लध्यान के प्रताप से घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर, चैत्र सुदी एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में सायंकाल के समय लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देव, देवेन्द्रों ने आकर भगवान् के ज्ञानकल्याणक का उत्सव मनाया। अलकाधिपति कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा पाते ही समवशरण की रचना की। उसके मध्य में सिंहासन पर अचल रूप से विराजमान होकर केवली सुमतिनाथ ने दिव्य ध्वनि के द्वारा उपस्थित जनसमूह को धर्म, अधर्म का स्वरूप बतलाया। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के स्वरूप का व्याख्यान किया। भगवान के मुखारविन्द से वस्तु का स्वरूप समझ कर वहां बैठी हुई जनता के मुंह उसी प्रकार हर्षित हो रहे थे जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल हर्षित हो जाते हैं। व्याख्यान समाप्त होते ही इन्द्र ने मधुर शब्दों में उनकी स्तुति की और आर्यक्षेत्रों में विहार करने की प्रार्थना की। उन्होंने आवश्यकतानुसार आर्य क्षेत्रों में विहार कर समीचीन धर्म का खूब प्रचार किया।

भगवान का विहार उनकी इच्छापूर्वक नहीं होता था क्योंकि मोहनीय कर्म का अभाव होने से उनकी हर एक प्रकार की इच्छाओं का अभाव हो गया था। जिस दिशा में भव्य जीवों के विशेष पुण्य का उदय होता था उसी दिशा में मेघों के समान उनका स्वाभाविक विहार हो जाता था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारी उनकी शिष्य-दीक्षा में दीक्षित हो जाते थे।

आचार्य श्री गुणभद्र जी ने लिखा है कि उनके समवसरण में अमर आदि एक सौ सोलह गणधर थे, दो लाख चौवन हजार तीन सौ पचास शिक्षक थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार केवलज्ञानी थे, दस हजार चार सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे, अठारह हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक

थे, और दस हजार चार सौ पचास वादी थे। इस तरह सब मिलाकर तीन लाख बीस हजार मुनि थे। अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं थीं। इनके सिवाय असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच है।

जब उनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब वे सम्मेद शैल पर आये और वहीं योग निरोध कर विराजमान हो गये। वहां उन्होंने शुक्ल ध्यान के द्वारा अघाति चतुष्टय का क्षय कर चैत्र सुदी एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में संध्या समय मुक्ति-मन्दिर में प्रवेश किया। देवों ने सिद्धक्षेत्र सम्मेद शिखर पर आकर उनकी पूजा की और मोक्ष कल्याणक का उत्सव किया। श्री सुमतिनाथ तीर्थंकर का चकवे का चिह्न है।

6. भगवान् श्री पद्मप्रभजी

किं सेव्यं क्रम युग्म मब्जविजया दस्यैव लक्ष्म्यास्पदं
किं श्रव्यं सकलं प्रतीति जनना दस्यैव सत्यं वचः।
किं ध्येयं गुणसंतित श्च्युत मलस्यास्यैव काष्ठाश्रया
दित्युक्त स्तुति गोचरः स भगवान्पद्मप्रभः पातु वः॥

-आचार्य गुणभद्र

"सेवा किसकी करनी चाहिये? कमल को जीतने वाले लक्ष्मी के स्थानभूत भगवान के चरण-युगल की। सुनना क्या चाहिये? सबको विश्वास उत्पन्न करने वाले इन्हीं पद्मप्रभ भगवान के सत्य वचन। ध्यान किसका करना चाहिये? अन्तरहित होने के कारण, निर्दोष इन्हीं पद्मप्रभ महाराज के गुण समूह। इस प्रकार की स्तुति के विषयभूत भगवान पद्मप्रभ तुम सबकी रक्षा करें।"

पूर्वभव परिचय

दूसरे धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दाहिने किनारे पर एक वत्स नाम का देश है। उसके सुसीमा नगर में किसी अपराजित नाम का राजा राज्य करता था। सचमुच में राजा का जैसा नाम था वैसा ही उसका बल था। वह कभी शत्रुओं से पराजित नहीं हुआ। उसकी

भुजाओं में अप्रतिम बल था जिससे उसके सामने रणक्षेत्र में कोई खड़ा भी न हो पाता था। उसके पास जो असंख्य सेना थी वह केवल प्रदर्शन के लिये ही थी; क्योंकि शत्रु लोग उसका असह्य प्रताप के कारण दूर से ही भाग जाते थे। वह हमेशा अपनी प्रजा की भलाई में संलग्न रहता था। राजा अपराजित ने दान दे दे कर दरिद्रों को लखपति बना दिया था। उसकी स्त्रियां अपने अनुपम रूप से सुर-सुन्दरियों को भी पराजित करने वालीं थीं। उन सबके साथ सांसारिक सुख भोगता हुआ वह दीर्घकाल तक पृथ्वी का पालन करता रहा।

एक दिन किसी कारण से उसका चित्त विषय-वासनाओं से हट गया था; इसलिये वह सुमित्र नामक पुत्र को राज्य दे वन में जाकर पिहितास्रव आचार्य के पास दीक्षित हो गया। उसने आचार्य के पास रह कर खूब अध्ययन किया और कठिन तपस्याओं से अपनी आत्मा को बहुत कुछ निर्मल बना लिया। उन्हीं के पास में रहते हुए उसने दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता आदि सोलह भावनाओं को चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लिया था। जब उसकी आयु समाप्त होने को आई तब वह समस्त बाह्य पदार्थों से मोह हटाकर शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन हो गया; जिससे मर कर नवमें ग्रैवेयक के 'प्रीतिंकर' विमान में ऋद्धिधारी अहमिन्द्र हुआ। वहां पर उसकी आयु इकतीस सागर की थी, शरीर दो हाथ ऊंचा था, लेश्या (शरीर का रंग) श्वेत वर्ण था। वह इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था और इकतीस पक्ष में एक बार सुगंधित श्वांस ग्रहण करता था उसे जन्म से ही अवज्ञान प्राप्त था जिससे वह ऊपर विमान के ध्वजा-दण्ड तक, और नीचे सातवें नरक तक की बात स्पष्ट जान लेता था। प्रवीचार (मैथुन क्रिया) से रहित था। वह वहां निरन्तर जिन-अर्चा और तत्त्व-चर्चा आदि में ही समय बिताया करता था। यही अहमिन्द्र ग्रैवेयक के सुख भोगकर भरतक्षेत्र में पद्मप्रभ नाम का तीर्थंकर होगा। ग्रैवेयक से चय कर वह जहां उत्पन्न होगा, अब वहां का हाल सुनिये।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की कौशाम्बी नगरी में बहुत समय से इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का राज्य चला आ रहा था। कालक्रम से उस समय

वहां धरण राजा राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम सुसीमा था। सुसीमा सब गुणों की अन्तिम सीमा (अवधि) थी। उसमें सभी गुण प्रकर्षता को प्राप्त थे।

जब उक्त अहमिन्द्र की आयु वहां पर केवल छह माह की बाकी रह गई थी तभी से महाराज धरण के घर पर प्रतिदिन आकाश से करोड़ों रत्न बरसने लगे। रत्नों की वर्षा देखकर 'कुछ भला होने वाला है' यह सोचकर राजा अपने मन में अत्यन्त हर्षित होते थे। महारानी सुसीमा ने माघ कृष्णा षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में सोलह स्वप्न देखने के बाद अपने मुंह में प्रवेश करते हुए एक हाथी को देखा। पूछने पर राजा ने रानी को स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहा कि 'आज रात्रि के पिछले पहर में तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर बालक ने प्रवेश किया है। ये स्वप्न उसी के अभ्युदय के सूचक हैं।' पति के मुख से भावी पुत्र का प्रभाव सुनकर महारानी बहुत ही प्रसन्न हुई। उसी दिन सवेरा होते ही देवों ने आकर महाराज और महारानी का खूब सत्कार किया तथा भगवान पद्मप्रभ के गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया।

नौ माह बाद कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन मघा नक्षत्र में माता सुसीमा ने बालक उत्पन्न किया। उसी समय देवों ने बालक को मेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर-सागर के जल से उसका जन्माभिषेक किया और अनेक प्रकार से स्तुति कर माता-पिता को सौंप गये। इन्द्र ने महाराज के घर पर 'आनन्द' नाटक किया तथा अनेक कौतुहलों को उत्पन्न करने वाले ताण्डव नृत्य से सब दर्शकों के मन को हर्षित किया।

बालक के शरीर की प्रभा (कांति) पद्म (कमल) के समान थी, इसलिए इन्द्र ने उसका नाम पद्मप्रभ रखा था। तीर्थंकर पद्मप्रभ बाल-इन्दु के समान प्रतिदिन बढ़ने लगे। उनकी बाल-लीलाएं देख-देख कर माता सुसीमा का हृदय मारे आनन्द से फूल उठता था। उन्हें मति, श्रुति और अवधि, ये तीन ज्ञान तो जन्म से ही थे, पर वे जैसे-जैसे बढ़ते जाते थे, वैसे-वैसे उनमें अनेक गुण अपना निवास करते जाते थे।

भगवान सुमतिनाथ के मोक्ष जाने के बाद नब्बे हजार करोड़ सागर बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अंतराल में युक्त है। इनकी कुल आयु तीस लाख पूर्व की थी, दो सौ पचास धनुष ऊंचा शरीर था। जब आयु का चौथाई भाग अर्थात् साढ़े सात लाख पूर्व वर्ष बीत गये,

तब महाराज धरण उन्हें राज्य देकर आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त हो गये। कुमार पद्मप्रभ भी राज्य पाकर नीतिपूर्वक उसका पालन करने लगे। उनके राज्य में प्रजा को ईति-भीति का भय नहीं था। ब्राह्मण आदि वर्ण अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते थे; इसलिये उस समय लोगों में परस्पर झगड़ा नहीं होता था। उन्होंने अपने गुणों से प्रजा को इतना प्रसन्न कर दिया था, जिससे वह धीरे-धीरे महाराज धरण को भी भूल गई थी। सुन्दरी-सुशीला कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ था; सो उनके साथ मनोरम स्थानों में तरह-तरह की क्रीड़ाएं करते हुए वे यौवन के उपभोग्य समय को आनन्द से बिताते थे। वे धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से ही पालन करते थे। इस तरह इन्द्र की तरह विशाल राज्य का उपभोग करते हुए जब उनकी आयु का बहु-भाग व्यतीत हो गया और सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की बाकी रह गई, तब वे एक दिन दरवाजे पर बंधे हुए हाथी के पूर्व भव सुनकर प्रतिबुद्ध हो गये। उसी समय उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया, जिससे उनके अन्तरंग नेत्र खुल गये। उन्होंने सोचा कि 'मैं जिन पदार्थों को अपना समझ उनमें अनुराग कर रहा हूँ वे किसी भी तरह मेरे नहीं हो सकते, क्योंकि मैं सचेतन जीव-द्रव्य हूँ और ये पर-पदार्थ अचेतन (जड़) पुद्गल-रूप हैं। एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य-रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। खेद है कि मैंने इतनी विशाल आयु इन्हीं भोग-विलासों में बिता दी, आत्म-कल्याण की कुछ भी चिन्ता नहीं की। इस प्रकार संसार के ये समस्त प्राणी विषयाभिलाषा-रूप दावानल में झुलस रहे हैं। उनकी इच्छाएं निरन्तर विषयों की ओर बढ़ रहीं हैं और इच्छानुसार विषयों की प्राप्ति नहीं होने से व्याकुल होते हैं। ओह रे! सब चाहते तो सुख है; पर दुःख के कारणों का संचय करते हैं। अब जैसे भी बने वैसे आत्म-हित कर इनको भी हित का मार्ग बतलाना चाहिये-इधर महाराज पद्मप्रभ हृदय में ऐसा चिन्तवन कर रहे थे; उधर लौकान्तिक देव आकाश से उतर कर उनके पास आये और बारह भावनाओं का वर्णन तथा अन्य समयोपयोगी सुभाषणों से उनका वैराग्य बढ़ाने लगे। जब महाराज का वैराग्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया तब लौकान्तिक देव अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ समझ कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। इस समय दूसरे देवों ने आकर तपकल्याणक का उत्सव मनाना शुरू कर दिया।

महाराज पद्मप्रभु पुत्र को राज्य सौंप कर देवनिर्मित 'निर्वृत्ति' नामक पालकी पर आरूढ़ हो मनोहर नाम के वन में गये। वहां उन्होंने देव, मनुष्य और आत्मा की साक्षीपूर्वक कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन संध्या के समय चित्रा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उन्हें दीक्षा के समय ही मन:पर्यय ज्ञान हो गया था। दो दिन के बाद वे आहार लेने के लिये वर्द्धमानपुर नाम के नगर में गये सो वहां महाराज सोमदत्त ने पड़गाह कर उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से देवों ने सोमदत्त के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये थे। सो ठीक ही है-जो पात्र-दान स्वर्ग-मोक्ष का कारण है उससे पंचाश्चर्यों के प्रकट होने में क्या आश्चर्य है?

महामुनि पद्मप्रभ आहार लेकर पुन: वन में लौट आये और आत्मध्यान में लीन हो गये। इस तरह एक दिन, दो दिन, चार दिन के अन्तर से भोजन लेकर तपस्याएं करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के छ: माह मौनपूर्वक बिताये। फिर क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर शुक्ल ध्यान से घातिया कर्मों का नाश किया, जिससे उन्हें चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन दोपहर के समय चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। कुबेर ने पूर्व की तरह समवरण (धर्म-सभा) की रचना की। उसके मध्य में विराजमान होकर उन्होंने अपने दिव्य उपदेश से सबको सन्तुष्ट किया। जब वे बोलते थे, तब ऐसा मालूम होता था मानो कानों में अमृत की वर्षा हो रही है। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का वर्णन करते हुए जब उन्होंने संसार के दु:खों का वर्णन किया तब प्रत्येक श्रोता के शरीर में रोमांच हो गये थे। उस समय कितने ही मनुष्य गृह-परित्याग कर मुनि हो गये थे; और कितने ही श्रावकों के व्रतों में दीक्षित हुए थे।

इन्द्र की प्रार्थना सुनकर उन्होंने प्राय: समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार किया जिससे सब जगह जैन धर्म का प्रचार खूब बढ़ गया था। वे जहां भी जाते थे वहीं पर अनेक मनुष्य दीक्षित होकर उनके संघ में मिलते जाते थे, इसलिए अन्त में उनके समवसरण में धर्मात्माओं की संख्या बहुत बढ़ गई थी। आचार्य श्री गुणभद्र ने लिखा है कि उनके समवसरण में वज्र, चामर आदि एक सौ दस गणधर थे, दो हजार तीन सौ द्वादशांग के वेत्ता थे, दो लाख

उनहत्तर शिक्षित उपाध्याय थे, दस हजार अवधिज्ञानी थे, बारह हजार केवल ज्ञानी थे, दस हजार तीन सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी थे और नौ हजार छः सौ उत्तरवादी थे। इस तरह सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनिराज थे। रतिषेणा आदि को लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक थे, पांच लाख श्राविकाएं थीं, असंख्य देव-देवियाँ और असंख्यात तिर्यंच थे।

भगवान पद्मप्रभ अन्त में सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहां उन्होंनें एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया और समस्त योगों की प्रवृत्ति को रोककर शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान किया। उस समय दिव्य ध्वनि, विहार आदि सब बन्द हो गया था। इस तरह एक महीने तक प्रतिमा योग धारण करने के बाद वे फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी के दिन चित्रा नक्षत्र में संध्या समय शुक्ल ध्यान के प्रताप से अघातिया कर्मों का क्षय कर मोक्ष-स्थान को प्राप्त हुए। देवों ने आकर उनके निर्वाण-स्थान की पूजा की। भगवान पद्मप्रभ के कमल का चिन्ह है।

7. भगवान श्री सुपार्श्वनाथजी

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च ताप शान्तिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः॥

-स्वामी समन्तभद्र

आत्मा का स्वास्थ्य वही है जिसका फिर अन्त न हो, विनाश न हो। पंचेन्द्रियों का भोग आत्मा का स्वार्थ नहीं है, क्योंकि वह भंगुर है, नश्वर है और तृष्णा का अनुषंग संसर्ग होने के कारण उससे संताप की शान्ति नहीं होती, ऐसा भगवान सुपार्श्वनाथ ने कहा है।

पूर्वभव परिचय

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर सुकच्छ देश है। उसके क्षेमपुर नगर में किसी समय नन्दिषेण राजा राज्य करता था। वह राजा बहुत ही विद्वान एवं चतुर था। उसने अपनी चतुराई से अजेय शत्रुओं को भी वश में कर लिया था। उसका बाहुबल भी अपार था।

वह रणक्षेत्र में नि:शंक होकर गरजता था कि देव, दानव, विद्याधर नर-वीर जिसमें शक्ति हो वह मेरे सामने आवे। उसकी स्त्रियां अपनी रूप-राशि से स्वर्गीय सुन्दरियों को भी लज्जित करती थीं। वह उनके साथ अनेक तरह के श्रृंगार सुख भोगता हुआ अपने यौवन को सफल बनाया करता था। यह सब होते हुए भी वह धर्म-कार्यों में निरन्तर सुदृढ़चित्त रहता था; इसलिए उसके कोई भी कार्य ऐसे नहीं होते थे जो धार्मिक नियमों के विरुद्ध हों। कहने का मतलब यह है कि वह राजा धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करता था।

राज्य करते-करते जब बहुत समय निकल गया तब एक दिन उसे सहसा वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे उसे समस्त भोग काले भुजंग की तरह मालूम होने लगे। उसने अपने विशाल राज्य को विस्तृत कारागार समझा। उसी समय उसका स्त्री-पुत्र आदि से ममत्व छूट गया। उसने सोचा कि 'यह जीव अरहट की घड़ी के समान निरन्तर चारों गतियों में घूमता रहता है। जो आज देव है वह कल तिर्यंच हो सकता है। जो आज राज्य-सिंहासन पर बैठकर मनुष्यों पर शासन कर रहा है वही कल मुट्ठी भर अन्न के लिये घर-घर भटक सकता है। ओह! यह सब होते हुए भी मैंने अभी तक इस संसार से छुटकारा पाने के लिये कोई सुदृढ़ कार्य नहीं किया। अब मैं शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करूंगा।" इत्यादि विचार कर उसने धनपति नामक पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया और स्वयं वन में जाकर अर्हन्नन्दन मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। दीक्षित होने के बाद उसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं रह गया था। दिशाएं ही उसके वस्त्र थे, आकाश भवन था, पथरीली पृथ्वी शैय्या थी, जंगल के हिरन आदि जन्तु उसके बन्धु थे, रात में असंख्य तारे और चन्द्रमा ही उसके दीपक थे। वह सर्दी, गर्मी और वर्षा के दु:ख बड़ी शान्ति से सह लेता था। क्षुधा, तृषा आदि परीषहों का सहना अब उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। उसने आचार्य श्री अर्हन्नन्दन के पास रहकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उसके जगत में धार्मिक क्रान्ति मचा देने वाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। इस तरह उसने बहुत दिनों तक तपस्या कर खोटे कर्मों का आना (आस्रव) बन्द कर

दिया और शुभ कर्मों का आना प्रारम्भ कराया। आयु के अन्त में वह समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में जाकर अहमिन्द्र हुआ। वहां उसकी आयु सत्ताईस सागर प्रमाण थी, शरीर की ऊंचाई दो हाथ की थी, लेश्या शुक्ल थी। वह सत्ताईस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था; और सत्ताईस पक्ष बाद एक बार सुगन्धित श्वास लेता था। वहां वह इच्छा मात्र से प्राप्त हुई उत्तम द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं की पूजा करता और स्वयं मिले हुए देवों के साथ तरह-तरह की तत्त्व-चर्चाएं करता था।

जो यह कहा जाता है कि 'सुख में जाता हुआ काल मालूम नहीं होता' वह बिल्कुल सत्य है। अहमिन्द्र को अपनी बीतती हुई आयु का पता नहीं चला। जब केवल छह माह की आुय बाकी रह गई तब उसे मणिमाला आदि वस्तुओं में न्यूनता दीखने लगी। जिससे उसने निश्चय कर लिया कि अब मुझे यहां से बहुत जल्दी कूच कर नरलोक में जाना होगा। उसे उतनी विशाल आयु बीत जाने पर आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि 'मैंने अपना समस्त जीवन योंही बिता दिया, आत्म-कल्याण की ओर कुछ भी प्रयत्न नहीं किया, इत्यादि विचार कर उसने अधिक मात्रा में जिन-अर्चा आदि कार्य करना शुरू कर दिये। यह अहमिन्द्र ही अग्रिम भव में भगवान सुपार्श्वनाथ होगा। अब वह जहां उत्पन्न होगा वहां का हाल सुनिये।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक काशी देश है। उसमें गंगा के तट पर एक वाराणसी (बनारस) नाम की नगरी है। उस समय उसमें सुप्रतिष्ठित नामक महाराजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम पृथ्वीसेना था। दोनों दम्पति सुख से रहते थे। उनके शरीर में न कोई रोग था, न किसी प्रतिद्वन्दी की चिन्ता ही थी। पाठक ऊपर जिस अहमिन्द्र से परिचित हो आये हैं, उसकी आयु जब वहां केवल छः माह की बाकी रह गई थी तभी से यहां महाराज सुप्रतिष्ठित के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी थी। कुछ समय बाद भाद्र शुक्ला षष्ठी के दिन विशाखा नक्षत्र में महारानी पृथ्वीसेना ने रात्रि के पिछले भाग में हाथी, वृषभ आदि सोलह स्वप्न देखे तथा अंत में मुंह में प्रवेश करता हुआ एक सुरम्य हाथी देखा। अर्थात् उसी समय वह

अहमिन्द्र देव-पर्याय छोड़कर माता पृथ्वीसेना के गर्भ में आया। प्रातः होते ही जब महारानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने हर्ष से पुलकित-बदन होते हुए कहा कि 'प्रिये, आज तुम्हारा स्त्री-जीवन सफल हुआ और मेरा भी गृहस्थ-जीवन निष्फल नहीं गया। आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर पुत्र ने अवतार लिया है। यह कहकर उन्होंने रानी के लिये तीर्थंकर के अगण्य पुण्य की महिमा बतलाई। पतिदेव के मुंह से अपने भावी पुत्र की महिमा सुनकर महारानी के हर्ष का पार नहीं रहा। उस समय देव-देवियों ने आकर सुप्रतिष्ठित महाराज और पृथ्वीसेना महारानी का खूब सत्कार किया। स्वर्ग से साथ में लाये हुए वस्त्राभूषणों से उन्हें अलंकृत किया तथा अनेक प्रकार से गर्भारोहण का उत्सव मनाया।

इन्द्र की आज्ञा से अनेक देव-कुमारियां माता की सेवा करती थीं। जब क्रम-क्रम से गर्भ-काल के दिन पूर्ण हो गये तब पृथ्वीसेना ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अहमिन्द्र नाम के शुभ योग में पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। पुत्र की कांति से समस्त प्रसूति-गृह प्रकाशित हो गया था। इसलिए देवियों ने जो दीपमाला जला रखी थीं, उसका केवल मंगल-शुभाचार मात्र ही प्रयोजन रह गया था। जन्म होते ही समस्त देव असंख्य देव परिवार के साथ बनारस आये और वहां से बाल तीर्थंकर को लेकर मेरुपर्वत पर गये। वहां उन्होंने पाण्डुक वन में पाण्डुक-शिलापर विराजमान कर जिन-बालक का क्षीर-सागर के जल से महाभिषेक किया। वहीं गद्य-पद्यमयी भाषा से उनकी स्तुति की। अनन्तर वहां से पुनरागमन कर उन्होंने जिन-बालक को माता की गोद में दे दिया। बालक का मुखचन्द्र देखकर माता पृथ्वीसेना का आनन्द-सागर लहराने लगा। महाराज सुप्रतिष्ठित के परामर्श से इन्द्र ने बालक का नाम 'सुपार्श्व' रखा। उसी समय इन्द्र ने अपने ताण्डव नृत्य से उपस्थित जनता को अत्यन्त आनन्दित किया था। जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में वाराणसी पुरी की जो सजावट की गई थी उसके सामने पुरन्दरपुरी (अमरावती) बहुत हेय मालूम होती थी। उत्सव मना कर देव लोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये। किन्तु इन्द्र की आज्ञा से कुछ देव बालक का रूप धारण कर निरन्तर बालक सुपार्श्वनाथ के पास रहते थे जोकि उन्हें तरह-तरह की चेष्टाओं से आनन्दित करते रहते थे। महाराज सुप्रतिष्ठित के घर बालक सुपार्श्वनाथ के लालन-पालन में कोई कमी नहीं थी, फिर भी इन्द्र स्वर्ग से मनोविनोद के लिये कल्पवृक्ष के फूलों

की मालाएं, मनोहर आभूषण और अनोखे खिलौने आदि भेजा करता था।

बालक सुपार्श्वनाथ भी दोयज के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे। उनके मुंह पर निरन्तर मन्द मुस्कान रहती थी। धीरे-धीरे समय बीतता गया। बालक सुपार्श्वनाथ बाल्य अवस्था पर कर कुमार अवस्था में पहुँचे और फिर कुमार अवस्था भी पार कर यौवन अवस्था में पहुँचे।

छठे तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभ के मोक्ष जाने के बाद नौ हजार करोड़ सागर बीत जाने पर श्रीसुपार्श्वनाथ हुए थे। उनकी आयु बीस लाख पूर्व की थी और शरीर की ऊंचाई दो सौ धनुष की थी। वे अपनी कान्ति से चन्द्रमा को भी लज्जित करते थे। जन्म से पांच लाख पूर्व बीत जाने पर उन्हें राज्य मिला। राज्य पाकर उन्होंने प्रजा का पालन किया। वे सतत सज्जनों के अनुग्रह और दुर्जनों के निग्रह का ध्यान रखते थे। उनका शासन अत्यन्त लोकप्रिय था; इसलिये उन्हें जीवन में किसी शत्रु का सामना नहीं करना पड़ा था। सुप्रतिष्ठित महाराज ने आर्य-कन्याओं के साथ इनका विवाह किया था। कुमार सुपार्श्वनाथ अपनी मनोरम चेष्टाओं से उन आर्य महिलाओं को निरन्तर हर्षित रखते थे। बीच-बीच में इन्द्र, नृत्यगोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, संगीत-गोष्ठी आदि से विनोद कराकर कुमार को प्रसन्न करता रहता था। उस समय सुपार्श्वनाथ जो सुख भोगते थे, इसलिए उनके भुक्तभोग नूतन कर्म-बन्ध के कारण नहीं होते थे। इस तरह सुखपूर्वक राज्य करते हुए जब उनकी आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रह गई तब उन्हें किसी कारणवश संसार के बढ़नेवाले विषय-भोगों से विरक्ति हो गई। उन्होंने अपनी पिछली आयु के व्यर्थ बीत जाने पर घोर पश्चाताप् किया और राज्य-कार्य, गृहस्थी, पुत्र, मित्र आदि सबसे मोह छोड़कर वन में जा तप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लौकान्तिक देवों ने भी आकर उनके विचारों का समर्थन किया। देव-देवियों ने वैराग्य-वर्द्धक चेष्टाओं से तपकल्याणक का उत्सव मनाना प्रारम्भ किया। महाराज सुपार्श्वनाथ राज्य का भार पुत्र को सौंपकर देवनिर्मित 'मनोगति' नाम की पालकी पर सवार हुए। देव उस पालकी को बनारस के समीपवर्ती सहेतुक वन में ले गये। पालकी से उतर कर उन्होंने सिद्ध गुरुजनों की सम्मतिपूर्वक ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में संध्या समय "नमः सिद्धेभ्यः" कहते हुए दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। उनके साथ में

और भी एक हजार राजा दीक्षित हुए।

मुनिराज सुपार्श्वनाथ ने दीक्षित होते ही इतना एकाग्र ध्यान किया था जिससे उन्हें उसी समय अनेक ऋद्धियाँ और मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। दो दिनों के उपवास के बाद वे आहार लेने के लिये सोमखेट नाम के नगर में गये। वहां राजा महेन्द्रदत्त ने पड़गाह कर नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्रदान के प्रभाव से राजा महेन्द्रदत्त के घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि सुपार्श्वनाथ आहार लेकर वन में लौट आये। तदनन्तर नौ वर्षों तक उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मौनपूर्वक रह कर तपश्चरण किया।

एक दिन वे उसी सहेतुक वन में दो दिनों का उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहीं पर उन्होंने क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हो क्रम से अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप भावों से मोहनीय कर्म का क्षय कर बारवां क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त किया। और उसके अन्त में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अब तीनों लोक और तीनों काल के अनन्त पदार्थ उनके सामने 'हस्तामलकवत्' झलकने लगे। देवों ने आकर कैवल्य प्राप्ति का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने विस्तृत समवसरण बनाया। उसके बीच में स्थित होकर पूर्णज्ञानी योगी भगवान सुपार्श्वनाथ ने अपनी मौन मुद्रा भंग की-दिव्य उपदेश दिया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, उत्तम क्षमा आदि आत्म-धर्मों का स्वरूप समझाया। चतुर्गति-रूप संसार के दु:खों का वर्णन किया, जिसके भय से श्रोताओं के शरीर में रोमांच हो आये। कितने ही आसन्न-भव-नर-नारियों ने मुनि आर्यिकाओं के व्रत ग्रहण किये और कितने ही पुरुष, स्त्रियों ने श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये। उपदेश के बाद इन्द्र ने उनसे अन्य क्षेत्रों में विहार करने के लिये प्रार्थना की थी अवश्य, पर वह प्रार्थना नियोग की पूर्तिमात्र ही थी, क्योंकि उनका विहार स्वयं होता है। अनेक देशों में घूमकर उन्होंने धर्म का खूब प्रचार किया। असंख्य जीव-राशि को संसार के दु:खों से छुड़ाकर मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त कराये। अनेक जगह विहार करने से उनकी शिष्य-परम्परा भी बहुत अधिक हो गई थी। कितनी? सुनिये-

उनके समवसरण में बल आदि पंचानवे गणधर थे, दो हजार तीस

ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक थे, नौ हजार अवधिज्ञानी थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे और आठ हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर तीन लाख मुनिराज थे। इनके उपरान्त मीनार्या आदि को लेकर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं थीं। तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

विहार करते-करते जब उनकी आयु केवल एक माह बाकी रह गई, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहां योग-निरोध कर प्रतिमा-योग से विराजमान हो गये। वहीं से उन्होंने शुक्ल ध्यान के अन्तिम भेद सूक्ष्मा किया। प्रतिपाती और व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा अघातिया चतुष्क का नाश कर फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदय के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त कर लिया। देवों ने आकर उनके निर्वाण क्षेत्र की पूजा की। भगवान सुपार्श्वनाथ का चिह्न स्वास्तिक है।

8. भगवान श्री चन्द्रप्रभजी

सम्पूर्णः किमयं शरच्छशधरः किं वार्पितो दर्पणः
सर्वार्थावगतेः किमेष विलसत्पीयूषपिण्डः पृथुः।
किं पुण्याणुमयश्चयोऽयमिति मदवक्त्राम्बुजं शक्यतेः
सोऽयंचन्द्र जिनस्तमो व्यपहरन्नं हो भयाद्रक्षतात्॥

-आचार्य गुणभद्र

"क्या यह शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा है? अथवा सब पदार्थों को जानने के लिये रखा हुआ दर्पण है? क्या यह शोभायमान अमृत का विशाल पिण्ड है? या पुण्य परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है? इस तरह जिनके मुख-कमल को देखकर शंका होती है, वे श्रीचन्द्रप्रभ महाराज अज्ञानतम को नष्ट करते हुए पापरूपी भय से हम सबकी रक्षा करें।

पूर्वभव परिचय

असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरे हुए मध्यलोक में एक पुष्कर द्वीप है।

उसके बीच में चूड़ी के आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, जिससे उसके दो भेद हो गये हैं। उनमें से पूर्वार्ध भाग तक ही मनुष्यों का सद्भाव पाया जाता है। पुष्करार्ध द्वीप में क्षेत्र आदि की रचना धातकी खण्ड की तरह है अर्थात् जम्बूद्वीप से दूनी है। उनमें पूर्व और पश्चिम दिशा में दो मंदर-मेरु पर्वत हैं। पूर्व दिशा के मेरु से पश्चिम की ओर एक बड़ा भारी विदेहक्षेत्र है। उनमें सीता नदी के उत्तर तट पर एक सुगन्धि नाम का देश है जो हर एक तरह से सम्पन्न है। उसमें श्रीपुर नाम का नगर था, जिसमें किसी समय श्रीषेण नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा बहुत ही बलवाल था, दयालु था, धर्मात्मा था और नीतिज्ञ था। वह निरन्तर सोच-विचार कर कार्य करता था जिससे उसे कभी कार्य कर चुकने पर पश्चाताप नहीं करना पड़ता था। उसकी महारानी का नाम श्रीकान्ता था। श्रीकान्ता ने अपने दिव्य सौन्दर्य से काम-कामिनी रति को भी पराजित कर दिया था। दोनों दम्पत्तियों का परस्पर अटूट प्रेम था। शरीर स्वस्थ और सुन्दर था, धन सम्पत्ति की कमी नहीं थी और किसी शत्रु का खटका नहीं था; इसलिए वे अपने को सबसे सुखी समझते हुए समय बिताते थे। धीरे धीरे श्रीकान्ता का यौवन व्यतीत होने को आया, पर उसके कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिए वह सदा दुःखी रहती थी। एक दिन रानी श्रीकान्ता कुछ सहेलियों के साथ मकान की छत पर बैठकर नगर की शोभा निहार रही थी कि उसकी दृष्टि गेंद खेलते हुए सेठ के लड़कों पर पड़ी। लड़कों को देखते ही उसे पुत्र न होने की चिन्ता ने धर दबाया। उसका प्रसन्न फूल-सा मुख मुरझा गया, मुख से दीर्घ और गर्म-गर्म श्वासें निकलने लगीं, आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली। उसने भग्न-हृदय से सोचा-जिसके ये पुत्र हैं उसी स्त्री का जन्म सफल है। सचमुच, फलरहित लता के समान बन्ध्या (फल रहित) स्त्री की कोई शोभा नहीं होती है। सच कहा है कि पुत्र के बिना सारा संसार शून्य दीखता है-इत्यादि विचार कर वह छत से नीचे उतर आई और खिन्न-चित्त होकर शयनागार में पड़ी रही। जब सहेलियों द्वारा राजा को उसके खिन्न होने का समाचार मिला तब वह शीघ्र ही उसके पास पहुँचा और कोमल शब्दों में दुःख का कारण पूछने लगा। बहुत बार पूछने पर भी जब श्रीकान्ता ने कोई जवाब नहीं दिया तब उसकी एक सहेली ने, जो कि हृदय की बात जानती थी, राजा को छत पर का समस्त वृतान्त कह सुनाया। सुनकर उसे भी दुःख

हुआ; पर कर क्या सकता था? अन्त में धैर्य धारण कर रानी को मीठे शब्दों में समझाने लगा कि 'जो वस्तु मनुष्य के पुरुषार्थ से सिद्ध नहीं हो सकती, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। कर्मों के ऊपर किसका वश है? तुम्हीं कहो, किसी तीव्र पाप का उदय ही पुत्र-प्राप्ति होने का बाधक (कारण) है; इसलिये पात्र-दान, जिनपूजन, व्रत उपवास आदि शुभ कार्य करो जिससे अशुभ कर्मों का बल नष्ट होकर शुभ कर्मों का बल बढ़े।"

प्राणनाथ का उपदेश सुनकर श्रीकान्ता ने बहुत कुछ अंशों में पुत्र न होने का शोक छोड़ दिया और पहले की अपेक्षा बहुत अधिक पात्रदान आदि शुभ क्रियाएं करने लगी।

एक दिन राजा श्रीषेण महारानी श्रीकान्ता के साथ वन में घूम रहा था कि वहां पर उसकी दृष्टि एक मुनिराज के ऊपर पड़ी, उसने रानी के साथ उन्हें नमस्कार किया और धर्म-श्रवण करने की इच्छा से उनके पास बैठ गया। मुनिराज ने सारगर्भित शब्दों में धर्म का व्याख्यान किया, जिससे राजा का मन बहुत ही हर्षित हुआ। धर्म-श्रवण करने के बाद उसने मुनिराज से पूछा-'नाथ! मैं इस तरह कब तक गृह-जंजाल में फंसा रहूँगा? क्या कभी मुझे दिगम्बर मुद्रा धारण करने का सौभाग्य प्राप्त होगा?' उत्तर में मुनिराज ने कहा-राजन! तुम्हारे हृदय में निरन्तर पुत्र की इच्छा बनी रहती है सो जब तक तुम्हारे पुत्र न होगा तब तक वह इच्छा तुम्हारा पिंड न छोड़ेगी। बस, पुत्र की इच्छा ही तुम्हारे मुनि बनने में बाधक कारण है। आपकी इस हृदयवल्लभा श्रीकान्ता ने पूर्वभव में गर्भभार से पीड़ित एक युवती को देखकर निदान किया था कि 'मेरे कभी यौवन अवस्था में सन्तान न हो' इस निदान के कारण ही अब तक इसके पुत्र नहीं हुआ है। पर अब निदान-बन्ध के कारण बंधे हुए दुष्कर्मों का फल दूर होने वाला है, इसलिये शीघ्र ही इसके पुत्र होगा। पुत्र को राज्य देकर आप भी दीक्षित हो जावेंगे। यह कहकर उन्होंने अष्टाह्निका व्रत का माहात्म्य बता कर राजा रानी को व्रत धारण कराया। राज-दम्पत्ति मुनिराज के द्वारा दिये हुए व्रत को हृदय से स्वीकार कर घर लौट आये। जब अष्टान्हिका पर्व आया तब दोनों ने अभिषेकपूर्वक सिद्ध यंत्र की पूजा की और आठ दिन तक यथाशक्ति उपवास किये जिनसे उन्हें असीम पुण्य कर्म का बन्ध हुआ।

कुछ दिनों बाद रानी श्रीकान्ता ने रात्रि के पिछले भाग में हाथी, सिंह, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक ये चार स्वप्न देखे। उसी समय उसके गर्भाधान हो गया। धीरे-धीरे उसके शरीर में गर्भ के चिन्ह प्रकट हो गये, शरीर पाण्डु वर्ण हो गया, आंखों में कुछ हरापन दीखने लगा, स्तन स्तूप और कृष्णमुख हो गये, उदर भारी हो गया और जिम्हाई आने लगी। प्रियतमा के शरीर में गर्भ के चिन्ह प्रकट हुए देखकर राजा श्रीषेण बहुत ही हर्षित होता था। नव माह बाद उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने पुत्र की उत्पत्ति का खूब उत्सव किया-याचकों को मनचाहा दान दिया, जिन पूजन आदि पुण्य कर्म कराये। प्रौढ़ अवस्था में पुत्र पाकर श्रीकान्ता को कितना आनन्द हुआ होगा यह तुच्छ लेखनी से नहीं लिखा जा सकता। राजा ने बन्धु-बान्धवों की सलाह से पुत्र का नाम श्रीवर्मा रखा। श्रीवर्मा धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती जाती थी वैसे-वैसे ही उसके गुणों का विकास होता जाता था।

जब कुमार राज्य कार्य संभालने के योग्य हो गया तब राजा उस पर राज्य का भार छोड़कर अभिलषित भोग भोगने लगा। एक दिन वहां के शिवंकर नामक उपवन में श्रीप्रभ नामक मुनिराज आये। वनमाली ने राजा को मुनि-आगमन का समाचार सुनाया। राजा श्रीषेण भी हर्षितचित्त होकर मुनि वन्दना के लिये गया। वहां मुनिराज के मुख से धर्म का स्वरूप और संसार का दु:ख सुनकर उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे उसने श्रीवर्मा को राज्य देकर शीघ्र ही जिन-दीक्षा धारण कर ली। श्रीवर्मा राज्य पाकर बहुत प्रसन्न नहीं हुआ; क्योंकि वह सदा उदासीन रहता था। उसकी यही इच्छा बनी रहती थी कि मैं कब साधुवृत्ति धारण करूं। पर परिस्थित देखकर उसे राज्य स्वीकार करना पड़ा था। श्रीवर्मा बहुत ही चतुर पुरुष था। उसने जिस तरह बाह्य शत्रुओं को जीता था उसी तरह काम, क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लिया था।

एक दिन श्रीवर्मा परिवार के कुछ लोगों के साथ मकान की छत पर बैठकर प्रकृति की अनूठी शोभा देख रहा था कि इतने में आकाश से उल्कापात हुआ। उसे देखकर उसका चित्त सहसा विरक्त हो गया। उसने उल्का की तरह संसार के सब पदार्थों की अस्थिरता का विचार कर दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और दूसरे दिन श्रीकान्त नामक बड़े

पुत्र को राज्य देकर श्रीप्रभ आचार्य के पास दिगम्बर दीक्षा ले ली। अन्त में वह श्रीप्रभ नाम पर्वत पर सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर पहले स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ। वहां उसकी दो सागर की आयु थी, सात हाथ का दिव्य वैक्रियक शरीर था, पीत लेश्या थी। वह दो हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता और दो पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास करता। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था, अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ प्राप्त थीं। वहां वह अनेक देवांगनाओं के साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करता हुआ सुख से समय बिताने लगा।

धातकीखण्ड द्वीप में दक्षिण की ओर एक इष्वाकार पर्वत है। उसके पूर्व भरतक्षेत्र के अलका नामक देश में एक अयोध्या नाम की नगरी है। उसमें किसी समय अजितंजय नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम अजितसेना था। एक दिन रात में अजितसेना ने हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, पद्मसरोवर, शंख और जल से भरा हुआ घट ये आठ स्वप्न देखे। प्रातः होते ही उसने पतिदेव महाराज अजितंजय से स्वप्नों का फल पुछा। तब उन्होंने कहा-'आज तुम्हारे गर्भ में किसी पुण्यात्मा जीव ने अवतरण किया है। ये स्वप्न उसी के गुणों का सुयश वर्णन करते हैं। वह हाथी के देखने से गम्भीर, बैल और सिंह के देखने से अत्यन्त बलवाल, चन्द्रमा को देखने से सबको प्रसन्न करने वाला, सूर्य के देखने से तेजस्वी, पद्म-सरोवर के देखने से शंख चक्र आदि बत्तीस लक्षणों से शोभित, शंख के देखने से चक्रवर्ती और पूर्ण घट के देखने से निधियों का स्वामी होगा। स्वप्नों का फल सुनकर रानी अजितसेना को अपार हर्ष हुआ।

पाठक यह जानने के लिये उत्सुक होंगे कि अजितसेना के गर्भ में किस पुण्यात्मा ने अवतरण लिया है। उसका उत्तर यह है कि ऊपर पहले स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में जिस श्रीधर देव का कथन कर आये हैं, वही वहां की आयु पूर्ण कर महारानी अजितसेना के गर्भ में आया है। गर्भकाल व्यतीत होने पर रानी ने शुभमुहूर्त में पुत्र-रत्न पैदा किया, जो बड़ा ही पुण्यशाली था। राजा ने उसका नाम अजितसेन रखा। अजितसेन बड़े प्यार से पाला गया; जब उसकी अवस्था योग्य हो गई तब राजा अजितंजय ने उसे युवराज बना दिया और तरह-तरह की राजनीति का उपदेश दिया।

एक दिन महारानी, अजितंजय युवराज अजितसेन के साथ राजसभा में

बैठे हुए थे कि इतने में वहां से एक चन्द्ररुचि नाम का असुर निकला। ज्योंही उसकी दृष्टि युवराज पर पड़ी त्योंही उसे अपने पूर्वभव के बैर का स्मरण हो आया। वह क्रोध से कांपने लगा, उसकी आंखें लाल हो गई और भौंहे टेढ़ी। 'बदला चुकाने के लिये यही समय योग्य है' ऐसा सोचकर उसने समस्त सभा के लोगों को माया से मूर्च्छित कर दिया और युवराज को उठाकर आकाश में ले गया। इधर जब माया-मूर्च्छा दूर हुई तब राजा अजितंजय पास में पुत्र को न पाकर बहुत दु:खी हुए। उन्होंने उस समय हृदय को पानी-पानी कर देने वाले शब्दों में विलाप किया। पर कोई कर ही क्या सकता था? चारों ओर वेगशाली घुड़सवार छोड़े गये, गुप्तचर छोड़े गये; पर कहीं उसका पता न चला। उसी दिन जब राजा पुत्र के विरह में रुदन कर रहा था तब आकाश से कोई तपोभूषण नाम के मुनिराज राजसभा में आये। राजा ने उनका योग्य सत्कार किया। मुनिराज के आगमन से उसे इतना अधिक हर्ष हुआ था कि वह उस समय पुत्र के हरे जाने का भी दु:ख भूल गया था। उसने नम्र वाणी में मुनिराज की स्तुति की। 'धर्मवृद्धिरस्तु' कहते हुए मुनिराज ने कहा-राजन्! मैं अवधिज्ञान-रूपी लोचन से तुम्हें व्याकुल देखकर संसार का स्वरूप बतलाने के लिये आया हूँ। संसार वही है जहां पर इष्ट-वियोग और अनिष्ट संयोग हुआ करते हैं। अशुभ कर्म के उदय से प्राय: समस्त प्राणियों को इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग हुआ करता है। आप विद्वान हैं; इसलिये आपको पुत्र-वियोग का दु:ख नहीं करना चाहिये। विश्वास रखिये, आपका पुत्र कुछ दिनों में बड़े वैभव के साथ आपके पास आ जायेगा। इतना कहकर मुनिराज तपोभूषण आकाश-मार्ग से विहार कर गये और राजा भी शोक (आश्चर्य) पूर्वक सूर्य बिताने लगे। अब सुनिये युवराज का हाल-

चन्द्ररुचि असुर युवराज को सभा-क्षेत्र से उठाकर आकाश में ले गया और वहां उसके मारने के लिये उपयुक्त स्थान की संधान करने लगा। अन्त में उसने बहुत जगह संधान करने के बाद युवराज को मगरमच्छ आदि से भरे हुए एक मनोरम नाम के तालाब में आकाश से पटक दिया और आप निश्चिन्त होकर अपने घर चला गया। युवराज को उसने बहुत ऊंचे से पटका अवश्य था पर पुण्य के उदय से उसे कोई चोट नहीं लगी। वह अपनी

भुजाओं से तैर कर शीघ्र ही तट पर आ गया। तालाब से निकलते ही उसे चारों ओर भयानक जंगल दिखलाई पड़ा। उसमें वृक्ष इतने घने थे कि दिन में भी वहां सूर्य का प्रकाश नहीं फैल पाता था। जगह-जगह पर सिंह, व्याघ्र, आदि दुष्ट जीव गरज रहे थे। इतना सब होने पर भी अल्पवयस्क युवराज ने धैर्य नहीं छोड़ा। वह एक संकीर्ण मार्ग से उस भयानक अटवी में घुसा। कुछ दूर जाने पर उसे एक पर्वत मिला। अटवी का अन्त जानने के लिये ज्योंही वह पर्वत पर चढ़ा त्योंही वहां वर्षा के मेघ के समान एक काला पुरुष उसके सामने आया और क्रोध से गरज कर कहने लगा-कौन है तू? जो मरने की इच्छा से मेरे स्थान पर आया है? जहां सूर्य और चन्द्रमा भी पादचार-किरणों का फैलाव नहीं कर सकते, वहां तेरा आगमन कैसा? मैं दैत्य हूं, इसी समय तुझे यमलोक पहुँचा देता हूँ। उसके वचन सुनकर युवराज ने हंसते हुए कहा कि आप बड़े योद्धा मालूम होते हैं। इस भीषण अटवी पर आपका क्या अधिकार है? यहां का राजा तो कोई मृगराज होना चाहिए। पर कुमार के शांतिमय वार्तालाप का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। वह पहले की तरह की यद्वा तद्वा बोलता रहा। तब कुमार को भी क्रोध आ गया। दोनों में डटकर मल्ल युद्ध हुआ। वन देवियां झाड़ियों से छिपकर दोनों की युद्ध लीलाएं देख रही थीं। कुछ समय बाद कुमार ने उसे भूपर पछाड़ने के लिये उठाया और आकाश में घुमाकर पछाड़ना ही चाहते थे कि उसने अपना मायावी वेष छोड़ दिया और असली रूप में प्रकट होकर कहने लगा-बस, कुमार! मैं समझ गया कि आप बहुत ही बलवान पुरुष हैं। उस मां को धन्य है जिसने आप जैसा पुत्र उत्पन्न किया। मैं हिरण्य नाम का देव हूँ। अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए गया था। वहां से लौटकर यहां आया था और कृत्रिम वेष से यहां मैंने आपकी परीक्षा की। आप परीक्षा में सफल हो गये। आप धीर हो, वीर हों, गम्भीर हों। मैं आपके गुणों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ अब आप कुछ भी चिंता न कीजिये, आप विशाल वैभव के साथ कुछ दिनों में ही अपने पिता के पास पहुँचे जायेंगे। अब सुनिये, मैं आपके जमान्तर की कथा कहता हूँ:-

इस भव से पूर्व तीसरे भव में आप सुगन्धि देश के राजा थे, आपकी राजधानी 'श्रीपुर' थी। वहां आप श्रीवर्मा नाम से प्रसिद्ध थे। उसी नगर में

शशी और सूर्य नाम के दो किसान रहते थे। एक दिन शशी ने घर में सन्धिकर सूर्य का धन हरण कर लिया। जब सूर्य ने आपसे निवेदन किया तब आपने पता चलाकर शशी को खूब पिटवाया और सूर्य का धन वापिस दिलवा दिया। पिटते-पिटते शशी मर गया जिससे वह चन्द्ररुचि नाम का असुर हुआ है और सूर्य मर कर मैं हिरण्य नाम का देव हुआ हूँ। पूर्वभव के बैर से ही चन्द्ररुचि ने हरण कर आपके लिये कष्ट दिया है और मैं उपकार से कृतज्ञ होकर आपका मित्र हुआ हूँ।" इतना कह कर वह देव अन्तर्हित हो गया। वहां से कुमार थोड़ा ही चला था कि वह विशाल अटवी जिसके कि अन्त का पता नहीं चलता था, समाप्त हो गई। युवराज ने यह सब उसे देव का ही प्रभाव समझा। अटवी से निकल कर यह पास के किसी देश में पहुँचा। वहां उसने देखा कि समीपवर्ती नगर से बहुत से पौरजन घबड़ाये हुए भागे जा रहे हैं। जानने की इच्छा से उसने किसी मनुष्य से भागने का कारण पूछा। उत्तर में मनुष्य ने कहा-"क्या आकाश से आए हो, जो अपरिचित से बन कर पूछते हो?" तब युवराज ने कहा-"भाई! मैं परदेसी आदमी हूँ, मुझे यहां का कुछ भी हाल मालूम नहीं है। अनुचित न हो तो बतलाने का कष्ट कीजिये।" युवराज की नम्र और मधुर वाणी से प्रसन्न होकर मनुष्य ने कहा-'तो सुनिये, यह अरिंजय नाम का देश है, यह सामने का नगर इसकी राजधानी है, इसका नाम विपुल है। यहां जयवर्मा नाम के राजा राज्य करते हैं, उनकी स्त्री का नाम जयश्री है। इन दोनों के एक शशिप्रभा नाम की लड़की है जो सौन्दर्य-सागर में तैरती हुई-सी जान पड़ती है। किसी देश के महेन्द्र नाम के राजा ने महाराज जयवर्मा से शशिप्रभा की याचना की। जयवर्मा उसके साथ शशिप्रभा का विवाह करने के लिये तैयार हो गये पर एक निमित्तज्ञानी ने 'महेन्द्र अल्पायु है' कहकर उन्हें वैसा करने से रोक दिया। राजा महेन्द्र को यह बात सह्य नहीं हुई; इसलिये वह बड़ी भारी सेना को लेकर महाराज जयवर्मा से लड़कर जबरदस्ती शशिप्रभा को हरने के लिये आया है। उसकी सेना ने विपुलपुर को चारों ओर से घेर लिया है। जयवर्मा के पास उतनी सेना नहीं है जिससे वह महेन्द्र का सामना कर सके। उसके सैनिक नगर में ऊधम मचा रहे हैं इसलिये समस्त पुरवासी डर कर बाहर भागे जा रहे हैं। अब बस, मुझे बहुत दूर जाना है। इतना कहकर

वह मनुष्य भाग गया। युवराज जब कौतूहल पूर्वक विशालपुर की सीमा पर पहुँचे और उसके भीतर जाने लगे तब राजा महेन्द्र के सैनिकों ने उन्हें भीतर जाने से रोका जिससे उन्हें क्रोध आ गया। युवराज ने वहीं पर किसी एक के हाथ से धनुष-बाण छीनकर राजा महेन्द्रसिंह से युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और थोड़ी देर में उसे धराशायी बना दिया। शत्रु की मृत्यु सुनकर जयवर्मा बहुत ही प्रसन्न हुए। वे कुमार को बड़े आदर सत्कार से अपने घर ले गये। वहां शशिप्रभा युवराज पर आसक्त हो गई। राजा जयवर्मा को जब इस बात का पता चला तब उसने हर्षपूर्वक युवराज के साथ शशिप्रभा का विवाह करना स्वीकार कर लिया। युवराज कुछ दिनों तक वहीं रह आये। विजयार्द्ध गिरि की दक्षिण श्रेणी में एक आदित्य नाम का नगर है जो अपनी शोभा से आदित्य-विमान (सूर्य-विमान) को भी जीतता है। उसमें धरणीध्वज नाम का विद्याधर राज्य करता था। धरणीध्वज ने अपने पौरुष से समस्त विद्याधरों को अपने आधीन बना लिया था। एक दिन वह राजसभा में बैठा हुआ था कि वहां पर एक क्षुल्लकजी आये। राजा ने उनका खड़े होकर स्वागत किया और उन्हें ऊंचे आसन पर बैठाया। बातचीत होते-होते क्षुल्लकजी ने कहा कि 'अरिंजय देश के विपुल नगर के राजा जयवर्मा के एक शशिप्रभा नाम की कन्या है। जिसके साथ उसका विवाह होगा वह तुम्हें मारकर भरतक्षेत्र का पालन करेगा।' क्षुल्लक के वचन सुनकर राजा धरणीध्वज को बहुत दु:ख हुआ। जब क्षुल्लकजी चले गये तब उसने कुछ मंत्रियों की सलाह से विद्याधरों की बड़ी भारी सेना के साथ जाकर विपुल नगर को घेर लिया और वहां के राजा जयवर्मा के पास दूत भेजकर संदेशा कहलाया कि तुमने जो एक विदेशी लड़के के साथ शशिप्रभा का विवाह करना स्वीकार कर लिया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि जिसके कुल, बल, पौरुष आदि का कुछ भी पता नहीं है उसके साथ लड़की का विवाह कर देने से सिवाय अपयश के कुछ भी हाथ नहीं लगता, इसलिये तुम शीघ्र ही शशिप्रभा का विवाह मेरे साथ कर दो। जयवर्मा ने 'चाहे कुलीन हो या अकुलीन; दी हुई कन्या फिर किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती' कह कर उनको वापिस कर दिया और लड़ाई की तैयारी करनी शुरू कर दी।

जयवर्मा को युद्ध के लिये चिन्तित देखकर युवराज अजितसेन ने कहा

कि 'आप मेरे रहते हुए जरा भी चिन्ता न कीजियेगा। मैं इन गीदड़ों को अभी मार कर भगाये देता हूँ' ऐसा कहकर युवराज ने हिरण्य देव का, जिसका कि पहले अटवी में वर्णन कर चुके हैं, स्मरण किया। स्मरण करते ही वह दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ एक रथ लेकर युवराज के पास आ गया। समस्त नगरवासियों को आश्चर्य से चकित करते हुए युवराज अजितसेन उस रथ पर सवार हुए। हिरण्य देव चतुराई पूर्वक रथ को चलाने लगा। विद्याधरेन्द्र धरणीध्वज और कुमार अजितसेन की जमकर लड़ाई हुई। अन्त में कुमार ने उसे मार दिया जिससे उसकी समस्त सेना भाग खड़ी हुई कार्य हो चुकने पर युवराज ने सम्मानपर्वूक हिरण्य देव को विदा किया और धूम-धाम से नगर में प्रवेश किया। कुमार की अनुपम वीरता देखकर समस्त पुरवासी हर्ष से फूले न समाते थे। राजा जयवर्मा ने किसी दिन शुभमुहूर्त में युवराज के साथ शशिप्रभा का विवाह कर दिया। विवाह के बाद युवराज कुछ दिन तक वहीं रहे आये और शशिप्रभा के साथ अनेक कौतूहल करते रहे फिर कुछ दिनों के बाद अयोध्यापुरी वापिस आ गये। पिता अजितंजय ने वधू सहित आये हुए पुत्र का बड़े उत्सव के साथ नगर में प्रवेश कराया। पुत्र की वीर चेष्टाएं सुन-सुनकर मात-पिता बहुत ही हर्षित होते थे।

किसी एक दिन अशोक नाम के वन में स्वंयप्रभ तीर्थंकर का समवरण आया। वनमाली से जब राजा को इस बात का पता चला तब वे शीघ्र ही तीर्थेश्वर की वन्दना के लिये गये। वहां जाकर उन्होंने आठ प्रातिहार्यों से शोभित स्वयंप्रभ जिनेन्द्र को नमस्कार किया और नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। जिनेन्द्र के मुख से संसार का स्वरूप सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि वहीं पर गणधर महाराज से दीक्षा लेकर तप करने लगे।

युवराज अजितसेन को पिता के वियोग से बहुत दु:ख हुआ; पर संसार की रीति का विचार कर वे कुछ दिनों बाद शान्त हो गये। मंत्रीमण्डल ने युवराज का राज्याभिषेक किया। उधर महाराज अजितंजय को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और इधर अजितसेन की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। 'पहले धर्म कार्य ही करना चाहिये' ऐसा सोचकर अजितसेन पहले अजितंजय महाराज के कैवल्य-महोत्सव में सहयोग दिया। फिर वहां से आकर दिग्विजय के लिये गये। उस समय उनकी विशाल सेना एक लहराते हुए

समुद्र की तरह मालूम होती थी। सब सेना के आगे चक्ररत्न चल रहा था। क्रम-क्रम से उन्होंने समस्त भरतक्षेत्र की यात्रा कर उसे अपने आधीन कर लिया। जब चक्रधर अजितसेन दिग्विजयी होकर वापिस लौटे तब हजारों मुकुटबद्ध राजाओं ने उनका स्वागत किया। राजधानी अयोध्या में आकर अजितसेन महाराज न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

इनके राज्य में कभी कोई खाने पीने के लिये दु:खी नहीं होता था। एक दिन इन्होंने मासोपवासी अरिदमन महाराज के लिये आहार दान दिया जिससे देवों ने इनके घर पंचाश्चर्य प्रकट किये थे। सच है, पात्रदान से क्या नहीं होता?

किसी दिन राजा अजितसेन वहां के मनोहर नाम उद्यान में गुणप्रभ तीर्थंकर की वन्दना करने के लिये गये थे। वहां पर उन्होंने तीर्थंकर के मुख से धर्म का स्वरूप सुना, अपने भवान्तर पूछे, चारों गतियों के दु:ख सुने जिससे उनका हृदय बहुत ही विरक्त हो गया। उन्होंने जितशत्रु पुत्र को राज्य देकर अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने अतिचार रहित तपश्चरण किया और आयु के अन्त में नमस्तिलक नामक पर्वत पर समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के शांतिकर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया। वहां उनकी आयु बाईस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल-लेश्या थी, वे बाईस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करते और बाईस पक्ष बाद एक बार श्वास लेते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था, वे तीनों लोकों में इच्छानुसार घूम सकते थे। इस तरह वहां दीर्घकाल तक स्वर्गीय सुख भोगते रहे।

धीरे-धीरे उनकी बाईस सागर प्रमाण आयु समाप्त हो गई पर उन्हें कुछ पता नहीं चला। ठीक कहा है-'साता उदै न लख परै कैसा बीता काला।' वहां से चयकर वह पूर्व धातकीखण्ड में सीता नदी के दक्षिण तटपर स्थित मंगलावती देश के रत्न-संचयपुर नगर में राजा कनकप्रभ और रानी कनकमाला के पद्मनाभ नाम का पुत्र हुआ। पद्मनाभ बड़ा ही तार्किक एवं न्यायशास्त्र का वेत्ता था। उसके बल-पौरुष की सब ओर प्रशंसा छाई हुई थी।

एक दिन कनकप्रभ महाराज भवन की छत पर बैठकर नगर की शोभा देख रहे थे कि उनकी दृष्टि सहसा एक पल्लव-स्वल्प जलाशय पर पड़ी।

नगर के बहुत से बैल उसमें पानी पी-पी कर बाहर निकलते जाते थे। उसी में एक बूढ़ा बैल भी पानी पीने के लिये गया पर वह पानी के पास पहुँचने के पहले कीचड़ में फंस गया। असमर्थ होने के कारण वह कीचड़ से बाहर नहीं निकल सका जिससे वह प्यासा बैल वहीं तड़पने लगा। उसकी बेचैनी देखकर कनकप्रभ महाराज का हृदय विषय-भोगों से अत्यन्त विरक्त हो गया जिससे वे पद्मप्रभ को राज्य देकर श्रीधर मुनिराज के पास दीक्षा ले तपस्या करने लगे।

इधर पद्मनाभ ने नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। उसका अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह हुआ था जिनमें सोमप्रभा मुख्य थी। कालक्रम से सोमप्रभा के सुवर्णनाभि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, उन सबसे पद्मप्रभ का गृहस्थ जीवन बहुत ही सुखमय हो गया था।

एक दिन राजा पद्मनाभ सभा में बैठे हुए थे कि वनमाली ने आकर उन्हें मनोहर नामक उद्यान में श्रीधर मुनिराज के आगमन का शुभ समाचार सुनाया। राजा ने प्रसन्न होकर वनमाली को बहुत कुछ पारितोषिक दिया और सिंहासन से उतरकर जिस ओर मुनिराज विराजमान थे, उस ओर सात कदम आगे जाकर उन्हें नमस्कार किया। उसी समय मुनि-वन्दना को चलने के लिये नगर में भेरी बजवाई गई। जब समस्त पुरवासी उत्तम-उत्तम वस्त्र-आभूषण पहिन कर हाथों में पूजा की सामग्री लिये हुए राजद्वार पर जमा हो गये तब सब को साथ लेकर वे उस उद्यान में गये जहां मुनिराज श्रीधर विराजमान थे। राजा ने दूर से ही राज्य-चिन्ह छोड़कर विनीत भाव से वन में प्रवेश किया और मुनिराज के पास पहुँचकर उन्हें साष्टांग नमस्कार किया। मुनिराज ने 'धर्मवृद्धिरस्तु' कह कर सबके नमस्कार ग्रहण किये।

जब 'जय जय का' कोलाहल शान्त हो गया तब राजा पद्मनाभ ने मुनिराज से अनेक दर्शन विषयक प्रश्न किये। मुनिराज के मुख से समुचित उत्तर पाकर वे बहुत ही हर्षित हुए। बाद में उन्होंने मुनिराज से अपने पूर्वभव पूछे सो मुनिराज ने उनके अनेक पूर्वभवों को वर्णन किया। वन से लौटकर पद्मनाभ राजभवन में वापिस आ गये और वहां कुछ दिनों तक राज्य शासन करते रहे।

अन्त में उनका चित्त किसी कारणवश विषय वासनाओं से विरक्त हो

गया जिससे उन्होंने सुवर्णनाभि पुत्र को राज्य देकर किन्हीं महामुनि के पास जिनदीक्षा ले ली। उनके साथ में और भी अनेक राजाओं ने दीक्षा ली थी। मुनिराज पद्मनाभ ने गुरु के पास रहकर खूब अध्ययन किया जिससे ग्यारह अंगों तक का ज्ञान हो गया। उसी समय उन्होंने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लिया और आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

वहां उनकी आयु तेतीस सागर की थी, एक हाथ ऊंचा श्वेत वर्ण का शरीर था। वे तेतीस हजार वर्ष बाद आहार और तेतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था। यह अहमिन्द्र ही आगे के भव में अष्टम तीर्थेश्वर भगवान चन्द्रप्रभ होंगे।

गीता छंद-

श्रीवर्म भूपति पाल पुहमी, स्वर्ग पहले सुर भयो।
पुनि अजितसेन छ खंड नायक इन्द्र अच्युत में थयो॥
वर पद्मनाभि नरेश निर्जर, वैजयन्त विमान में।
चन्द्राभ स्वामी सातवें भव, भये पुरुष पुराण में॥

-भूधरदास

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक चन्द्रपुर नाम का नगर है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय राजा महासेन राज्य करते थे, उनकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था। दोनों दम्पत्ति सुख से समय बिताते थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी जब वहां की आयु छह माह रह गई थी तभी से राजा महासेन के घर पर प्रतिदिन अनेक रत्नों की वर्षा होने लगी और देवियाँ आ आकर महारानी लक्ष्मणा की सेवा करने लगीं। यह सब देखकर राजा को निश्चय हो गया था कि सुलक्ष्मणा की कुक्षि से तीर्थंकर पुत्र होने वाला है।

चैत्र कृष्ण पंचमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सुलक्ष्मणा ने रात के पिछले भाग में हाथी, बैल आदि सोलह स्वप्न देखे। उसी समय वह अहमिन्द्र जयन्त

विमान से सम्बन्ध छोड़कर उनके गर्भ में आया। प्रातः होते ही देवों ने आकर तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया और माता-पिता की स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से पूजा की।

गर्भ का समय बीत जाने पर सुलक्ष्मणा देवी ने पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में मति, श्रुति, अवधि इन तीन ज्ञानों से भूषित पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जन्म से समस्त लोक में आनन्द छा गया। क्षण भर के लिए नारकियों ने भी सुख का अनुभव किया। उसी समय देवों ने मेरुपर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और चन्द्रप्रभ नाम रखा। बालक चन्द्रप्रभ अपनी सरल चेष्टाओं से माता-पिता आदि को हर्षित करते हुए बढ़ने लगे।

श्री सुपार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के बाद नौ सो करोड़ सागर बीत जाने पर अष्टम तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ हुए थे। इनकी आयु भी इसी में युक्त है। आयु दस लाख पूर्व की थी, शरीर एक सौ पचास धनुष ऊंचा था और रंग चन्द्रमा के समान धवल था। दो लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्य-विभूति प्राप्त हुई थी। उनका गृह भी कई कुलीन कन्याओं के साथ हुआ था जिससे उनका गृहस्थ जीवन बहुत ही सुखमय हो गया था।

जब राज्य करते-करते उनकी आयु के छह लाख पचास हजार पूर्व और चौबीस पूर्वांग क्षणमात्र के समान निकल गये तब वे किसी दिन वस्त्राभूषण पहिनने के लिये अलंकार-गृह में गये। वहां ज्योंही उन्होंने दर्पण में मुंह देखा त्योंही उन्हें मुंह पर कुछ विकार-सा मालूम हुआ जिससे उनका हृदय विरक्त हो गया। वे सोचने लगे-"यह शरीर प्रतिदिन कितना ही क्यों न सजाया जाय पर काल पाकर विकृत हुए बिना नहीं रह सकता। विकृत होने की क्या बात? नष्ट ही हो जाता है। इस शरीर में राग रहने से सम्बन्ध रखने वाले और भी अनेक पदार्थों से राग करना पड़ता है। अब मैं ऐसा काम करूंगा जिससे आगे के भव में यह शरीर प्राप्त ही न हो।" उसी समय देवर्षि लौकान्तिक देवों ने भी आकर उनके विचारों का समर्थन किया।

महाराज चन्द्रप्रभ अपने वर पुत्र चन्द्र को राज्य देकर देवनिर्मित विमला पालकी पर सवार हो सर्वतुक नाम के वन में पहुँचे और वहां सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार

राजाओं के साथ निर्ग्रंथ मुनि हो गये। उन्हें दीक्षा के समय ही मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। वे दो दिन बाद आहार लेने की इच्छा से नलिनपुर नगर में गये; वहां महाराज सोमदत्त ने पड़गाह कर उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से देवों ने सोमदत्त के घर पंचाश्चर्य प्रकट किये। मुनिराज चन्द्रप्रभ नलिनपुर से लौटकर वन में फिर ध्यानारूढ़ हो गये। इस तरह छद्मस्थ अवस्था में तप करते हुए उन्हें तीन माह बीत गये। फिर उसी सर्वतुक वन में नाग वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर विराजमान हुए। वहीं उन्होंने क्षपक श्रेणी आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का नाश किया और शुक्ल ध्यान के प्रताप से शेष तीन घातिया कर्मों का भी नाश कर दिया। जिससे उन्हें फाल्गुन कृष्ण सप्तमी अनुराधा नक्षत्र में संध्या के समय दिव्यज्योति लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हो गया था। देवों ने आकर ज्ञानकल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने वहीं पर समवसरण की रचना की थी जिसमें समस्त प्राणी सुख से बैठे थे। समवसरण के मध्य में स्थित होकर भगवान चन्द्रप्रभ ने अपना मौन भंग किया अर्थात् दिव्य ध्वनि के द्वारा कल्याणकारी उपदेश दिया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं के व्रत धारण किये। दिव्य ध्वनि समाप्त होने के बाद इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना की जिससे उन्होंने अनेक देशों में विहार किया और अनेक भव्य प्राणियों को संसार-सागर से निकालकर मोक्ष प्राप्त कराया।

उनके समवसरण में दत्त आदि तेरानवे गणधर थे, दो हजार द्वादशांग के जानकार थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे, दस हजार केवली थे, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिवाले थे, आठ हजार मन:पर्यय ज्ञानी थे और सात हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर ढाई लाख मुनिराज थे। वरुण आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं थीं। असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। उन्होंने अनेक जगह घूम-घूम कर धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की और अन्त में सम्मेद शिखर पर आ विराजमान हुए। वहां उन्होंने हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया जिससे उन्हें एक माह बाद फाल्गुन शक्ला सप्तमी के दिन ज्येष्ठ नक्षत्र में संध्या के समय मोक्ष की प्राप्ति हो गई। देवों ने आकर उनके

निर्वाणक्षेत्र की पूजा की। श्री चन्द्रप्रभ भगवान का चिह्न चन्द्रमा है।

9. भगवान श्री पुष्पदन्त जी (श्रीसुविधिनाथ)

शान्त वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं, सर्वोपकारी तव देव! ततो भवन्तम्।
संसार मारव महास्थल रुद्रसान्द्र च्छाया महोरुह मिमे सुविधिं श्रयामः॥

–आचार्य गुणभद्र

हे देव! आपका शरीर शान्त है, वचन कानों को सुख देने वाले हैं और चरित्र सबका उपकार करने वाला है। इसलिये हम सब, संसाररूपी विशाल मरुस्थल में सघन छाया वाले वृक्ष-स्वरूप आप सुविधिनाथ पुष्पदन्त का आश्रय लेते हैं।

पूर्वभव परिचय

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व दिशा की ओर अत्यन्त प्रसिद्ध विदेहक्षेत्र है। उसमें सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती देश है जो अनेक समृद्धिशाली ग्राम, नगर आदि से भरा हुआ है। उसमें एक पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। उसमें किसी समय महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत ही बलवान था, बुद्धिमान था। उसके बाहुबल के सामने अनेक अजेय राजाओं को भी आश्चर्य-सागर में गोते लगाने पड़ते थे। उसके राज्य में खोजने पर भी दरिद्र पुरुष नहीं मिलता था। वह हमेशा विद्वानों का सुचित आदर करता था और योग्य वृत्तियां दे देकर उन्हें नई बातों के खोजने के लिये प्रोत्साहित किया करता था। उसने काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह इन छह अन्तरंग शत्रुओं को जीत लिया था। समस्त प्रजा उसकी आज्ञा को माला की भांति अपने मस्तक पर धारण करती थी। प्रजा उसकी भलाई के लिये सब कुछ न्यौछावर कर देती थी और वह भी प्रजा की भलाई के लिये कोई बात उठा नहीं रखता था।

एक दिन वहां के मनोहर नाम के वन में महामुनि भूतहित पधारे। नगर के समस्त लोग उनकी वन्दना के लिये गये। राजा महापद्म भी अपने समस्त परिवार के साथ मुनिराज के दर्शनों के लिये गया। वह वहां पर मुनिराज की भव्यमूर्ति और प्रभावक उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसी समय

राज्य-सुख, स्त्री-सुख आदि से मोह छोड़ दिया और धनद नामक पुख को राज्य देकर दीक्षा ले ली। महामुनि भूतहित के पास रहकर उसने कठिन तपस्याएं कीं और अध्ययन कर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किसी समय उसने निर्मल हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में वह समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर चौदहवें आणत स्वर्ग में इन्द्र हुआ। वहां उनकी आयु बीस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह बीस पक्ष (दश माह) बाद श्वास लेता था, बीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, उसके मानसिक प्रवीचार था और पांचवे नरक तक की बात बतलाने वाला अवधिज्ञान था। उसके वैक्रियक शरीर था और उस पर भी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियां थीं। वह अनेक क्षेत्रों में घूम-घूम कर प्रकृति की सुन्दरता का निरीक्षण करता था। वह कभी उदयाचल की शिखर पर बैठकर सूर्योदय की सुन्दर शोभा देखता, कभी अस्ताचल की चोटियों पर बैठ कर सूर्यास्त की सुषमा देखता। कभी मेरु पर्वत पर पहुँचकर नन्दन वन में क्रीड़ा करता, कभी समुद्रों के तट पर बैठकर उसकी लहरों का उत्ताल नर्तन देखता और कभी हरी-भरी अटवियों में घूमकर हर्ष से नाचते हुए मयूरों का ताण्डव देखकर खुश होता था। यह इन्द्र ही आगे चलकर पुष्पदन्त तीर्थंकर होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक काकन्दी नाम की महा मनोहर नगरी थी। उसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुग्रीव राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम जयरामा था। जब इन्द्र की आयु वहाँ पर केवल छह माह की बाकी रह गई तभी से देवों ने सुग्रीव महाराज के घर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। अनेक देवकुमारियां आ आकर महारानी जयरामा की सेवा करने लगीं। फाल्गुन कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र में पिछली रात के समय रानी जयरामा ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय इन्द्र ने स्वर्ग वसुन्धरा से मोह छोड़कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही जब उसने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर पुत्र ने अवतार लिया है। वह महा पुण्यशाली पुरुष है। देखो न! उसके गर्भ में आने के छह माह

पहले से प्रतिदिन करोड़ों रत्न बरस रहे हैं और देव-कुमारियां तुम्हारी सेवा कर रही हैं। प्राणनाथ के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर रानी जयरामा हर्ष से फूली न समाती थी।

जब धीरे-धीरे गर्भ का समय पूरा हो गया तब उसने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन उत्तम पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आकर मेरु पर्वत पर क्षीर-सागर के जल से उस सद्य-प्रसूत बालक का जन्माभिषेक किया और पुष्पदंत नाम रखा। उधर महाराज सुग्रीव ने भी खुले दिल से पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया। बालक पुष्पदंत बाल-इन्दु की तरह क्रम-क्रम से बढ़ने लगे।

भगवान चन्द्रप्रभ के मोक्ष जाने के बाद नब्बे करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान पुष्पदन्त हुए थे। इनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है । पुष्पदन्त की आयु दो लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊंचाई सौ धनुष की थी और लेश्या कुन्द के फूल के समान शुक्ल थी। जब उनकी कुमार अवस्था के पचास हजार पूर्व बीत गये थे तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था। राज्य की बागडोर ज्योंही कुमार पुष्पदन्त के हाथ में आई त्योंही उसकी अवस्था बिल्कुल बदल गई थी। उनका राज्यक्षेत्र प्रतिदिन बढ़ता जाता था। उनके मित्र राजाओं की संख्या असंख्य न थी, प्रजा हर एक प्रकार से सुखी थी। महाराज पुष्पदन्त का जिन कुलीन कन्याओं के साथ विवाह हुआ था उनकी रूप-राशि और गुणगरिमा को देखकर देव-बालाएं भी लज्जित हो जाती थीं। राज्य करते हुए जब उनके पचास हजार पूर्व और अटठाईस पूर्वांग और भी व्यतीत हो गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखने से उनका हृदय विरक्त हो गया। वे सोचने लगे-इस संसार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। सूर्योदय के समय जिस वस्तु को देखता हूँ उसे सूर्यास्त के समय नहीं पाता हूँ। जिस तरह इन्धन से कभी अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती उसी तरह पंचेन्द्रियों के विषयों से मानव-अभिलाषाएं कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं-पूर्ण नहीं होतीं। खेद है कि मैंने अपनी विशाल आयु साधारण मनुष्यों की तरह यों ही बिता दी। दुर्लभ मनुष्य-पर्याय पाकर मैंने उनका अभी तक सदुपयोग नहीं किया। आज मेरे अन्तरंग नेत्र खुल गये हैं जिससे मुझे कल्याण का मार्ग स्पष्ट दिख रहा है। वह यह है कि समस्त परिवार एवं राज्य-कार्य से विमुक्त हो निर्जन वन में

बैठकर आत्मध्यान करूं। लौकान्तिक देवों ने भी आकर उनके विचारों का समर्थन किया जिससे उनका वैराग्य और भी बढ़ गया। निदान सुमति नामक पुत्र को राज्य का भार सौंपकर देवनिर्मित 'सूर्यप्रभा' पालकी पर सवार हो पुष्पक वन में गये। वहां उन्होंने मार्गशीष शुक्ला प्रतिपदा के दिन संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। उसी समय उन्हें मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देवगण तपकल्याणक उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये। जब वे दो दिन बाद आहार लेने के लिये शैलपुर नाम के नगर में गये तब उन्हें वहां के राजा पुष्पमित्र ने विनयपूर्वक पड़गाह कर नवधा भक्ति से सुन्दर सुस्वादु आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने राजा पुष्पमित्र के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि पुष्पदन्त आहार लेकर वन में लौट आये और वहां पहले की तरह फिर से आत्मध्यान में लीन हो गये। वे ध्यान पूर्ण होने पर कभी प्रतिदिन और कभी दो, तीन, चार या इससे भी अधिक दिनों के अन्तराल से पास के किसी नगर में आहार लेने के लिये जाते थे और वहां से लौटकर पुन: वन में ध्यानमग्न हो जाते थे। इस तरह तपश्चरण करते हुए जब उनकी छद्मस्थ अवस्था के चार वर्ष व्यतीत हो गये तब वे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर पुष्पक नामक दीक्षा-वन में नाग वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर बैठ गये। वहीं पर उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन मूल नक्षत्र में संध्या के समय घातिया कर्मों का नाश होने से केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गये थे।

देवो ने आकर उनके ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से राज कुबेर ने सुन्दर और सुविशाल समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर भगवान पुष्पदन्त ने अपने दिव्य उपदेश से समस्त जीवों को सन्तुष्ट किया। फिर इन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने देश-विदेश में घूमकर सद्धर्म का प्रचार किया। उनके समवशरण में विदर्भ आदि अट्ठासी गणधर थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवली द्वादशांग के जानकार थे, एक लाख पचपन हजार पांच सौ शिक्षक थे, आठ हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात हजार पांच सौ मन:पर्यय ज्ञानी और छह हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर दो लाख मुनिराज थे।

घोषार्या को आदि लेकर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएं थीं। दो लाख श्रावक थे, पांच लाख श्राविकाएं थीं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

सब देशों में विहार कर चुकने के बाद वे आयु के अन्त समय में सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे। वहां उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ योग निरोध किया और अन्त में शुक्ल ध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर भादों सुदी अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में संध्या के समय मोक्ष प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आकर उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की। भगवान पुष्पदन्त का ही दूसरा नाम सुविधिनाथ था। भगवान पुष्पदंत का चिह्न मगर है।

10. भगवान श्री शीतलनाथ जी

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो नचहार यष्टयः।
यथामुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

-आचार्य समन्तभद्र

"हे अनघ! शान्तिरूप जल से युक्त आपकी वचन-रूपी किरणें विद्वानों के लिये जितनी शीतल है उतनी शीतल न चन्द्रमा की किरणें हैं, न चन्दन है, न गंगा नदी का पानी है और न मणियों का हार ही है। आपके वचनों की शीतलता में संसार का संताप एक क्षण में दूर हो जाता है।"

पूर्वभव परिचय

पुष्कर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में जो मन्दरगिरि है उससे पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र में सीता नदी के पश्चिम किनारे पर वत्स नाम का देश है। उसके सुसीमा नामक नगर में राजा पद्मगुल्म राज्य करते थे। वे सतत साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों से पृथ्वी का पालन करते थे। सन्धि, विग्रह आदि राजोचित गुणों से परिचित थे। शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह उनका निर्मल यश समस्त देश में फैला हुआ था। वे अत्यन्त प्रतापी होकर भी साधु-स्वभावी पुरुष थे।

एक दिन महाराज पद्मगुल्म राजसभा में बैठे हुए थे कि वनमाली ने

आम के बौर, कुन्दकुड्मल और केशर आदि के फूल सामने रखकर कहा-"महाराज! ऋतुराज बसन्त के आगमन से उद्यान की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई है। आमों में बौर लग गये हैं, उन पर बैठी हुई कोयल मनोहर गीत गाती है, कुन्द के फूलों से सब दिशाएं सफेद-सफेद हो रही हैं, मौलिश्री के सुगन्धित फूलों पर मधुप गुन्जार कर रहे हैं, तालाबों में कमल के फूल फूल रहे हैं और उनकी पीली केशर से तालाबों का समस्त पानी पीला हो रहा है। उद्यान की प्रत्येक वस्तुएं आपके शुभागमन की आकांक्षा में लीन हो रही हैं।"

वनमानी के मुख से बसन्त की शोभा का वर्णन सुनकर महाराज पद्मगुल्म बहुत ही हर्षित हुए। उसी समय उन्होंने वन में जाकर बसन्तोत्सव मनाने की आज्ञा दे दी जिससे नगर के समस्त पुरुष अपने अपने परिवार के साथ बसन्त का उत्सव मनाने के लिये वन में जा पहुँचे। राजा पद्मगुल्म भी अपनी रानियों और मित्र वर्ग के साथ वन में पहुँचे और वहीं रहने लगे। उन दिनों में यहां नृत्य, संगीत आदि बड़े-बड़े उत्सव मनाये जा रहे थे इसलिये क्रम-क्रम से बसन्त के दो माह व्यतीत हो गये पर राजा को उसका पता नहीं चला। जब धीरे-धीरे वन से बसन्त की शोभा विदा हो गई और ग्रीष्म की तप्त लू चलने लगी तब राजा का ध्यान उस ओर गया। वहां उन्होंने बसन्त की संधान की पर उसका एक भी चिन्ह उनकी दृष्टि में नहीं आया। यह देखकर महाराज पद्मगुल्म का हृदय विषयों से विरक्त हो गया। उन्होंने सोचा कि संसार के सब पदार्थ इसी बसन्त के समान क्षणभंगुर हैं। मैं जिसे चिरंतक समझकर तरह-तरह की रंगरलियां कर रहा था आज वही वसन्त अब यहां दृष्टिगोचर नहीं होता। अब न आमों में बौर दिखाई पड़ रहा है और न कहीं उन पर कोयल की मीठी आवाज सुनाई दे रही है। अब मलयानिल का पता नहीं है किन्तु उसकी जगह पर ग्रीष्म की यह तप्त लू बह रही है। ओह! अचेतन चीजों में इतना परिवर्तन! पर मेरे हृदय में, भोग-विलासों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। खेद है कि मैंने अपनी आयु का बहुत भाग यूंही बिता दिया; पर आज मेरे अन्तरंग नेत्र खुल गये हैं, आज मेरे हृदय में दिव्य ज्योति प्रकाश डाल रही है। उसके प्रकाश में भी क्या अपना हित न खोज सकूंगा? बस-बस, खोज लिया मैंने हित का मार्ग। वह यह है कि मैं बहुत जल्दी राज्य-जंजाल से छुटकारा पाकर-मुनि दीक्षा धारण करूं और किसी निर्जन

वन में रहकर आत्म-भण्डार को शान्ति-सुधा से भर दूं।" ऐसा विचार कर महाराज पद्मगुल्म वन से घर वापिस आये और वहां चन्दन नाम के पुत्र को राज्य देकर पुनः वन में पहुँच गये। वहां उन्होंने किन्हीं आनन्द नामक आचार्य के पास जिन-दीक्षा ले ली।

अब मुनिराज पद्मगुल्म निर्जन वन में रहकर आत्मशुद्धि करने लगे। गुरुदेव के चरण-कमलों के पास रहकर उन्होंने ग्यारह अंगों तक का ज्ञान प्राप्त किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया। जब आयु का अन्तिम समय आया तब वे बाह्य पदार्थों से सर्वथा मोह छोड़कर समाधि में स्थित हो गये जिससे मरणकर पन्द्रहवें आरण स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहां उनकी आयु बाईस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, (बाईस पक्ष) ग्यारह माह बाद सुगन्धित श्वासोच्छ्वास होता और बाईस मास बाद मानसिक आहार होता था। हजारों देवियां थीं, मानसिक प्रविचार था, अणिमा आदि आठ ऋद्धियां थीं और जन्म से ही अवधिज्ञान था। वहां उनका समय सुख से बीतने लगा। यही इन्द्र आगे भव में भगवान शीतलनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

जब वहां उनकी आयु केवल छह माह की बाकी रह गई और वे पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये तत्पर हुए तब इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मलय देश के भद्रपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशीय दृढ़रथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुनन्दा था। तीर्थंकर शीतलनाथ के गर्भ में आने के छह माह पहले से ही देवों ने दृढ़रथ और सुनन्दा के घर पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में महारानी सुनन्दा ने रात्रि के पिछले समय सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त इन्द्र ने स्वर्गभूमि छोड़कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। पति के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर सुनन्दा रानी को जो हर्ष हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसी दिन देवों ने आकर स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से राजदम्पति की पूजा और गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया। माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में सुनन्दा के उदर से तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म हुआ। देवों ने मेरु

पर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और वहां से आकर भद्रपुर में धूमधाम से जन्म का उत्सव मनाया। इन्द्र ने बन्धु-बान्धवों की सलाह से उनका 'शीतलनाथ' नाम रखा जो वास्तव में योग्य था क्योंकि उनकी पावन मूर्ति देखने से प्राणी मात्र के हृदय शीतल हो जाते थे। राज-परिवार में बड़े ही दुलार से उनका पालन हुआ था। पुष्पदन्त स्वामी के मोक्ष जाने के बाद नौ करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान शीतलनाथ हुए थे। इनके जन्म लेने के पहिले पल्य के चौथाई भाग तक धर्म का विच्छेद हो गया था। इनकी आयु एक लाख पूर्व की थी और शरीर नब्बे धनुष ऊंचा था। इनका शरीर सुवर्ण के समान स्निग्ध पीत वर्ण का था; जब आयु का चौथाई भाग कुमार अवस्था में बीत गया तब इन्हें राज्य की प्राप्ति हुई थी। राज्य पाकर इन्होंने भलीभांति राज्य का पालन किया और धर्म, अर्थ, काम का समान रूप से सेवन किया था।

किसी एक दिन महाराज शीतलनाथ घूमने के लिये एक वन में गये थे। जब वे वन में पहुँचे थे तब वन में सब वृक्ष हिम (ओस) से आच्छादित थे। पर थोड़ी देर बाद सूर्य का उदय होने से वह हिम (ओस) अपने आप नष्ट हो गई थी। यह देखकर उनका हृदय विषयों की ओर से सर्वथा हट गया। उन्होंने संसार के सब पदार्थों को हिम के समान क्षणभुंर समझकर उनसे राग-भाव छोड़ दिया और वन में जाकर तप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर इनके उक्त विचारों का समर्थन किया जिससे उनकी वैराग्य-धारा और भी अधिक वेग से प्रवाहित हो उठी। निदान आप पुत्र को राज्य सौंपकर देवनिर्मित शुक्रप्रभा पालकी पर सवार हो सहेतुक वन में पहुँचे और वहां माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। आपके दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था।

महामुनि शीतलनाथ दो दिन के उपवास के बाद आहार लेने की इच्छा से अरिष्ट नामक नगर में गये। वहां राजा पुनर्वसु ने बड़ी प्रसन्नता से नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से राजा पुनर्वसु के घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। इस तरह तपश्चरण करते हुए उन्होंने अल्पज्ञ अवस्था में तीन वर्ष बिताये। फिर पौष कृष्ण चतुर्दशी के दिन संध्या

के समय पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में उन्हें दिव्य-आलोक केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। उसी समय देवों ने आकर ज्ञानकल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर आपने सार्व धर्म का उपदेश देकर उपस्थित जनता को सन्तुष्ट किया। इन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने अनेक देशों में विहार कर संसार और मोक्ष का स्वरूप बतलाया, दार्शनिक शंकाओं का समाधान किया और सबको हित का मार्ग बतलाया था। उनके उपदेश के प्रभाव से लोगों के हृदयों में धर्म-कर्म की शिथिलता उस तरह दूर हो गई थी जिस तरह सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है।

उनके समवरण में ऋद्धियों और मन:पर्यय ज्ञान के धारक इक्यासी गणधर थे। चौदह सौ द्वादशांग के जानकार थे। उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे, सात हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात हजार पांच सौ मन:पर्यय ज्ञानी थे, और पांच हजार सात सौ वादी मुनि थे। इस तरह सब मिलाकर एक लाख मुनि थे, धारणा आदि तील लाख अस्सी हजार आर्यिकायें थीं, दो लाख श्रावक थे, चार लाख श्राविकायें थीं, असंख्यात देव-देवियां व संख्यात तिर्यंच थे।

जब भगवान शीतलनाथ की दिव्यध्वनि खिरती थी तब समस्त सभा चित्र-लिखित सी नीरव और स्तब्ध हो जाती थी। वे आयु के अन्त समय में सम्मेद शिखर पर पहुँचे, वहां एक महीने का योग-निरोध कर हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग से विराजमान हो गये और आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में संध्या के समय अघातिया कर्मों का नाशकर स्वतंत्र-सदन मोक्ष-महल को प्राप्त हुए। देवों ने आकर निर्वाणभूमि की पूजा की और उनके शरीर की भस्म अपने शरीर में लगाकर आनन्द से गाते, नाचते हुए अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

इनके तीर्थ के अन्त समय में काल दोष से वक्ता, श्रोता और धर्मात्मा लोगों के अभाव होने से समीचीन धर्म लुप्तप्राय हो गया था। भगवान शीतलनाथ का कल्पवृक्ष का चिह्न है।

11. भगवान श्री श्रेयांसनाथ जी

निर्धूय यस्य निज जन्मनि सत्यमस्त, मान्ध्यं चराचर मशेष मवेक्षमाणम्।

ज्ञानंप्रतीप विरहान्निज रूप संस्थं श्रेयान् जिनः सदिशतादशिवच्युतिंवः॥

–आचार्य गुणभद्र

"उत्पन्न होते ही समस्त अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करके सब चर अचर पदार्थों को देखने वाला जिनका उत्तम ज्ञान, बाधक कारणों का अभाव होने से, अपने स्वरूप में स्थिर हो गया था वे श्री श्रेयांस जिनेन्द्र तुम सबके अमंगल की हानि करें।"

पूर्वभव परिचय

पुष्कर द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व दिशा की ओर विदेहक्षेत्र में एक सुकच्छ नाम का देश है। उसमें सीता नदी के तट पर एक क्षेमपुर नगर था। क्षेमपुर नगर में रहने वाले मनुष्यों को निरन्तर क्षेम-मंगल प्राप्त होते रहते थे; इसलिए उसका 'क्षेमपुर' नाम वास्तव में ही सार्थक था। किसी समय उसमें नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। उसका शरीर बुहत ही सुन्दर था। उसने अपने अनुपम बाहुबल से समस्त क्षत्रियों को जीत कर अपना राज्य निष्कण्टक बना लिया था। वह उत्साह, मंत्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से तथा इनसे प्राप्त हुई तीन सिद्धियों से संयुक्त था। उसकी बुद्धि का तो ठिकाना नहीं था। अच्छे-अच्छे मंत्री जिन कामों का विचार भी नहीं कर सकते थे और जिन सामयिक समस्याओं को नहीं सुलझा पाते थे, उन्हें वह अनायास ही सोच लेता और सुलझा देता था। उसका अन्तः पुर सुन्दरी और सुशीला स्त्रियों से भरा हुआ था। आज्ञाकारी पुत्र थे, निष्कण्टक राज्य था, अटूट सम्पत्ति थी और स्वयं स्वस्थ एवं नीरोग था। इस तरह वह हर एक तरह से सुखी होकर प्रजा का पालन करता था। एक दिन राजा नलिनप्रभ राजसभा में बैठा हुआ था उसी समय वनमाली ने आकर कहा कि सहसाम्र वन में अनन्त नामक जिनेन्द्र आये हैं। उनके प्रताप से वन की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई है। वहां सब ऋतुएं एक साथ अपनी शोभा प्रकट कर रही हैं और सिंह, हस्ती, सर्प, नेवला आदि जीव अपना जातीय बैर छोड़कर एक दूसरे से हिल-मिल रहे हैं। जिनेन्द्र का आगमन सुनकर राजा को इतना हर्ष हुआ कि उसके सारे शरीर में रोमांच होने लगे। वह वनमाली को उचित पारितोषिक देकर परिवार सहित अनन्त जिनेन्द्र की वन्दना के लिये सहसाम्र

वन में गया। वहां उनकी दिव्य मूर्ति देखते ही उसका हृदय भक्ति से गद्‌गद् हो गया। उसने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया। अनन्त जिनेन्द्र ने प्रभावक शब्दों में तत्वों का व्यख्यान किया और अन्त में संसार के दु:खों का निरूपण किया। जिसे सुनकर नलिनप्रभ सहसा प्रतिबुद्ध हो गया; संसार से वह एकदम भयभीत हो उठा। उस समय उसकी अवस्था ठीक स्वप्न देखकर जागे हुए मनुष्य की तरह हो रही थी। उसने उसी समय भर्राई हुई आवाज में कहा-नाथ! इन दु:खों से बचने का भी कोई उपाय है? तब अनन्त जिनेन्द्र ने संसार के दु:ख दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र का वर्णन किया। देशव्रत और महाव्रत का महत्व समझाया। जिससे वह विषयों से अत्यन्त विरक्त हो गया। उसने घर जाकर पहले तो अपने सुपुत्र को राज्य दिया और फिर वन में जाकर अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। वहां ग्यारह अंगों का अभ्यास कर सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर मुनिराज नलिनप्रभ का जीव अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर नामक विमान में इन्द्र हुआ। वहां उसकी आयु बाईस सागर की थी। शरीर की ऊंचाई तीन हाथ की थी, लेश्या शुक्ल थी और जन्म से ही अवधिज्ञान था। वहां पर अनेक सुन्दरी देवियों के साथ बाईस सागर तक अनेक प्रकार के सुख भोगता रहा। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान श्रेयांसनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जब वहां पर उसकी आयु केवल छह माह की शेष रह गई और वह पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये सम्मुख हुआ; उस समय इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के सिंहपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशीय विष्णु नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी महादेवी का नाम सुनन्दा था। ऊपर कहे हुए इन्द्र ने ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम भाग में स्वर्ग-भूमि को छोड़कर सुनन्दा महारानी के गर्भ में प्रवेश किया। उस समय सुनन्दा ने हाथी, बैल आदि सोलह स्वप्न देखे थे। प्रात: होते ही उसने प्राणनाथ विष्णु महाराज से स्वप्नों का फल सुना जिससे वह बहुत ही प्रसन्न हुई। उसी समय देवों ने आकर राज-दम्पत्ति का खूब सत्कार किया और गर्भ-कल्याणक का

उत्सव मनाया। वह गर्भस्थ बालक का ही प्रभाव था जो उसके गर्भ में आने के छह माह पहले से लेकर पन्द्रह माह तक महाराज विष्णु के घर पर प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती रही और देव-कुमारियां महारानी सुनन्दा की शुश्रुषा करती रहीं।

धीरे-धीरे गर्भ का समय व्यतीत होने पर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में सुनन्दा देवी ने पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। उस समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। देवों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर बालक का कलशाभिषेक किया। फिर सिंहपुर प्रत्यावर्तन कर कई प्रकार से जन्म-महोत्सव मनाया। इन्द्र ने महाराज विष्णु के परामर्श से बालक का नाम 'श्रेयांस' रखा। यह ठीक ही था, क्योंकि वह आगे चलकर समस्त प्रजा को 'श्रेयोमार्ग' (मोक्षमार्ग) में प्रवृत्त करने वाला होगा। उत्सव समाप्त कर देव अपने-अपने स्थान चले गये। पर जाते समय इन्द्र ऐसे अनेक देव-कुमारों को वहीं पर छोड़ गया था जो अपनी लीलाओं से बालक श्रेयांसनाथ को सतत प्रसन्न रखते थे। राज्य-परिवार में बड़े प्रेम से उनका लालन-पालन होने लगा।

इन्द्र स्वर्ग से उनके लिये अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण और खिलौने आदि भेजा करता था। शीतलनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सौ सागर, छयासठ लाख, छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर बीत जाने पर भगवान श्रेयांसनाथ हुए थे। इनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। इनके जन्म लेने के पहिले भारतवर्ष में आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था। पर इनके उत्पन्न होते ही धर्म का उत्थान पुनः होने लगा था। इनकी आयु चौरासी लाख की थी, शरीर की ऊंचाई अस्सी धनुष की थी और रंग सुवर्ण के समान स्निग्ध पीतवर्ण था।

जब उनके कुमार काल के इक्कीस लाख पूर्व बीत गये तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ। राज्य पाकर उन्होंने सुचारु रूप से प्रजा का पालन किया। वे अपने बल से निरन्तर दुष्टों का निग्रह करते और सज्जनों पर अनुग्रह करते थे। योग्य कुलीन कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ था जिससे उनका राज्य-काल सुख से बीतता था। देव लोग बीच-बीच में तरह-तरह के विनोदों से उन्हें प्रसन्न करते रहते थे। इस तरह इन्होंने ब्यालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। इसके अनन्तर किसी एक दिन बसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे इन्होंने दीक्षा लेकर तप करने का

दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की। चारों निकाय के देवों ने दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। महाराज श्रेयांसनाथ श्रेयस्कर नामक पुत्र को राज्य देकर देवनिर्मित 'विमलप्रभा' पालकी पर सवार हो गये। देव लोग उस पालकी को मनोहर नाम के उद्यान में ले गये। वहां उन्होंने दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में प्रात: समय एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बर दीक्षा ले ली। उन्हें दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। तीसरे दिन चार ज्ञान के धारण करने वाले महामुनि श्रेयांसनाथ आहार लेने की इच्छा से सिद्धार्थ नगर में गये। वहां पर नन्द राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। दान के प्रभाव से राजा नन्द के घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि आहार लेकर वन में चले गये। इस तरह उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मौनपूर्वक दो वर्ष व्यतीत किये। इसके बाद दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर उसी मनोहर वन में तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर विराजमान हुये। वहीं उन्हें माघ कृष्ण अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सांयकाल के समय लोकालोक का प्रकाश करने वाला पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर उनका कैवल्य महोत्सव मनाया। कुबेर ने समवशरण की रचना की; उसके मध्य में सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया अर्थात् दिव्य ध्वनि के द्वारा सप्त तत्त्व नव पदार्थों का वर्णन किया। जिससे प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने देश व्रत और महाव्रत ग्रहण किये। प्रथम उपदेश समाप्त होने पर इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की और फिर विहार करने के लिये प्रार्थना की। आवश्यकता समझ कर उन्होंने आर्य क्षेत्रों में सर्वत्र विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया और श्री शीतलनाथ के अन्तिम तीर्थ में जो आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था, उसे दूर किया।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि उनके सतहत्तर गणधर थे, तेरह सौ ग्यारह श्रुतकेवली थे, अड़तालीय हजार दो सौ शिक्षक थे, छह हजार अवधिज्ञानी थे, छह हजार पांच सौ केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, छह हजार मन:पर्यय ज्ञानी थे, और पांच हजार वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या चौरासी हजार, चारणादि एक लाख तीस

हजार आर्यिका, चार लाख श्रावक, दो लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देविया और संख्यात तिर्यंच थे।

वे आयु के अन्त में सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहां एक महीने तक योग-निरोध कर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा-योग से विराजमान हो गये। वहीं पर उन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों की पिचासी प्रकृतियों का क्षय कर श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन धनिष्ठा नक्षत्र में संध्या समय मुक्ति मन्दिर (मोक्ष-महल) में प्रवेश किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की। भगवान श्रेयांसनाथ का चिह्न गैंडा है।

12. भगवान श्री वासुपूज्य जी

शिवासु पूज्योऽयुदय क्रियासु, त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र पूज्यः।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र, दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः॥

-स्वामी समन्तभद्र

"हे मुनिराज! आप वासुपूज्य, मंगलमयी अभ्युदय क्रियाओं में देवराज के द्वारा पूजनीय हैं-पूजा करने के योग्य हैं। इसलिये मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा भी पूजनीय हैं। क्या दीपक की ज्योति से सूर्य पूजनीय नहीं होता?"

पूर्वभव वर्णन

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के पूर्वीय तट पर एक वत्सकावती देश है। उसके रत्नपुर नाम के नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। वह धर्म, अर्थ, काम का पालन करते समय धर्म को कभी नहीं भूलता था। उषा की लाली की तरह उसका दिव्य प्रताप समस्त दिशाओं में फैल रहा था। उसका यश क्षीर-सागर की तरंगों के समान शुक्ल था पर उनके स्रोत की तरह चंचल नहीं था। उसके एक धनमित्र नाम का पुत्र था जिसे राज्य-भार सौंपकर वह सुख से समय बिताता था।

किसी एक दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर महाराज का शुभागमन हुआ। जब वनमाली ने राजा को उनके आगमन की सूचना दी तब वह हर्ष से पुलकित-बदन हुआ। परिवार सहित उनकी वन्दना के लिये गया और भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया। उस समय युगन्धर महाराज अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर,

निर्जरा, बोधि दुर्लभ, धर्म एवं लोक इन बारह भावनाओं का वर्णन कर रहे थे। ज्योंही पद्मोत्तर राजा ने अनित्य आदि भावनाओं का स्वरूप सुना त्योंही उसके हृदय में वैराग्य-रूपी सागर हिलोरें लेने लगा। उसे संसार और शरीर के प्रति अत्यन्त घृणा उत्पन्न हो गई। वह सोचने लगा कि मैंने अपना विशाल जीवन व्यर्थ ही खो दिया। जिन स्त्रियों, पुत्रों और राज्य के लिये मैं निरन्तर व्याकुल रहता हूँ, जिनके लिये मैं बुरे से बुरे कार्य करने में नहीं हिचकिचाता, वे एक भी मेरे साथ नहीं जावेंगे। मैं अकेला ही दुर्गतियों में पड़कर दु:ख की चक्कियों में पीसा जाऊंगा। ओह! कितना था मेरा अज्ञान? अभी तक मैं जिन भोगों को सबसे अच्छा मानता था, आज वे ही भोग काले सर्पों की तरह भयानक मालूम होते हैं। धन्य है महाराज युगंधर को! जिनके दिव्य उपदेश से पथ-भ्रान्त पथिक ठीक रास्ते पर पहुँच जाते हैं। इन्हीं ने मेरे हृदय में दिव्य ज्योति का प्रकाश फैलाया है। जिससे मैं आज अच्छे और बुरे का विचार कर सकने के लिये समर्थ हुआ हूँ। अब जब तक मैं समस्त परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ न हो जाऊंगा, इन निर्जन वन के विशुद्ध वायुमण्डल में निवास नहीं करूंगा तब तक मुझे चैन नहीं पड़ सकती, इत्यादि विचार कर वह घर गया और युवराज धनमित्र को राज्य देकर नि:शल्य हो अनेक राजाओं के साथ वन में जाकर दीक्षित हो गया। दीक्षित होने के बाद राजा नहीं, मुनिराज पद्मोत्तर ने खूब तपश्चरण किया। निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन कर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक नाम कर्म की पुण्य प्रकृति का बन्ध किया।

तदनन्तर आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर महाशुक्र स्वर्ग में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ। वहां उसकी सोलह सागर की आयु थी, चार हाथ का शरीर था, पद्म लेश्या थी। वह आठ महीने के बाद श्वासोच्छ्वास लेता और सोलह हजार वर्ष बाद में आहार ग्रहण करता था। अणिमा, महिमा, आदि का स्वामी था। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था जिससे वह नीचे चौथे नरक तक की बात जान लेता था। वहां अनेक देवियां अपने दिव्य रूप से उसे लुभाती रहती थीं। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान वासुपूज्य होगा। कहां? किसके यहां? कब? सो सुनिये।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक चम्पा नगर है उसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा वसुपूज्य राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयावती था। जब ऊपर कहे हुए इन्द्र की वहां की आयु केवल छह माह की बाकी रह गई थी तभी से कुबेर ने महाराज वसुपूज्य के घर पर रत्नों की वर्षा करनी शुरु कर दी और श्री, ह्री आदि देवियां महारानी की सेवा के लिये आ गईं।

एक दिन महारानी जयावती ने रात्रि के पिछले भाग में ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे। प्रात: उठकर जब उसने प्राणनाथ से उनका फल पूछा तब उन्होंने कहा-"आज आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन शतभिषा नक्षत्र में तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थंकर बालक ने प्रवेश किया है। ये स्वप्न उसी की विभूति के परिचायक हैं। याद रखिये उसी दिन उसी इन्द्र ने वसुन्धरा छोड़कर रानी जयावती के गर्भ में प्रवेश किया था। चतुर्णिकाय के देवों ने आकर गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया और उत्तम-उत्तम आभूषणों से राजा रानी का सत्कार किया।

अनुक्रम से गर्भ के दिन पूर्ण होने पर रानी ने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन पुत्र-रत्न का प्रसव किया। उसी समय हर्ष से नाचते गाते हुए समस्त देव और इन्द्र चम्पानगर आये और वहां से बाल तीर्थंकर को ऐरावत हाथी पर बैठाकर मेरु पर्वत पर ले गये। वहां सौधर्म और ऐशान इन्द्र ने उनका क्षीर-सागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने सुकोमल वस्त्रों से उनका शरीर पोंछकर उन्हें उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये और इन्द्र ने मनोहर शब्दों में स्तुति की। यह सब कर चुकने के बाद देव लोग बाल तीर्थंकर को चम्पानगर में वापिस ले आये। बालक का अतुल ऐश्वर्य देखकर माता जयावती का हृदय मारे आनन्द से फूला न समाता था। इन्द्र ने अनेक उत्सव किये, बन्धु-बान्धवों के परामर्श से उनका 'वासुपूज्य', नाम रखा और उनके विनोद के लिये अनेक देव-कुमारों को छोड़कर सबके साथ स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

यहां राज-परिवार में बड़े प्रेम से बालक वासुपूज्य का लालन-पालन होने लगा। भगवान श्रेयांसनाथ के मोक्ष चले जाने के बाद चौवन सागर व्यतीत होने पर वासुपूज्य स्वामी हुए थे। उनकी आयु भी इसी प्रमाण में संयुक्त है

क्योंकि हरएक जगह जो अन्तराल बतलाया गया है वह एक तीर्थंकर के बाद दूसरे तीर्थंकर के मोक्ष होने तक का है, जन्म तक का नहीं है। उनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष की थी, शरीर की ऊंचाई सत्तर धनुष की और रंग केसर के समान था। आपके जन्म लेने के पहले तीन पल्य तक भारतवर्ष में धर्म का विच्छेद रहा था; पर ज्योंही आप उत्पन्न हुए त्योंही लोग पुनः जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे। जब उनके कुमार काल के अठारह लाख वर्ष बीत चुके तब महाराज वसुपूज्य ने उन्हें राज्य देकर उनका विवाह करना चाहा। पर किसी कारण से उनका हृदय विषय भोगों से सर्वथा विरक्त हो गया। उन्होंने न राज्य लेना स्वीकार किया और न विवाह ही करना। किन्तु उदासीन होकर दुःखमय संसार का स्वरूप सोचने लगे। उन्होंने क्रम-क्रम से अनित्य आदि भावनाओं का विचार किया जिससे उनका वैराग्य परम अवधि तक पहुँच गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके विचारों का शतशः समर्थन किया। चारों निकाय के देवों ने आकर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। कुमार वासुपूज्य देव-निर्मित पालकी पर सवार होकर मनोहर नाम के वन में पहुँचे और वहां आत्मीयजनों से पूछ कर उन्होंने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन विशाखा नक्षत्र में संध्या के समय दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर जिन दीक्षा ले ली। पारणा के दिन आहार लेने की इच्छा से उन्होंने महानगर में प्रवेश किया। वहां पर सुन्दर नाम के राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। उससे प्रभावित होकर देवों ने उनके घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि वासुपूज्य आहार लेकर पुनः वन में लौट गये। इस तरह कठिन तपस्या करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था को एक वर्ष मौनपूर्वक व्यतीत किया। उसके बाद वे दीक्षा-वन में पहुँचे और वहां उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कदम्ब वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर विराजमान हुए। उसी समय उन्हें माघ शुक्ला द्वितीया के दिन विशाखा नक्षत्र में संध्या के समय पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने दिव्य सभा समवसरण की रचना की। जिसके बीच में स्थित होकर उन्होंने सात तत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि अनेक विषयों का व्याख्यान देकर अपना मौन भंग किया।

उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक भव्य नर-नारियों न यथाशक्ति व्रत विधान धारण किये। इन्द्र की प्रार्थना करने पर उन्होंने प्राय: सभी आर्य क्षेत्रों में विहार किया। जिससे समस्त लोग पुन: जैन-धर्म में दीक्षित हो गये। पथभ्रान्त पथिक पुन: सच्चे पथ पर आ गये।

उनके समवरण में धर्म आदि छयासठ गणधर थे, बारह सौ ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के जानकार थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक थे, पांच हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, छह हजार केवली थे, दश हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, छह हजार मन:पर्यय ज्ञानी थे और चार हजार दो सौ वादी थे; इस तरह बहत्तर हजार मुनिराज थे। इनके अतिरिक्त सेना आदि एक लाख छह हजार आर्यिकाएं थीं, दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

अनेक देशों में विहार करने के बाद जब उनकी आयु एक हजार वर्ष की रह गई तब वे चम्पानगर में आये और शेष समय उन्होंने वहीं पर बिताया। एक माह की आयु रहने पर उन्होंने राजत मौलिक नदी के तट पर विद्यमान मन्दारगिरि की सुन्दर शिखर पर मनोहर नाम के वन में योग-निरोध किया और पर्यंकासन से विराजमान हो गये। वहीं पर शुक्ल ध्यान के प्रताप से अघातिया कर्मों का क्षय कर भादो सुदी चौदश के दिन संध्या के समय विशाखा नक्षत्र में मुक्ति-भामिनी के अधिपति बन गये। उनके साथ चौरानवे और मुनियों ने निर्वाण लाभ किया था। देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की और निर्वाण महोत्सव मनाया। भगवान वासुपूज्य का चिह्न भैंसा का है।

13. भगवान श्री विमलनाथ जी

स्तिमिततम समाधि ध्वस्त नि:शेष दोषं
क्रम गम करणान्तर्धान हीनाव बोधम्।
विमल ममल मूर्तिं कीर्त्तिभाजंद्युभाजां
नमत विमलताप्तौ भक्तिभारेण भव्या:॥

-आचार्य गुणभद्र

"अत्यन्त निश्चल समाधि के द्वारा जिन्होंने समस्त दोषों को नष्ट कर

दिया है ऐसे तथा क्रम, साधन और विनाश से रहित है ज्ञान जिनका ऐसे निर्मल मूर्तिवाले और देवों की कीर्ति को प्राप्त होने वाले भगवान विमलनाथ को हे भव्य प्राणियों ! निर्मलता की प्राप्ति के लिये भक्तिपूर्वक नमस्कार करो।"

पूर्वभव परिचय

पश्चिम धातकीखण्ड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दाहिने तट पर एक रम्यकावती देश है किसी समय वहां पद्मसेन राजा राज्य करते थे। उनकी शासन-प्रणाली बड़ी ही विचित्र थी। उनके राज्य में न कोई वर्ण व्यवस्था का उल्लंघन करता था, न कोई झूठ बोलता था, न कोई किसी को व्यर्थ ही सताता था, न कोई चोरी करता था और न कोई पर-स्त्रियों का अपहरण करता था। वहां ही प्रजा धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करती थी। एक दिन महाराज पद्मसेन राजसभा में बैठे हुए थे उसी समय वन नाम के माली ने आकर अनेक फल-फूल भेंट करते हुए कहा कि 'महाराज! प्रीतिंकर वन में सर्वगुप्त केवली का शुभागमन हुआ है।' राजा पद्मसेन केवली का आगमन सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए। उनके समस्त शरीर में मारे हर्ष के रोमांच निकल आये और आंखों से हर्ष के आंसू बहने लगे। उसी समय उन्होंने सिंहासन से उठकर जिस ओर परमेश्वर सर्वगुप्त विराजमान थे उस सात कदम चलकर परोक्ष नमस्कार किया। फिर समस्त परिवार और नगर के प्रतिष्ठित लोगों के साथ-साथ उनकी वन्दना के लिये प्रीतिंकर नाम के वन में गये। केवली सर्वगुप्त के प्रभाव से उस वन की अपूर्व ही शोभा हो गई थी। उसमें एक साथ छहों ऋतुएं अपनी-अपनी शोभा प्रकट कर रही थीं। महाराज पद्मसेन ने विनत-मूर्धा होकर केवली के चरणों में प्रणाम किया और उपदेश सुनने की इच्छा से वहीं यथोचित स्थान पर बैठ गये। केवली भगवान ने दिव्य ध्वनि के द्वारा सात तत्वों का व्याख्यान किया और चतुर्गति रूप संसार के दु:खों का वर्णन किया। संसार का दु:खमय वातावरण सुनकर महाराज पद्मसेन का हृदय एकदम भयभीत हो गया। उसी समय उनके हृदय में वैराग्य-सागर की तरल तरंगे उठने लगीं। जब केवली महाराज की दिव्य ध्वनि से उन्हें पता चला कि अब मेरे केवल दो भव ही बाकी रह गये हैं तब तो उनके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा।

उन्होंने घर आकर पद्म नामक पुत्र को राज्य दिया और फिर वन में जाकर उन्हीं केवली के निकट जिन-दीक्षा ले ली। उनके साथ रहकर उन्हीं से ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया जिससे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सहस्रार नाम के इन्द्र हुए। वहां उनकी आयु अठारह सागर की थी; एक धनुष-चार हाथ ऊंचा शरीर था, जघन्य शुक्ल लेश्या थी, वे वहां अठारह हजार वर्ष बाद आहार लेते और नौ माह बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। वहां अनेक देवियां अपने अतुल्य रूप से उनके लोचनों को प्रसन्न किया करती थीं। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था जिससे वे चौथे नरक तक की वार्ता जान लेते थे। वे अपनी दिव्य शक्ति से सब जगह घूम-घूमकर प्रकृति की अद्‌भुत विभूति देखते थे। यही सहस्रारेन्द्र आगे भव में भगवान विमलनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

भरतक्षेत्र की कम्पिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा कृतवर्मा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। पाठक जिसे सहस्रारेन्द्र से परिचित हैं उनकी आयु जब केवल छह माह की बाकी रह गई तभी से महाराज कृतवर्मा के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरु कर दी। महादेवी जयश्यामा ने ज्येष्ठ कृष्णा दशमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में रात्रि के पिछले भाग में सोलह स्वप्न देखे और उसी समय अपने मुखकमल में प्रवेश करता हुआ एक गन्ध सिन्दुर-उत्तम हाथी देखा। उसी समय उक्त इन्द्र ने स्वर्ग वसुन्धरा से मोह छोड़कर उनके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही उन्होंने प्राणनाथ कृतवर्मा से स्वप्नों का फल पूछा-तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थंकर बालक ने अवतरण किया है। यह रत्नों की वर्षा और ये सोलह स्वप्न उसी की विभूति बतला रहे हैं। इधर महाराज कृतवर्मा रानी जयश्यामा के लिये स्वप्नों का मधुर फल सुनाकर आनन्द पहुँचा रहे थे; उधर देवों के आसन कम्पायमान हुए जिससे उन्होंने तीर्थंकर विमलनाथ के गर्भावतार का निश्चय कर लिया और समस्त परिवार के साथ आकर कम्पिलापुरी में खूब उत्सव किया। अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों से

राजदम्पति का सत्कार किया। जैसे-जैसे महारानी का गर्भ बढ़ता जाता था। वैसे-वैसे समस्त बन्धु-बान्धवों का हर्ष बढ़ता जाता था। नित्य प्रति होने वाले अच्छे-अच्छे शकुन सभी लोगों को हर्षित करते थे। जब गर्भ के दिन पूर्ण हो गये तब महादेवी ने माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में मति, श्रुति, अवधि ज्ञानधारी पुत्र-रत्न को उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आकर जन्म-कल्याणक का उत्सव किया और अनेक प्रकार से बाल तीर्थंकर की स्तुति कर उनका विमलप्रभ नाम रखा। बालक विमलप्रभ का राज-परिवार में बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा। वे अपनी बाल्योचित चेष्टाओं से माता-पिता को अत्यन्त हर्षित करते थे। वासुपूज्य स्वामी के मोक्ष जाने के तीस सागर बाद भगवान विमलप्रभ (विमलनाथ) हुए थे। इनके उत्पन्न होने के पहले एक पल्य तक भारतवर्ष में धर्म का विच्छेद हो गया था। उनकी आयु साठ लाख वर्ष की थी। शरीर की ऊंचाई साठ धनुष और रंग सुवर्ण के समान पीला था। जब इनके कुमार काल के पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब इन्हें राज्य की प्राप्ति हुई। राज्य पाकर इन्होंने ऐसे ढंग से प्रजा का पालन किया जिससे इनका निर्मल यश समस्त संसार में फैल गया। महाराज कृतवर्मा ने अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ उनका विवाह कराया था। जिसके साथ तरह तरह के कौतुक करते हुए वे सुख से समय बिताते थे। बीच बीच में इन्द्र आदि देवता विनोद गोष्ठियों के द्वारा उनका मन बहलाते रहते थे। इस तरह हर्षपूर्वक राज्य करते हुए जब उन्हें तीन लाख वर्ष हो गये तब वे दिन उषाकाल में किसी पर्वत की शिखर पर आरूढ़ होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रहे थे उस समय उनकी दृष्टि सहसा घास पर पड़ी हुई ओस पर पड़ी। वे उसे प्रकृति का अद्‌भुत दान समझकर बड़े प्यार से देखने लगे। उसे देखकर उन्हें सन्देह होने लगा कि यह हरी भरी मोतियों की खेती है? या हृदय बल्लभ चन्द्रमा के गाढ़ आलिंगन से टूटकर बिखरे हुए निशा प्रेयसी के मुक्ताहार के मोती हैं? या चकवा चकवी की विरह वेदना से दु:खी होकर प्रकृति महादेवी ने दु:ख से आँसू छोड़े हैं या विरहिणी नारियों पर तरस खाकर कृपालु चन्द्र महाराज ने अमृत वर्षा की है? या मदनदेव की निर्मल कीर्ति रूपी गंगा के जलकण बिखरे पड़े हैं? इस तरह महाराज विमलनाथ बड़े प्रेम से उन हिमकणों को देख रहे थे। इतने में प्राची दिशा से सूर्य का उदय हो आया। उसकी अरूण प्रभा समस्त आकाश में फैल गई।

धीरे धीरे उसका तेज से बढ़ने लगा। विमलनाथ स्वामी ने अपनी कौतुक भरी दृष्टि हिमकरणों से उठाकर प्राची की ओर डाली। सूर्य की अरूण तेज को देखकर उन्हें बहुत ही आनन्द हुआ पर प्राची की ओर देखते हुए भी वे उन हिमकणों को भूले नहीं थे। उन्होंने अपनी दृष्टि सूर्य से हटाकर ज्योंही पास की घास पर डाली त्योंही उन्हें उन हिमकणों का पता नहीं चला। क्योंकि वे सूर्य की किरणों का संसर्ग पाकर क्षण भर में क्षिति में विलीन हो गये थे। इस विचित्र परिवर्तन से उनके दिल पर भारी ठेस पहुँची। वे सोचने लगे कि मैं जिन हिमकणों को एक क्षण पहले सतृष्णा लोचनों से देख रहा था अब द्वितीय क्षण में उनका पता नहीं है। क्या यही संसार है? संसार के प्रत्येक पदार्थ इसी तरह भंगुर है? ओह मैं अब तक देखता हुआ भी नहीं देखता था। मैं भी सामान्य मनुष्यों की तरह विषयवासना में बहता चला गया। खेद आज मुझे इन हिमकणों से (ओस की बूँदों से) दिव्य नेत्र प्राप्त हुए हैं। मैं अब अपना कर्त्तव्य निश्चय कर चुका। 'वह यह है कि मैं बहुत शीघ्र इस क्षणभंगुर संसार से नाता तोड़कर अपने आप में समा जाऊँ उसका उपाय दिगम्बर मुद्रा को छोड़कर और कुछ नहीं है। अच्छा तो अब मुझे राज्य छोड़कर इसी निर्मल नभ के नीचे बैठकर आत्मध्यान करना चाहिए।' ऐसा विचारकर महाराज विमलनाथ ने दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय ब्रह्मलोक से आकर लौकान्तिक देवों ने उनके विचारों का समर्थन किया।

अपना कार्य पूराकर लौकान्तिक देव अपने-अपने स्थान पर पहुँचे ही होंगे कि चतुर्निकाय के देव अपनी चेष्टाओं से वैराग्य गंगा को प्रवाहित करते हुए कम्पिला नगरी में आये। महाराज भी अन्यमनस्क हो पर्वतमाला से उतरकर घर आये। वहां उन्होंने अभिषेक पूर्वक पुत्र को राज्य दिया और आप देवनिर्मित पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने 'नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। विशुद्धि के बढ़ने से उन्हें उसी समय मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। देव लोग तपकल्याणक का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

महामुनि विमलप्रभ दो दिन का योग समाप्त कर तीसरे दिन आहार के

लिये नन्दपुर पहुँचे। वहां उन्हें वहां के राजा जयकुमार ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्रदान के प्रभाव से प्रभावित होकर जयकुमार महाराज के घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। आहार के बाद वे पुन: वन में लौट आये और आत्मध्यान में लीन हो गये। इस तरह दो दिन के अन्तर से आहार लेते हुए उन्होंने मौन रहकर तीन वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताये। इसके बाद इसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर जामुन के पेड़ के नीचे ध्यान लगाकर विराजमान हुए। जिससे उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन संध्या के समय उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में घातिया कर्मों का नाश होने से पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर ज्ञानकल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसके मध्य में सुवर्ण सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया, दिव्य उपदेशों से समस्त जनता को सन्तुष्ट कर दिया। जब उनका प्रथम उपदेश समाप्त हुआ तब इन्द्र ने मधुर शब्दों में स्तुति कर उनसे अन्यत्र विहार करने की प्रार्थना की। इन्द्र की प्रार्थना सुनकर उन्होंने प्राय: समस्त आर्य देशों में विहार किया। अनेक भव्य प्राणियों का संसार-सागर से समुद्धार किया। जगह-जगह स्याद्वाद वाणी के द्वारा जीव-जीवादि तत्वों का व्याख्यान किया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने देशव्रत और महाव्रत ग्रहण किये थे।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि उनके समवसरण में 'मन्दर' आदि पचपन गणधर थे, ग्यारह सौ द्वादशांग के वेत्ता थे, छत्तीस हजार पांच सौ तीस शिक्षक थे, चार हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, पांच हजार पांच सौ केवली थे, नौ हजार विक्रिया ऋद्धि के धारण करने वाले थे, पांच हजार पांच सौ मन:पर्यय ज्ञानी थे और तीन हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर अड़सठ हजार मुनिराज थे। 'पद्मा' आदि एक लाख तीन हजार आर्यिकाएं थीं, दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

जब आयु का एक माह बाकी रह गया तब वे सम्मेद शिखर पर आ विराजमान हुए। वहां उन्होंने योग निरोधकर आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन शुक्ल ध्यान के द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मों का संहार किया और अपने

शुभ समागम से मुक्ति-वल्लभा को प्राप्त किया। उसी समय देवों ने आकर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की। भगवान विमलनाथ का चिह्न शूकर है।

14. भगवान श्री अनन्तनाथ जी

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम, प्रलापलेशोऽल्पमते महामुने।
अशेष माहात्म्य मनीर यन्नपि, शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः॥

-स्वामी समन्तभद्र

हे महामुने! आप ऐसे हो, वैसे हो, मुझ अल्पमति का यह प्रलाप, जब कि समस्त माहात्म्य को प्रकट नहीं कर रहा है तब भी सुधा-सागर के स्पर्श के समान कल्याण के लिये ही है।

पूर्वभव वर्णन

धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु की ओर उत्तर दिशा में एक अरिष्ट नाम का नगर है जो अपनी शोभा से पृथ्वी का स्वर्ग कहलाता है। उसमें किसी समय पद्मरथ राजा राज्य करता था। उसकी प्रजा सतत् उससे सन्तुष्ट रहती थी; वह भी प्रजा की भलाई के लिये ही कार्य करता था। एक दिन वह स्वयंप्रभ तीर्थंकर की वन्दना के लिये गया। वहां पर उसने भक्तिपूर्वक स्तुति की और समीचीन धर्म का व्याख्यान सुना। व्याख्यान सुनने के बाद वह सोचने लगा कि सब इन्द्रियों के विषय क्षणभंगुर हैं। धन पैर की धूलि के समान है, यौवन पहाड़ी नदी के वेग के समान है, आयु जल के बबूलों की तरह चपल है और भोग सर्प के भोग-फण के समान भयोत्पादक हैं। मैं व्यर्थ ही राज-कार्य में उलझा हुआ हूं, ऐसा विचार कर उसने धनमित्र पुत्र को राज्य देकर किन्हीं आचार्यवर्य के पास दिगम्बर दीक्षा ले ली। उन्हीं के पास रहकर उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। वह आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मरणकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देव हुआ। वहां पर उसकी आयु बाईस सागर की थी, साढ़े तीन हाथ ऊंचा शरीर था और शुक्ल लेश्या थी। वह ग्यारह माह बाद श्वासोच्छ्वास लेता और बाईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था। उसके अनेक

देवियां थीं जो अपने दिव्य रूप से उसे सदा सन्तुष्ट किया करती थीं। वहां पर कायिक प्रवीचार मैथुन नहीं था। किन्तु मन में देवांगनाओं की अभिलाषा मात्र से उसकी कामव्यथा शान्त हो जाती थी। वह अपने सहजात अवधिज्ञान से सातवें नरक तक के रूपी पदार्थों को जानता था और अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों का स्वामी था। यही देव आगे भव में भगवान अनन्तनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र में अयोध्या नगरी है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय सिंहसेन राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। उस समय जयश्यामा के समान रूपवती, शीलवती, और सौभाग्यवती स्त्री दूसरी नहीं थी। जब ऊपरे कहे हुए देव की वहां की स्थिति छह माह की बाकी रह गई तब से राजा सिंहसेन के घर पर कुबेर ने रत्नों की वर्षा करना शुरू कर दी और वापी, कूप, तालाब, परिखा, प्राकार आदि से शोभायमान नई अयोध्या की रचना कर उसमें राजा तथा समस्त नागरिकों को ठहराया। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में महादेवी जयश्यामा ने गजेन्द्र आदि सोलह स्वप्न देखे और अन्त में मुंह में घुसते हुए किसी सुन्दर हाथी को देखा। उसी समय उक्त देव ने स्वर्गीय वसुधा से मोह तोड़कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। सवेरा होते ही उसने पतिदेव महाराज सिंहसेन से स्वप्नों का फल पूछा। वे अवधिज्ञान से जानकर कहने लगे कि आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर बालक ने अवतार लिया है, ये सब इसी के अभ्युदक के सूचक हैं। इधर महाराज रानी के सामने तीर्थंकर के माहात्म्य और उनके पुण्य के अतिशय का वर्णन कर रहे थे उधर देवों के जय जय शब्द से आकाश गूंज उठा। देवों ने आकर राज-भवन की प्रदक्षिणाएं की, स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से राज-दम्पति का सत्कार किया तथा और भी अनेक उत्सव मनाकर अपने स्थानों की ओर प्रस्थान किया। यह सब देखकर रानी जयश्यामा के आनन्द का पार नहीं रहा।

धीरे-धीरे गर्भ के नौ मास पूर्ण होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन बालक को उत्पन्न किया। उसी समय देवों ने आकर बालक को मेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया और फिर अयोध्या में प्रत्यावर्तन कर अनेक उत्सव किये। इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक किया और अप्सराओं

ने मनोहर नृत्य से प्रजा को अनुरंजित किया। सबकी सलाह से बालक का नाम 'अनन्तनाथ' रखा गया था जो कि बिल्कुल ठीक मालूम होता था क्योंकि उनके गुणों का अन्त नहीं था (पार नहीं था)। जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में अयोध्यापुरी इतनी सजाई गई थी कि वह अपनी शोभा के सामने स्वर्गपुरी को भी नीचा समझती थी। महाराज सिंहसेन ने हृदय खोलकर याचकों को मनवांछित दान दिया। देव लोग जन्म का उत्सव पूरा कर अपने-अपने घर गये। इधर राज-परिवार में बालक अनन्तनाथ का बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा। वे अपनी बाल-काल की मनोहर चेष्टाओं से माता-पिता का कौतुक बढ़ाते थे।

भगवान विमलनाथ के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर श्रीअनन्तनाथ हुए थे। इनकी आयु तीस लाख वर्ष की थी, पचास धनुष ऊंचा शरीर था, स्वर्ण के समान कान्ति थी, इन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था। सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्य की प्राप्ति हुई थी। वे साम, दाम, दण्ड और भेद के द्वारा राज्य का पालन करते थे। असंख्य राजा इनकी आज्ञा को माला की तरह अपने सिर का आभूषण बनाते थे। ये प्रजा को चाहते थे और प्रजा इनको चाहती थी। महाराज सिंहसेन ने इनका कई सुन्दर कन्याओं के साथ विवाह करवाया था जिससे इनका गृहस्थ जीवन अनन्त सुखमय हो गया था।

जब राज्य करते हुए इन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब एक दिन उल्कापात होने से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। इन्होंने समस्त संसार से ममत्व छोड़कर दीक्षा लेने का पक्का निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की, उनके विचारों की सराहना की और अनित्य आदि बारह भावनाओं का स्वरूप प्रकट किया जिससे उनकी वैराग्यधारा और भी अधिक द्रुतगति से प्रवाहित होने लगी। निदान राजा अनन्तनाथ, अनन्त विजय नामक पुत्र को राज्य देकर देव-निर्मित सागरदत्ता पालकी पर सवार हो सहेतुक वन में पहुँचे। वहां उन्होंने तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ जिन दीक्षा ले ली। देवों ने दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियां प्राप्त

हो गई थीं। प्रथम योग समाप्त हो जाने के बाद वे आहार के लिये साकेत अयोध्यापुरी में गये। वहां पुण्यात्मा राजा विशाख ने पढ़गाह कर उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने उसके घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। महामुनि अनन्तनाथ आहार लेने के बाद पुनः वन में लौट आये और वहां योग धारण कर विराजमान हो गये। इस तरह कठिन तपश्चरण करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष मौनपूर्वक बिताये। इसके बाद वे उसी सहेतुक वन में पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर विराजमान थे कि उत्तरोत्तर विशुद्धता के बढ़ने से उन्हें चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में दिव्य आलोक केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर समवसरण की रचना की और ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान अनन्तनाथ ने समवसरण के मध्य में विराजमान होकर दिव्य ध्वनि के द्वारा मौन भंग किया। स्याद्वाद पताका से अंकित जीव अजीव तत्वों का व्याख्यान किया। संसार का दिग्दर्शन कराया उसके दुःखों का वर्णन किया। जिससे प्रतिबुद्ध होकर अनेक मानवों ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। प्रथम उपदेश समाप्त होने के बाद उन्होंने कई जगह विहार किया। जिससे प्रायः सभी ओर जैन धर्म का प्रकाश फैल गया। इनके उत्पन्न होने के पहले जो कुछ धर्म का विच्छेद हो गया था वह दूर हो गया और लोगों के हृदयों में धर्म-सरोवर लहराने लगा। उनके समवसरण में जय आदि पचास गणधर थे, एक हजार द्वादशांग के जानकार थे, तीन हजार दो सौ वादी शास्त्रार्थ करने वाले थे, उनतालीस हजार पांच सौ शिक्षक थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, पांच हजार केवली थे, आठ हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे। इस तरह सब मिलाकर छयासठ हजार मुनिराज थी। 'सर्वश्री' आदि एक लाख आठ हजार आर्यिकायें थीं। दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार करने के बाद वे आयु के अन्त में सम्मेद शिखर पर जा विराजमान हुए। वहां उन्होंने छह हजार मुनियों के साथ योग निरोध कर एक महीने तक प्रतिमा योग धारण किया। उसी समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यानों के द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मों का नाशकर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन उषाकाल में मोक्ष भवन में प्रवेश किया। देवों ने आकर निर्वाण-क्षेत्र की पूजा

की और उनके गुण गाते हुए अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। भगवान अनन्तनाथ का चिह्न सेही है।

15. भगवान श्री धर्मनाथ जी

धर्मेयस्मिन् समद्भूता धर्मादश सुनिर्मलाः।
सधर्मः शर्ममे दद्या, दधर्म मप हृत्यनः॥

– आचार्य गुणभद्र

'जिन धर्मनाथ में उत्तम क्षमा आदि निर्मल दश धर्म प्रकट हुए थे वे धर्मनाथ स्वामी मेरे अधर्म को दुष्कृत्य को हरकर सुख प्रदान करें।'

पूर्वभव परिचय

पूर्व धातकी खण्ड में पूर्व दिशा की ओर सीता नदी के दाहिने किनारे पर एक सुसीमा नाम का नगर है। उसमें किसी समय दशरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत की बलवान् था। उसने समस्त शत्रुओं को जीतकर अपने राज्य की नींव अधिक मजबूत कर ली थी। उसका प्रताप और यश सारे संसार में फैल रहा था।

एक दिन चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन नगर के समस्त लोग बसन्त का उत्सव मना रहे थे। राजा भी उस उत्सव से वंचित नहीं रहा। परन्तु सहसा चन्द्र ग्रहण देखकर उसका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वह सोचने लगा कि जब राजा चन्द्रमा पर ऐसी विपत्ति पड़ सकती है तब मेरे जैसे क्षुद्र नरकीटों पर विपत्ति पड़ना असम्भव नहीं है। मैं आज तक अपने बुद्ध स्वभाव को छोड़कर व्यर्थ की विषयों में उलझा रहा। हा! हन्त! अब मैं शीघ्र ही बुढ़ापा आने के पहले ही आत्म-कल्याण करने का यत्न करूंगा। वन में जाकर जिन-दीक्षा धारण करूंगा।' ऐसा सोचकर महाराज दशरथ ने जब अपने विचार राजसभा में प्रकट किये तब एक मिथ्यादृष्टि मंत्री बोला-'नाथ! भूत चतुष्टय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) से बने हुए इस शरीर को छोड़कर आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं, यदि ऐसा होता तो जन्म के पहले और मृत्यु के पश्चात दिखता क्यों नहीं? इसलिये आप ढोंगियों के प्रपंच में आकर वर्तमान सुख छोड़ ही जंगल में कष्ट मत उठाइये। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा

जो गाय के स्तनों को छोड़कर उसके सींगों से दूध दुहेगा। मंत्री के वचन सुनकर राजा ने कहा-सचिव! तुम समीचीन ज्ञान से सर्वथा रहित मालूम होते हो। हमारे और तुम्हारे शरीर में जो अहम्, मैं इस तरह का ज्ञान होता है वही आत्म पदार्थ की सत्ता सिद्ध कर देता है। फिर करण इन्द्रियों में व्यापार देखकर कर्ता-आत्मा का अनुमान भी किया जा सकता है। इसलिये आत्मा पदार्थ, प्रमाण और अनुभव से सिद्ध है। उसका विरोध नहीं किया जा सकता। तुमने जो भूत चतुष्टय से जीव की उत्पत्ति होना बतलाया है वह व्यभिचरित है क्योंकि एक ऐसे क्षेत्र में जहाँ पर खुलकर हवा बह रही है, अग्नि के ऊपर रखी हुई जलभृत बधलोई में किसी भी जीव की उत्पति नहीं देखी जाती। जिसके रहते हुए ही कार्य हो और उसके अभाव में न हो वहीं सच्चा सम्यक् हेतू कहलाता है। पर यहां तो दूसरी ही बात है। यदि जन्म के पहले मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा को सिद्ध न मानी जावे तो सद्यप्रसूत (तत्काल में उत्पन्न हुए) बालक के दूध पीने का संस्कार कहां से आया? जाति-स्मरण और अवधिज्ञान से जो मनुष्य अपने कितने ही भव स्पष्ट देख लेते हैं वह क्या है? रही न दिखने की बात, सो वह अमूर्तिक इन्द्रियों से उसका अवलोकन नहीं हो सकता। क्या कभी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवारों की धार से आकाश का भेदन देखा गया है? इत्यादि रूप से मंत्री के नास्तिक विचारों को दूर हटा, उसे जैन तत्वों का रहस्य सुना और महारथ पुत्र को राज्य दे राजा दशरथ वन में जाकर विमलवाहन नाम के मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। वहां उसने खूब तपश्चरण किया तथा सतत अभ्यास के द्वारा ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मुनिराज दशरथ ने विशुद्ध हृदय से दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे उन्हें तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। वे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तेतीस सागर की थी, एक हाथ ऊंचा सफेद रंग का शरीर था। वे तेतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते और तेतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था जिससे वे सातवें नरक तक के रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानते, देखते थे, वे हमेशा तत्व चर्चाओं में ही अपना समय बिताया करते थे। कषायों के मन्द होने से वहां उनकी प्रवृत्ति विषयों की ओर झुकती ही नहीं थी। वे उसे आत्मीय आनन्द का उपभोग करते थे जो असंख्य विषयों

में भी प्राप्त नहीं हो सकता। यही अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान धर्मनाथ होगा और अपने दिव्य उपदेश से संसार का कल्याण करेगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में किसी समय रत्नपुर नाम का एक नगर था उसमें महासेन महाराज राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम महादेवी सुव्रता था। यद्यपि महासेन के अन्त:पुर में सैकड़ों रूपवती स्त्रियां थीं तथापि उनका जैसा प्रेम महादेवी सुव्रता पर था वैसा किन्हीं दूसरी स्त्रियों पर नहीं था। महासेन बहुत ही शूर, वीर और रणधीर राजा थे। उन्होंने अपने बाहुबल से बड़े बड़े शत्रुओं के दांत खट्टे कर अपने राज्य को बहुत ही सुविशाल और सुदृढ़ बना लिया था। मंत्रियों के ऊपर राज्य भार छोड़कर वे एक तरह से निश्चिन्त रहते थे।

महादेवी सुव्रता की अवस्था दिन प्रतिदिन बीतती जाती थी। पर उसके कोई सन्तान नहीं होती थी। एक दिन उस पर ज्योंही राजा की दृष्टि पड़ी त्योंही उन्हें पुत्र की चिन्ता ने धर दबाया। वे सोचने लगे कि जिनके पुत्र नहीं है संसार में उनका जीवन नि:सार है। पुत्र के अंग स्पर्श से जो सुख होता है उसकी सोलहवीं कला को भी चन्द्र, चन्दन, हिम, हारयष्टि, मलयानिलका स्पर्श नहीं पा सकता। जिस तरह असंख्यात ताराओं से भरा हुआ आकाश भी एक चन्द्रमा के बिना शोभा नहीं पाता है उसी तरह अनेक मनुष्यों से भरा हुआ ये मेरा अन्त:पुर भी पुत्र के बिना शोभा नहीं पा रहा है। क्या करूं? कहां जाऊं? किससे पुत्र की याचना करूं? इस तरह सोचते हुए राजा का चित्त किसी भी तरह निश्चल नहीं हो सका। उनका बदन कृष्णवर्ण हो गया और मुंह से गरम नि:श्वास निकलने लगी। सच है संसार में सर्वसुखी होना सुदुर्लभ है। राजा पुत्र की चिन्ता में दु:खी हो रहे थे कि इतने में वनमाली ने अनेक फल फूल भेंट करते हुए कहा 'महाराज! उद्यान में प्राचेतस नाम के महर्षि आये हुए हैं। उनके साथ अनेक मुनिराज हैं जो उनके शिष्य मालूम होते हैं। उन सबके समागम से वन की शोभा अपूर्व ही हो गई है। एक साथ छहों ऋतुओं ने वन धारा में शोभा प्रकट कर दी है और सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि जीव परस्पर का विरोध छोड़कर प्रेम से हिल मिल रहे हैं।

वन में मुनिराज का आगमन सुनकर राजा को इतना हर्ष हुआ कि वह शरीर में नहीं समा सका और आंसुओं के छल से बाहर निकल पड़ा। उसने उसी समय सिंहासन से उठकर मुनिराज के लिये परोक्ष प्रणाम किया तथा वनमाली को उचित पारितोषिक देकर विदा किया। फिर समस्त परिवार के साथ मुनि वन्दना के लिये वन में गया। वहां उसने भक्तिपूर्वक साष्टांग नमस्कार कर प्राचेतस महर्षि से धर्म का स्वरूप सुना; जीव, अजीव आदि पदार्थों का व्याख्यान सुना और फिर उनसे सुव्रता के पुत्र नहीं होने का कारण पूछा। मुनिराज प्राचेतस ने अपने अवधिज्ञान से सब हाल जानकार कहा 'राजन! पुत्र के अभाव में इस तरह दु:खी मत होओ। आपकी इस सुव्रता महारानी के गर्भ से पन्द्रह माह के बाद जगद्वन्द्य परमेश्वर धर्मनाथ का जन्म होगा जो अपना एवं तुम्हारा ही नहीं, सारे संसार का कल्याण करेगा।'

मुनिराज के वचनों से प्रसन्न होकर राजा ने फिर पूछा-'महाराज! उस जीव ने किस भव में, किस तरह और कैसा पुण्य किया था जिससे वह इतने विशाल तीर्थंकर पद को प्राप्त होने वाला है? मैं उसके पूर्वभव सुनना चाहता हूँ। तब प्राचेतस महर्षि ने अपने अवधिज्ञान-रूपी नेत्र से देखकर उसके पहले के दो भवों का वर्णन किया जो पहले लिखे जा चुके हैं।

राजा मुनिराज को नमस्कार कर परिवार सहित अपने घर लौट आया। उसी दिन से राज-भवन में रत्नों की वर्षा होनी शुरू हो गई और इन्द्र की आज्ञा पाकर अनेक दिक्कुमारियां रानी सुव्रता की सेवा के लिये आ गईं जिससे राजा को मुनिराज के वचनों पर दृढ़ विश्वास हो गया। देव-कुमारियों ने अन्त:पुर में जाकर रानी सुव्रता की इस तरह सेवा की कि उसका छह मास का समय क्षण भर की तरह निकल गया। वैशाख शुक्ल 13 के दिन रेवती नक्षत्र में रानी ने 16 स्वप्न देखे, उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि के सुरम्य विमान से सम्बन्ध तोड़कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। सवेरा होते ही रानी ने पतिदेव महासेन महाराज से स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने भी एक-एक कर स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहा-'ये सब तुम्हारे भावी पुत्र के अभ्युदय के सूचक हैं।' उसी समय देवों ने आकर गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया और स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से राजा-रानी का खूब सत्कार किया। नौ माह बीतने पर पुष्य नक्षत्र में महारानी सुव्रता ने तीन ज्ञान

से युक्त पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय देवों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर बालक का क्षीर-सागर के जल से कलाशाभिषेक किया। अभिषेक विधि समाप्त होन पर इन्द्राणी ने कोमल धवल वस्त्र से शरीर पोंछकर उसमें बालोचित आभूषण पहिनाये। इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की और 'धर्मनाथ' नाम रखा। मेरु पर्वत से लौटकर इन्द्र ने बालक धर्मनाथ को माता सुव्रता के पास भेज दिया और स्वयं नृत्य, संगीत आदि से जन्म का उत्सव मनाकर परिवार सहित स्वर्ग को चला गया।

राज-परिवार में बालक धर्मनाथ का बड़े प्रेम से लालन-पालन होने लगा। धीरे-धीरे शिशु अवस्था पर कर वे कुमार अवस्था में पहुँचे। उन्हें पूर्वभव के संस्कार से बिना किसी गुरु के पास पढ़े हुए ही समस्त विद्यायें प्राप्त हो गई थीं। अल्पवयस्क कुमार धर्मनाथ के अद्‌भुत पाण्डित्य देखकर अच्छे-अच्छे विद्वानों के दिमाग चकरा जाते थे। जब धर्मनाथ स्वामी ने युवावस्था में पदार्पण किया तब उनकी नैसर्गिक शोभा और भी अधिक बढ़ गई थी। अर्द्धचन्द्र के समान विस्तृत ललाट, कमल दल-सी आंखें, तोता-सी नाक, मोती से दांत, पूर्णचन्द्र-सा मुख, शंख-सा कण्ठ, मेरु कटक-सा वक्षःस्थल, हाथी की सूंड-सी भुजायें, स्थूल कन्धे, गहरी नाभि, सुविस्तृत नितम्ब, सुदृढ़ ऊरु, गतिशील जंघाएं और आरक्त चरण कमल। उनके शरीर के सभी अवयव अपूर्व शोभा धारण कर रहे थे। उनकी आवाज नूतन जलधर की सुरम्य गर्जना के समान सज्जन मयूरों को सहसा उत्कण्ठित कर देती थी। अब वे राज-कार्य में भी पिता को मदद पहुँचाने लगे। एक दिन महाराज महासेन ने उन्हें युवराज बनाकर राज्य का बहुत कुछ भार उनको सुपुर्द कर दिया जिससे उनके कन्धों को बहुत कुछ आराम मिला था। किसी समय राजा महासेन राज-सभा में बैठे हुए थे। उन्हीं के पास में युवराज धर्मनाथ जी विराजमान थे। मंत्री, पुरोहित तथा अन्य सभासद भी अपने-अपने योग्य स्थानों पर बैठे हुए थे। उसी समय द्वारपाल के साथ विदर्भ देश के कुण्डिनपुर नगर के राजा प्रतापराज का दूत सभा में आया और महाराज को सविनय नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया। राजा ने उससे आने का कारण पूछा तब उसने हाथ जोड़कर कहा-'महाराज! विदर्भ देश-कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने अपनी लड़की श्रृंगारवती का स्वयम्वर रचने का निश्चय किया है। मैं उसमें योगदान देने के लिये युवराज को निमंत्रण देने आया हूँ। श्रृंगारवती का

चित्रपट है। कहकर उसने एक चित्रपट राजा के सामने रख दिया। ज्यों ही राजा की दृष्टि उस चित्रपट पर पड़ी त्योंही वे श्रृंगारवती का रूप देख चकित रह गये। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि यह कन्या सर्वथा धर्मनाथ के योग्य है। पर उन्होंने युवराज का अभिप्राय जानने के लिये उनकी ओर दृष्टि डाली। युवराज ने भी मन्द मुस्कान से पिता के विचारों का समर्थन कर दिया। फिर क्या था? राजा महासेन ने दूत का सत्कार कर उसे विदा किया और युवराज को असंख्य सेना के साथ कुण्डिनपुर भेजा। युवराज का एक घनिष्ट मित्र प्रभाकर था जो स्वयम्वर यात्रा के समय उन्हीं के साथ था। मार्ग में जब वे विन्ध्याचल पर पहुँचे तब प्रभाकर ने मनोहर शब्दों में उसका वर्णन किया। वहीं एक किन्नरेन्द्र ने अपनी नगरी में ले जाकर युवराज का सम्मान किया। उनके साथ की समस्त सेना उस दिन वहीं पर सुख से रह आई।

युवराज धर्मनाथ के प्रभाव से वहां वन में एक साथ छहों ऋतुएं प्रकट हो गई थीं। जिससे सैनिकों ने तरह-तरह की क्रीड़ाओं से मार्गश्रम (थकावट) दूर की। वहां से चलकर कुछ दिन बाद जब वे कुण्डिनपुर पहुँचे तब वहां के राजा प्रतापराज ने युवराज को एक विशाल भवन में ठहराया। उनके पहुँचने से कुण्डिनपुर की सजावट खूब की गई थी। धीरे-धीरे अनेक राजकुमार आ आकर कुण्डिनपुर में जमा हो गये। किसी दिन निश्चित समय पर स्वयम्वर सभा सजाई गई। उनमें चारों ओर ऊंचे-ऊंचे सिंहासनों पर राजकुमार बैठाये गये। युवराज धर्मनाथ ने भी प्रभाकर मित्र के साथ एक ऊंचे आसन को अलंकृत किया। कुछ देर बाद कुमारी श्रृंगारवती हस्तिनी पर बैठकर स्वयम्वर मण्डप में आई। उनके साथ अनेक सहेलियां भी थीं। सुभद्रा नाम की प्रतिहारिनी एक-एक कर समस्त राजकुमारों का परिचय सुनाती जाती थी। पर श्रृंगारवती की दृष्टि किसी पर भी स्थिर नहीं हुई। अन्त में युवराज धर्मनाथ के पास पहुँचने पर सुभद्रा ने कहा-'कुमारि! उत्तर कौशल देश में रत्नपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। उसमें महाराज महासेन राज्य करते हैं। उनकी महारानी का नाम सुव्रता है। ये युवराज उन्हीं के पुत्र हैं। इनका युवराज धर्मनाथ नाम है। इनके जन्म होने के पन्द्रह माह पहले से देवों ने रत्न वर्षा की थी। इस समय भारतवर्ष में इन जैसा पुण्यात्मा दूसरा पुरुष नहीं है।' प्रतिहारिनी के मुंह से युवराज की प्रशंसा सुन और उनके दिव्य सौन्दर्य पर मोहित होकर कुमारी श्रृंगारवती ने लज्जा से कांपते हुए हाथ से

उनके गले में वर माला डाल दी। उसी समय सब ओर से 'साधु-साधु की' आवाज आने लगी। महाराज प्रतापराज युवराज को विवाह-वेदिका पर ले गये और वहां उनके साथ विधिपूर्वक श्रृंगारवती का विवाह कर दिया।

विवाह के दूसरे दिन युवराज धर्मनाथ ससुराल में किसी ऊंचे आसन पर बैठे हुए थे। इतने में पिता महासेन का एक दूत पत्र लेकर उनके पास आया। पत्र पढ़कर उन्होंने प्रतापराज से कहा-'पिताजी ने मुझे आवश्यक कार्यवश शीघ्र ही बुलाया है इसलिये जाने की आज्ञा दे दीजिये।' प्रतापराज उन्हें जाने से न रोक सके। युवराज धर्मनाथ समस्त सेना का भार सेनापति पर छोड़कर श्रृंगारवती के साथ देव-निर्मित पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही रत्नपुर वापिस आ गये। वहां महाराज महासेन ने पुत्र और पुत्र-वधू का खूब सत्कार किया। किसी दिन राजा महासेन संसार से विरक्त होकर राज्य का समस्त भार धर्मनाथ पर छोड़कर दीक्षित हो गये। देवों ने राज्याभिषेक कर धर्मनाथ का 'राजा' होना घोषित कर दिया। राज्य प्राप्ति के समय उनकी आयु ढाई लाख वर्ष की थी। राज्य पाकर उन्होंने नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया जिससे उनकी कीर्ति-वाहिनी सहस्रधारा हो सब ओर फैल गई। इस तरह राज्य करते हुए जब उनके पांच लाख वर्ष बीत गये तब एक दिन रात के समय उल्कापात देखकर उनका चित्त विषयों से सहसा विरक्त हो गया। उन्होंने सोचा-'मैं नित्य समझकर जिन पदार्थों में आसक्त हो सकता हूँ वे सब इसी उल्कापात की तरह क्षणभंगुर हैं-नाशशील हैं । इसलिए उन्हें छोड़कर अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिए।' उसी समय लौकान्तिक देव आये और उन्होंने भी उनके विचारों का समर्थन किया। जिससे उनका वैराग्य और भी अधिक बढ़ गया।

निदान, वे सुधर्म नामक ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर देवनिर्मित नागदत्ता पालकी पर सवार हो शाल वन में पहुँचे और वहां माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र में शाम के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। उन्हें दीक्षित होते ही मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देव लोग दीक्षाकल्याणक का उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये।

मुनिराज धर्मनाथ तीन दिन के बाद आहार लेने के लिये पाटलिपुत्र पटना गये। वहां धन्यसेन राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्रदान से

प्रभावित होकर देवों ने धन्यसेन के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। धर्मनाथ आहार लेकर वन में लौट आये और आत्मध्यान में अविचल हो गये। इस तरह एक वर्ष तक तपश्चरण करते हुए उन्होंने कई नगरों में विहार किया। वे दीक्षा लेने के बाद मौनपूर्वक रहते थे। एक वर्ष की छद्मस्थ अवस्था बीत जाने पर उन्हें उसी शाल वन में सप्तछद वृक्ष के नीचे पौष शुक्ला पौर्णमासी के दिन केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर कैवल्य-प्राप्ति का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने दिव्य सभा समवसरण की रचना की उसके मध्य मे सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया। दिव्य ध्वनि के द्वारा जीव-अजीव आदि तत्वों का व्याख्यान किया और संसार के दु:खों का वर्णन किया। जिसे सुनकर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओं के व्रत ग्रहण किये थे। प्रथम उपदेश के बाद इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना की। तब उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार कर जैन-धर्म का खूब प्रचार किया। उनके समवसरण में अरिष्टसेन आदि 43 गणधर थे, नौ सौ 11 अंग और 14 पूर्वों के जानकार थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षक थे, तीन हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे, चार हजार पांच सौ केवली थे, सात हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, चार हजार पांच सौ मन:पर्यय ज्ञानी थे, और दो हजार आठ सौ वादी थे, इस तरह सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनिराज थे। सुव्रता आदि बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएं थीं। दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

वे आयु के अन्त में सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहां आठ सौ मुनियों के साथ योगनिरोध कर ध्यानारूढ़ हो बैठ गये। उसी समय शुक्लध्यान के प्रताप से अघातिया कर्मों का संहार कर ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन पुष्य नक्षत्र में उन्होंने निर्वाण लाभ किया। तत्काल देवों ने आकर उनके निर्वाण क्षेत्र की पूजा की।

श्री अनन्तनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद चार सागर बीत जाने पर भगवान धर्मनाथ हुए थे। इनकी आयु भी इसी प्रमाण में युक्त है। इनकी पूर्णायु दस लाख वर्ष की थी। शरीर 45 धनुष ऊंचा था और रंग पीला था।

इनकी उत्पत्ति के पहले भारतवर्ष में आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था पर इन्द्र के उपदेश से वह सब दूर हो गया था और

जैनधर्म-कल्पवृक्ष पुनः लहलहा उठा था। भगवान धर्मनाथ का चिह्न वज्रदण्ड है।

16. भगवान श्री शान्तिनाथ जी

स्वदोष शान्त्याविहितात्म शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिजिनो मे भगवान् शरण्यः॥

-स्वामी समन्तभद्र

"अपने रागद्वेष आदि दोषों को दूर करने से शान्ति को धारण करने वाले शरण में आये हुए प्राणियों के शान्ति के विधाता और शरणागतों की रक्षा करने में धुरीण भगवान् शान्तिनाथ हमारे संसार सम्बन्धी क्लेश और भवों की शान्ति के लिये होंवे। हमारे सांसारिक दुःख नष्ट करें।"

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में किसी समय धनरथ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम मनोहरा था। उन दोनों के मेघरथ और दृढ़रथ नाम के दो पुत्र थे। उनमें मेघरथ बड़ा और दृढ़रथ छोटा भाई था। वे दोनों भाई एक दूसरे से बहुत प्यार करते थे, एक के बिना दूसरे को अच्छा नहीं लगता था। वे सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित होते थे। उन दोनों के पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रताप, क्षमा, सत्य तथा त्याग आदि अनेक गुण स्वभाव से ही प्रकट हुए थे।

जब दोनों भाई पूर्ण तरुण हो गये तब महाराज धनरथ ने बड़े पुत्र मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ तथा दृढ़रथ का सुमति के साथ किया। नव-वधुओं के साथ अनेक क्रीड़ा कौतुक करते हुए दोनों भाई अपना समय सुख से बिताने लगे। पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि इनमें से बड़ा भाई मेघरथ इस भव से तीसरे भव में भगवान् शान्तिनाथ होकर संसार का कल्याण करेगा और छोटा भाई दृढ़रथ तीसरे भव में चक्रायुध नाम का उसी का भाई होगा जो कि श्री शांतिनाथ का गणधर होकर मुक्ति प्राप्त करेगा।

कुछ समय बाद मेघरथ की प्रियमित्रा भार्या से नन्दिवर्धन नाम का पुत्र

हुआ और दृढ़रथ की सुमतिदेवी से वरसेन नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि सुख सामग्री से राजा धनरथ इन्द्र की तरह शोभायमान होते थे। एक दिन महाराज धनरथ राजसभा में बैठे हुए थे, उनके दोनों पुत्र भी उन्हीं के पास बैठे थे इतने में प्रियमित्रा की सुषेणा नाम की दासी एक धनतुंड नाम का मुर्गा लाई और राजा से कहने लगी कि जिसका मुर्गा इसे लड़ाई में जीत लेगा मैं उसे एक हजार दीनार दूंगी। यह सुनकर दृढ़रथ की स्त्री सुमति की कांचना नाम की दासी उसके साथ लड़ाने के लिये एक वज्रतुण्ड नाम का मुर्गा लाई। धनतुण्ड और वज्रतुण्ड में खुलकर लड़ाई होने लगी। कभी सुषेणा का मुर्गा कांचना के मुर्गा को पीछे हटा देता और कभी कांचना का मुर्गा सुषेणा के मुर्गा को पीछे हटा देता था। जिससे दोनों दल के मनुष्य बारी-बारी से हर्ष की तालियां पीटते थे। दोनों मुर्गाओं के बलवीर्य से चकित होकर राजा धनरथ ने मेघरथ से पूछा कि इन मुर्गों में यह बल कहाँ से आया? राजकुमार मेघरथ को अवधिज्ञान था इसलिये वह शीघ्र ही सोचकर पिता के प्रश्न का नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगा-

इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर है उसमें किसी समय भद्र और धन्य नाम के दो सहोदर सगे भाई रहते थे। वे दोनों गाड़ी चलाकर अपना पेट पालते थे। एक दिन उन दोनों में श्री नदी के किनारे एक बैल के लिये लड़ाई हो पड़ी जिसमें वे दोनों एक दूसरे को मारकर कांचन नदी के किनारे श्वेतकर्ण और नामकर्ण नाम के जंगली हाथी हुए। वहां भी वे दोनों पूर्वभव के बैर से आपस में लड़कर मर गये जिससे अयोध्या नगर में किसी नन्दिमित्र ग्वाला के घर पर उन्मत्त भैंसे हुए। वहां भी दोनों लड़कर मर गये, मरकर उसी नगर में शक्तिवरसेन और शब्दवरसेन नाम के राजकुमारों के यहां मेढ़े हुए। वहां भी दोनों लड़कर मरे और मरकर ये मुर्गे हुए हैं। ये दोनों पूर्वभव के बैर से ही आपस में लड़ रहे हैं।' उसी समय दो विद्याधर आकर उन मुर्गों का युद्ध देखने लगे। तब राजा धनरथ ने मेघरथ से पूछा कि ये लोग कौन हैं? और यहां कैसे आये हैं? तब मेघरथ ने कहा कि महाराज सुनिये-

'जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणी में

एक कनकपुर नाम का नगर है। उसमें गरुड़वेग विद्याधर राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धृतिषेणा था। उन दोनों के दिवितिलक और चन्द्रतिलक नाम के दो पुत्र थे। एक दिन वे दोनों भाई सिद्धकूट की वन्दना के लिये गये। वहीं पर उन्हें दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए। विद्याधर पुत्रों ने विनय सहित नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव पूछे। तब उनमें से मुनिराज ने कहा-'पहले पूर्व धातकीखण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में स्थित तिलकपुर नाम के नगर में एक अभयघोष राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम सुवर्णतिलक था। तुम दोनों अपने पूर्वभव में उन्हीं राज-दम्पति के विजय और जयन्त नाम के पुत्र थे। कारण पाकर तुम्हारे पिता अभयघोष संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये। मुनि होकर उन्होंने कठिन तपस्या की और सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। फिर आयु के अन्त में मरकर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ है। तुम दोनों विजय और जयन्त भी आयु के अन्त में जीर्ण शरीर को छोड़कर ये विवितिलक और चन्द्रतिलक विद्याधर हुए हो। तुम्हारे पूर्वभव के पिता अभयघोष स्वर्ग से चय कर पुण्डरीकिणी नगरी में राजा हेमांगद और रानी मेघमालिनी के धनरथ नाम के पुत्र हुए हैं। वे इस समय अपने पुत्र-पौत्रों के साथ मुर्गों का युद्ध देख रहे हैं। इस तरह मुनिराज के मुख से आपके साथ अपने पूर्वभवों का सम्बन्ध सुनकर ये दोनों विद्याधर आपसे मिलने के लिये आये हैं। मेघरथ के वचन सुनकर धनरथ तथा समस्त सभासद अत्यन्त प्रसन्न हुए; उसी समय दोनों विद्याधरों ने राजा धनरथ और राजकुमार मेघरथ का खूब सत्कार किया। दोनों मुर्गों ने भी अपने पूर्वभव सुनकर परस्पर का वैरभाव छोड़ दिया और सन्यासपूर्वक मरण किया जिससे एक भूतरमण नाम के वन में ताम्रचूल नाम का देव हुआ और दूसरा देवरमण नाम के वन में कनकचूल नाम का व्यन्तर देव हुआ। वहां जब उन देवों ने अवधिज्ञान से अपने पूर्वभवों का विचार किया तब उन्होंने शीघ्र ही पुण्डरीकिणीपुरी आकर राजकुमार मेघरथ का खूब सत्कार किया और अपने पूर्वभवों का सम्बन्ध बतलाया। इसके बाद उन व्यन्तर देवों ने कहा-'राजकुमार आपने हमारे साथ जो उपकार किया है हम उसका बदला नहीं चुका सकते। पर हम यह चाहते

हैं कि आप लोग हमारे साथ चलकर मानुषोत्तर पर्वत तक की यात्रा कर लीजिये। राजकुमार मेघरथ तथा महाराज धनरथ की आज्ञा मिलने पर देवों ने सुन्दर विमान बनाया और उसमें समस्त परिवार सहित राजकुमार मेघरथ को बैठाकर उसे आकाश में ले गये। वे देव उन्हें क्रम-क्रम से भरत, हैमवत आदि क्षेत्रों; गंगा, सिन्धु आदि नदियों; हिमवन्, मेरु आदि पर्वतों; पद्म, महापद्म आदि सरोवरों तथा अनेक देश और नगरियों की शोभा दिखलाते हुये मानुषोत्तर पर्वत पर ले गये। कुमार मेघरथ प्रकृति की अद्‌भुत शोभा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ, उसने समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना की, स्तुति की और फिर उन्हीं देवों की सहायता से अपने नगर पुण्डरीकिणीपुरी को लौट आया। घर आने पर देवों ने उसे अनेक वस्त्र आभूषण, मणिमालायें आदि भेंट की और फिर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

किसी एक दिन कारण पाकर महाराज धनरथ का हृदय विषयवासनाओं से विरक्त हो गया। उन्होंने बारह भावनाओं का चिन्तवन कर अपने वैराग्य को और भी अधिक बढ़ा लिया। लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और दीक्षा लेने का समर्थन किया। निदान-महाराज धनरथ युवराज मेघरथ को राज्य दे वन में जाकर दीक्षित हो गये। इधर कुमार मेघरथ ने भी अनेक साधु उपायों से प्रजा का पालन शुरू कर दिया जिससे समस्त प्रजा उस पर अत्यन्त मुग्ध हो गई। किसी एक दिन राजा मेघरथ अपनी स्त्रियों के साथ देवरमण नाम के वन में घूमता हुआ एक चन्द्रकान्त शिला पर बैठ गया। जहां पर बैठा था वहीं पर से आकाशमार्ग से एक विद्याधर जा रहा था। जब उसका विमान मेघरथ के ऊपर पहुँचा तब वह सहसा रुक गया। विद्याधर ने विमान रुकने का कारण जानने के लिये सब ओर दृष्टि डाली। ज्यों ही उसकी दृष्टि मेघरथ पर पड़ी त्योंही वह क्रोध से आगबबूला हो गया। वह झट से नीचे उतरा और शिला को, जिस पर मेघरथ बैठा हुआ था, उठाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु राजा मेघरथ ने उस शिला को अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया जिससे वह विद्याधर शिला का भारी बोझ नहीं सह सका। अन्त में वह जोर से चिल्ला उठा। उसकी आवाज सुनकर उसकी स्त्री ने विमान से उतर कर मेघरथ से पति के प्राण की भिक्षा मांगी। तब उसने पैर का अंगूठा उठा लिया जिससे विद्याधर की जान बच गई।

यह हाल देखकर मेघरथ की स्त्री प्रियमित्रा ने उससे पूछा-यह सब क्या और क्यों हो रहा है? तब मेघरथ कहने लगा-'प्रिये! यह विजयार्ध पर्वत की अलका नगरी के राजा विद्युत्दंष्ट्र और रानी अनिलवेगा का प्रिय पुत्र सिंहरथ नाम का विद्याधर है। इधर अमितवाहन तीर्थंकर की वंदना कर आया है। जब इसका विमान मेरे ऊपर आया तब वह कीलित हुए की तरह आकाश में रुक गया। जब उसने सब ओर देखा तब मैं ही दिखा, इसलिये मुझे ही विमान का रोकने वाला समझ कर वह क्रोध से आगबबूला हो गया और इस शिला को जिस पर हम सब बैठे हुए हैं। उठाने का प्रयत्न करने लगा तब मैंने पैर के अंगूठे से शिला को दबा दिया जिससे वह चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट सुनकर यह उसकी स्त्री आई और इतना कहकर मेघरथ ने उस सिंहरथ विद्याधर के पूर्वभव कह सुनाये जिससे वह पानी-पानी हो गया और पास जाकर राजा मेघरथ की खूब प्रशंसा करने लगा तथा सुवर्णतिलक नामक पुत्र को राज्य देकर दीक्षित हो गया। उसकी स्त्री मदनवेगा भी आर्यिका हो गई। राजा मेघरथ भी देवरमण वन से राजधानी में लौट आये और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

एक दिन वह अष्टाह्निका व्रत की पूजा कर उपवास की प्रतिज्ञा लिये हुए स्त्री-पुत्रों के साथ बैठकर धर्म चर्चा कर रहा था कि इतने में उसके सामने भय से कांपता हुआ एक कबूतर आया, कबूतर के पीछे-पीछे बड़े वेग से दौड़ता हुआ एक गीध आया और राजा के सामने खड़े होकर कहने लगा-'महाराज ! मैं भूख से मर रहा हूँ, आप दानवीर हैं इसलिये कृपाकर आप यह कबूतर मुझे दे दीजिये, नहीं तो मैं मर जाऊंगा।'

गीध के वचन सुनकर दृढ़रथ (मेघरथ को छोटा भाई) को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसी समय राजा मेघरथ से पूछा कि महाराज! कहिये, यह गीध मनुष्यों की बोली क्यों बोल रहा है। छोटे भाई का प्रश्न सुनकर मेघरथ ने कहा-'जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पद्मिनी खेट नाम के नगर में एक सागरसेन नाम का वैश्य रहता था। उसकी अमितमति स्त्री से धनमित्र और नन्दिषेण नाम के दो पुत्र हुए थे। वे दोनों धन के लोभ से लड़े और एक दूसरे को मारकर ये गीध और कबूतर हुए हैं' और मनुष्य की बोली यह गीध नहीं बोल रहा है किन्तु इसके पीछे एक ज्योतिषी देव है। यह आज किसी

कारण वश ईशान इन्द्र की सभा में गया था वहां पर इन्द्र के मुख से हमारी प्रशंसा सुनकर इसे कुछ ईर्ष्या पैदा हुई जिससे यह मेरी परीक्षा लेने के लिये यहां आया है और गीध के मुंह से मनुष्य की बोली बोल रहा है। दृढ़रथ से इतना कहकर राजा मेघरथ ने उस देव से कहा-भाई! तुम दान के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित मालूम होते हो। इसीलिये मुझसे गीध के लिये कबूतर ही याचना कर रहे हो। सुनो-**'अनुग्रहार्थं स्वस्याति सर्गोदानम्'** निज तथा पर के उपकार के लिये अपनी योग्य वस्तु का त्याग करना दान कहलाता और वह सत्पात्रों में ही दिया जाता है। सत्पात्र, उत्तम-मुनिराज, मध्यम-श्रावक और जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि के भेद से तीन तरह के होते हैं। देय पदार्थ भी मद्य, मांस, मधु से विवर्जित तथा सात्विक हो। अब कहो यह गीध उनमें से कौन-सा सत्पात्र है? और यह कबूतर भी क्या देय वस्तु है? राजा मेघरथ के वचन सुनकर वह देव अपने असली रूप में प्रकट हुआ और उनकी स्तुति कर अपने स्थान पर वापिस चला गया। कबूतर और गीध ने भी मेघरथ की बातें सुनकर आपस का विरोध छोड़ दिया जिससे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मर कर वे दोनों देवरमण वन में व्यन्तर हुए। उत्पन्न होते ही उन देवों ने आकर राजा मेघरथ की बहुत ही स्तुति की और अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

एक दिन उन्होंने किन्हीं चारण ऋद्धिधारी मुनिराज को आहार दिया जिससे उसके घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। किसी दूसरे दिन वह अष्टान्हिका पर्व में महापूजा कर और उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमा योग से विराजमान था। उसी समय ईशानेन्द्र ने मेघरथ की सब बातें जानकर अपनी सभा में उसकी धीर-वीरता की खूब प्रशंसा की। इन्द्र के मुख से मेघरथ की प्रशंसा सुनकर कोई अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियां उसकी परीक्षा करने के लिये आयीं और हावभाव विलासपूर्वक नृत्य करने लगीं; पर जब वे मेघरथ को ध्यान से विचलित न कर सकीं तब उन्होंने देवी रूप में प्रकट होकर उसकी खूब प्रशंसा की और स्वर्ग को चली गईं।

किसी दिन उसी इन्द्र ने अपनी सभा में मेघरथ की स्त्री प्रियमित्रा के सौन्दर्य की प्रशंसा की। उसे सुनकर रतिषेणा और रति नाम की दो देवियां उसकी परीक्षा करने के लिये आयीं। जब देवियां उसके महल पर पहुँची तब

वह तेल, उबटन लगाकर स्नान कर रही थी। उन देवियों ने छिपकर उसका रूप देखा और मन में प्रशंसा करने लगीं। फिर उन देवियों ने कन्याओं का भेष धारण कर स्त्री पहरेदार के द्वार उसके पास सन्देश भेजा कि दो कन्याएं आपकी सौन्दर्य-सुधा का पान करना चाहती हैं। उत्तम में रानी ने कहला भेजा कि तब तक ठहरो जब तक मैं स्नान न कर लूं। प्रियमित्रा स्नानकर उत्तमोत्तम वस्त्र और अलंकार पहनकर मिलने के स्थान में पहुँची और कन्याओं को आने की खबर दी। खबर पाते ही दोनों कन्याएं भीतर पहुँची और रानी प्रियमित्रा का रूप देखकर एक दूसरे की ओर देखने लगीं। जब उनसे कारण पूछा गया तब वे दोनों बोलीं—महादेवि! नहाते समय हम लोगों ने आप में जो असीम सौन्दर्य देखा था अब उसका पता नहीं है। कन्याओं की बात सुनकर प्रियमित्रा ने राजा मेघरथ की ओर देखा। तब उसने भी कहा-'हां, पहले की अपेक्षा तुम्हारे रूप में अवश्य कमी हो गयी है। पर बहुत ही सूक्ष्म। इसके बाद दोनों कन्याओं ने देवी वेष में प्रकट होकर सब रहस्य प्रकट कर दिया और उसके रूप की प्रशंसा करती हुईं वे स्वर्ग को चली गईं।

अपने रूप में कमी सुनकर प्रियमित्रा को बहुत दु:ख हुआ पर राजा मेघरथ ने मीठे शब्दों में उसका वह दु:ख दूर कर दिया। एक दिन मेघरथ के पिता, भगवान धनरथ समवसरण सहित विहार करते हुए पुण्डरीकिणीपुरी के मनोहर नामक उद्यान में आये। जब मेघरथ को उनके आने का समाचार मिला तो वह उसी समय दृढ़रथ तथा अन्य परिवार के लोगों के साथ उनकी वन्दना के लिए गया और वहां साष्टांग प्रणाम कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गया। उस समय भगवान धनरथ उपासकाध्ययन-श्रावकाचार का कथन कर चुकने के बाद उन्होंने चतुर्गति रूप संसार के दु:खों का वर्णन किया जिसे सुनकर राजा मेघरथ का हृदय संसार से एकदम डर गया। उसने उसी समय संयम धारण करने का निश्चय कर लिया और घर आकर छोटे भाई दृढ़रथ को राज्य देने लगा। पर दृढ़रथ ने कहा कि आप जिस चीज को बुरी समझकर छोड़ रहे हैं, उसे मैं क्यों ग्रहण करूं? मेरा भी हृदय सांसारिक वासनाओं से ऊब गया है। इसलिए मैं इसे भौतिक राज्य को ग्रहण नहीं करूंगा। जब दृढ़रथ ने राज्य लेने से निषेध कर दिया तब उसने अपने मेघसेन पुत्र को राज्य दे दिया और आप अनेक राजाओं के साथ वन में जाकर

दीक्षित हो मुनि हो गया। छोटे भाई दृढ़रथ ने भी उसी के साथ दीक्षा ले ली। राजा मेघरथ ने मुनि बनकर कठिन से कठिन तपस्याएं कीं और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे उसके तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में मुनिराज मेघरथ ने नमस्तिलक पर्वत पर एक महीने का प्रायोपगमन सन्यास धारण कर शान्ति से प्राण छोड़े जिससे सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तैतीस सागर की थी, शरीर की ऊंचाई एक अरत्नि-एक हाथ की थी। लेश्या शुक्ल थी। वे तेतीस हजार वर्ष बाद आहार लेते और तेतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। वहां उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था इसलिये वे सातवीं पृथ्वी तक की बात स्पष्ट रूप से जान लेते थे। अब आगामी भव में अहमिन्द्र मेघरथ भारतवर्ष में सोलहवें तीर्थंकर होंगे।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक कुरुजांगल देश है। यह देश पास-पास में बसे हुए ग्राम और नगरों से बहुत ही शोभायमान है। उसमें कहीं-कहीं ऊंची-ऊंची पर्वतमाला अपनी शिखरों से गगन को स्पर्श करती हैं। कहीं कलरव करते हुए सुन्दर निर्झर बहते हैं। कहीं मन्द नदियां धीर प्रशान्त गति से गमन करती हैं और कहीं हरे-हरे वनों में मृग, मयूर, आदि जानवर क्रीड़ायें किया करते हैं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि प्रकृति ने अपने सौन्दर्य का बहुत भाग उसी देश में खर्च किया है।

उसमें एक हस्तिनापुर नाम की नगरी है। वह परिखा, प्राकार, कूप सरोवर आदि से बहुत ही भली मालूम होती थी। उसमें उस समय गगनचुम्बी मकान बने हुये थे। जो चंद्रमा के उदय होने पर ऐसे मालूम होते थे मानो दूध से धोये गये हों। वहां की प्रजा धन-धान्य से सम्पन्न थी। कोई किसी बात के लिये दु:खी नहीं थी। वहां असमय में कभी किसी की मृत्यु नहीं होती थी। वहां के लोग बड़े धर्मात्मा और साधु स्वभावी थे। वहां राजा विश्वसेन राज्य करते थे। वे बहुत ही शूरवीर-रणधीर थे। उन्होंने अपने बाहुबल से समस्त भारतवर्ष के राजाओं को अपना सेवक बना लिया था। उनकी मुख्य स्त्री का नाम ऐरा था। उस समय पृथ्वीतल पर ऐरा के साथ सुंदरता में होड़

लगाने वाली स्त्री दूसरी नहीं थी। दोनों राज-दम्पत्ति सुख से समय बिताते थे।

ऊपर कहे हुये अहमिन्द्र मेघरथ की आयु जब वहां (सर्वार्थसिद्धि में) केवल छह माह की बाकी रह गई तब से राज-भवन में प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी। उसी समय अनेक शुभ शकुन हुये और इंद्र की आज्ञा से अनेक देव-कुमारियां ऐरा रानी की सेवा के लिये आ गईं। इन सब कारणों से राजा विश्वसेन को निश्चय हो गया कि हमारे घर पर जगत्पूज्य तीर्थंकर का जन्म होगा। अब बड़े ही आनंद से उनका समय बीतने लगा। महारानी ऐरा ने भाद्रपद कृष्णा सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रात्रि के पिछले समय सोलह स्वप्न देखे और अपने मुंह में प्रवेश करता हुआ एक सुंदर हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि की आयु पूरी कर उसके गर्भ में प्रविष्ट हुआ। प्रातः होते ही ऐरा देवी ने राजा विश्वसेन से उन स्वपनों का फल पूछा। तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारें गर्भ में तीर्थंकर ने प्रवेश किया है। नव माह बाद उसका जन्म होगा। ये स्वप्न उसी का अभ्युदय बतला रहे हैं। पति के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर रानी ऐरा को बहुत ही आनंद हुआ। उसी समय देवों ने आकर गर्भ के कल्याण का उत्सव किया और उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से राज-दम्पत्ति की पूजा की। धीरे-धीरे जब गर्भ के नौ माह पूर्ण हो गये तब ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में सवेरे के समय ऐरा ने पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। उस पुत्र के प्रभाव से तीनों लोकों में आनंद छा गया। आसनों के कांपने से देवों ने तीर्थंकर की उत्पत्ति का निश्चय कर लिया और शीघ्र ही समस्त परिवार के साथ हस्तिनापुर आ पहुँचे। वहां से इंद्र, बालक को ऐरावत हाथी पर बैठाकर मेरु पर्वत पर ले गया और वहां उसने उस सद्यप्रसूत बालक का क्षीर सागर के जल से महाभिषेक किया। फिर समस्त देव सेना के साथ हस्तिनापुर वापिस आकर पुत्र को मां की गोद में भेज दिया। राज-भवन में देव-देवियों ने मिलकर अनेक उत्सव किये। इंद्र ने आनंद नाम का नाटक किया। उस बालक का नाम शांतिनाथ रखा गया।

जन्म का उत्सव समाप्त कर देव लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये और बालक शांतिनाथ का राज-परिवार में बड़े प्रेम से पालन होने लगा। भगवान धर्मनाथ के बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने पर स्वामी शांतिनाथ हुये थे। उनकी आयु भी इसी में युक्त है। इनकी आयु एक लाख

वर्ष की थी, शरीर की ऊंचाई चालीस धनुष की थी और कांति सुवर्ण के समान पीली थी। इनके शरीर में ध्वजा, छत्र, शंख, चक्र आदि अच्छे-अच्छे चिन्ह थे। क्रम-क्रम से बालक शांतिनाथ ने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर का संगठन और अनुपम सौन्दर्य देखते ही बनता था।

दृढ़रथ जो कि राजा मेघरथ का छोटा भाई था और उसी के साथ तपस्या कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वह राजा विश्वसेन की द्वितीय पत्नी यशस्वती के गर्भ से चक्रायुध नाम का पुत्र हुआ। उसकी उत्पत्ति के समय में भी अनेक उत्सव मनाये गये थे। महाराज विश्वसेन ने योग्य अवस्था देखकर अपने दोनों पुत्रों का कुल, वय, रूप, शील आदि से शोभायमान अनेक कन्याओं के साथ विवाह करवाया था। जिनके साथ वे तरह-तरह के कौतुक करते हुये सुख से समय बिताते थे। इस तरह देवदुर्लभ सुख भोगते हुये जब तीर्थंकर शांतिनाथ के कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष बीत गये तब महाराज विश्वसेन ने राज्याभिषेकपूर्वक उन्हें अपना राज्य दे दिया और स्वयं वन में जाकर दीक्षा ली थी।

इधर महाराज शांतिनाथ छोटे भाई चक्रायुध के साथ प्रजा का पालन करने लगे। कुछ समय बाद उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ जिससे उन्हें अपने आप चक्रवर्ती होने का निश्चय हो गया। चक्ररत्न प्रकट होने के बाद ही वे असंख्य सेना लेकर दिग्विजय के लिये निकले और क्रम-क्रम से भरत क्षेत्र के छहों खण्डों को जीतकर हस्तिनापुर वापिस आ गये। वे चौदह रत्न और नौ निधियों के स्वामी थे। समस्त राजा उनकी आज्ञा को फूलों की माला समझकर हर्षपूर्वक अपने मस्तकों पर धारण करते थे। चौदह रत्नों से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुये थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि ये श्रीगृह में प्रकट हुये थे। पूरोहित, सेनापति, स्थपति और गृहपति हस्तिनापुर में ही मिले थे। तथा पट्टरानी, हाथी और घोड़ा विजयार्ध पर्वत से प्राप्त हुये थे। नव-निधियां भी पुण्य से प्रेरित हुई। इंद्र ने इन्हें नदी और सागर के समागम के स्थान पर दी थी। इस तरह चक्रधर महाराज शांतिनाथ पच्चीस हजार वर्ष तक अनेक सुख भोगते हुये राज्य करते रहे।

एक दिन वे अलंकार-गृह में बैठकर दर्पण में अपना मुंह देख कर रहे थे कि उसमें उन्हें अपने मुंह के दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। मुंह के दो

प्रतिबिम्ब देखकर वे आश्चर्य करने लगे कि यह क्या है? उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया जिससे वे पूर्वभव की समस्त बातें जान गये। उन्हों ने सोचा कि 'मैंने पूर्वभव में मुनि अवस्था में जो-जो कार्य करने का विचार किया था अभी तक उन कार्यों का सूत्रपात भी नहीं किया। मैंने अपनी विशाल आयु सामान्य मनुष्यों की तरह भोग-विलासों में फंसकर व्यर्थ ही बिता दी। समस्त विषय सामग्री क्षण-भंगुर है, देखते-देखते नष्ट हो जाती है; इसलिये इससे मोह छोड़कर आत्म-कल्याण करना चाहिये'..... इस तरह विचार कर महाराज शांतिनाथ अलंकार-घर से बाहर निकले। उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर उनके विचारों का समर्थन किया जिससे उनका वैराग्य सागर और भी अधिक लहराने लगा, उसमें तरल तरंगें उठने लगीं। लौकांतिक देव अपना कार्य समाप्त कर ब्रह्मलोक को वापिस चले गये और वहां से इंद्र आदि समस्त देव संसार की असारता का दृश्य दिखलाते हुये हस्तिनापुर आये। महाराज शांतिनाथ नारायण नामक पुत्र को राज्य देकर सर्वार्थसिद्धि पालकी पर सवार हो गये। देव लोग पालकी को कंधों पर उठाकर सहसाम्र वन में ले गये। वहां उन्होंने पालकी से उतरकर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी के दिन संध्या के समय भरणी नक्षत्र में 'नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुये जिन-दीक्षा ले ली। सामायिक चारित्र की विशुद्धता से उन्हें उसी समय मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। उनके साथ में चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण की। देव लोग दीक्षा कल्याणक का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने घर चले गये।

तीन दिन बाद मुनिराज शांतिनाथ ने आहार केलिये मंदरपुर में प्रवेश किया। वहां उन्हें सुमित्र राजा ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्रदान से प्रभावित होकर देवों ने सुमित्र महाराज के घर पर रत्नों की वर्षा की। आहार लेकर महामुनि शांतिनाथ पुनः वन में लौट आये और आत्म-ध्यान में लीन हो गये। इस तरह उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में सोलह वर्ष बिताये। इन सोलह वर्षों में भी आपने अनेक जगह विहार किया और अपनी सौम्य मूर्ति से सब जगह शांति के झरने बहाये। इसके अनंतर आप घूमते हुये उसी सहसाम्र वन में आये और वहां किसी नन्द्यावर्त नाम के पेड़ के नीचे तीन दिन उपवास की प्रतिज्ञा लेकर विराजमान हो गये। उस समय भी उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार मुनिराज विराजमान थे। उसी समय उन्होंने क्षपक श्रेणी

चढ़कर शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य आदि अनंत चतुष्टय प्राप्त किये। देवों ने आकर कैवल्य प्राप्ति का उत्सव किया और कुबेर ने समवसरण की रचना की। समवशरण के मध्य में विराजमान होकर भगवान शांतिनाथ ने अपना मौन भंग किया-दिव्य ध्वनि के द्वारा सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य आदि का व्याख्यान किया जिसे सुन समस्त भव्य जीव प्रसन्न हुये। अनेकों ने जिनदीक्षा धारण की। उनके समवशरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे, आठ सौ श्रुतकेवली थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, तीन हजार अवधिज्ञानी थे, चार हजार केवलज्ञानी थे, छह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, चार हजार मनःपर्यय ज्ञानी थे, दो हजार चार सौ वादी शास्त्रार्थ करने वाले थे। इस तरह सब मिलाकर बासठ हजार मुनिराज थे, हरिषेणा आदि साठ हजार तीन सौ आर्यिकायें थीं। सुरकीर्ति आदि दो लाख श्रावक, अर्हद्दासी आदि चार लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। इन सबके साथ उन्होंने अनेक देशों में विहार किया और जैन धर्म का खूब प्रचार किया।

जब उनकी आयु एक महीने की रह गई तब वे सम्मेद शिखर पर आये और वहां अनेक मुनिराजों के साथ योग निरोध कर प्रतिमा योग से विराजमान हो गये। वहीं पर उन्होंने सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान के द्वारा अवशिष्ट घातिया कर्मों का संहार कर ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र में मोक्ष लाभ किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण क्षेत्र की पूजा की। उसी समय यथाक्रम से चक्रायुध आदि नौ हजार मुनिराज मुक्त हुये। भगवान शांतिनाथ तीर्थंकर, कामदेव और चक्रवर्ती पदवियों के धारक थे। तीर्थंकर शांतिनाथ का चिह्न हिरण है।

17. भगवान श्री कुन्थुनाथ जी

यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या,
विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति।
तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः,
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः॥

—स्वामी समन्तभद्र

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीतानदी के दाहिने किनारे पर एक वत्स देश है। उसकी राजधानी सुसीमा नगरी थी। उसमें किसी समय सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत ही बुद्धिमान और पराक्रमी राजा था। उसने अपने बाहुबल से समस्त शत्रु राजाओं को पराजित कर उन्हें देश से निकाल दिया था। उसका नाम सुनकर शत्रु राजा थर-थर कांपते थे।

एक दिन राजा सिंहरथ मकान की छत पर बैठा हुआ था कि इतने में आकाश से उल्का (रेखाकार तेज) पात हुआ। उसे देखकर वह सोचने लगा कि 'संसार के सब पदार्थ इसी तरह अस्थिर हैं। मैं अपनी भूल से उन्हें स्थिर समझकर उनमें आसक्त हो रहा हूँ। यह मोह बड़ा प्रबल पवन है जिसके प्रचण्ड वेग से बड़े-बड़े भूधर भी विचलित हो जाते हैं। यह बड़ा सघन तिमिर है। जिसमें दूरदर्शी आंखें भी काम नहीं कर सकतीं और यह वह प्रचण्ड दावानल है जिसकी ऊष्मा से वैराग्य-लतायें झुलस जाती हैं। इस मोह के कारण ही प्राणी चारों गतियों में तरह-तरह के दु:ख भोगते हैं। अब मुझे इस मोह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा सोचकर उसने पुत्र को राज्य देकर यतिवृषभ मुनिराज के पास दीक्षा ले ली और कठिन तपस्याओं से अपने शरीर को सुखा दिया। उक्त मुनिराज के पास रहकर उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। आयु के अंत में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़कर मुनिराज सिंहरथ सर्वार्थसिद्धि के विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहां उसे तेंतीस सागर की आयु प्राप्त हुई थी, उसका शरीर एक हाथ ऊंचा था, शुक्ल लेश्या थी। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था। वह तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता और तैंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास लेता था। वहां वह अपना समस्त समय तत्त्व चर्चा में ही बिताता था। यही अहमिन्द्र आगे के भव में कथानायक भगवान् कुंथुनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्धीप के भरत क्षेत्र में एक कुरुजांगल नामक देश है। उसके

हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी और काश्यप गोत्री महाराज शूरसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम था श्रीकांता। जब ऊपर कहे हुये अहमिंद्र की आयु केवल छह महीने की बाकी रह गई तब देवों ने महाराज शूरसेन के घर पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। उसी समय श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि आदि देवियां आकर महारानी की सेवा करने लगीं। श्रावण कृष्ण एकादशी के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में श्रीकांता ने सोलह स्वप्न देखे।

उसी समय उक्त अहमिंद्र ने सर्वार्थसिद्धि से चयकर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही रानी ने राजा से स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में किसी जगत्पूज्य तीर्थंकर बालक ने प्रवेश किया है। नव माह बाद तुम्हारी कोख से तीर्थंकर बालक का जन्म होगा। समस्त देव देवेन्द्र उसे नमस्कार करेंगे। ये सोलह स्वप्न उसी का अभ्युदय बतला रहे हैं। पतिदेव के मुंह से स्वप्नों का फल और भावी पुत्र का प्रभाव सुनकर रानी श्रीकांता बहुत ही हर्षित हुई। उसी वक्त देवों ने आकर स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से राजा-रानी की पूजा की तथा उनके भवन में अनेक उत्सव मनाये। जब गर्भ के नौ माह सुख से व्यतीत हो गये तब महारानी श्रीकांता ने वैशाख शुक्ला प्रतिपदा (पड़वा) के दिन कृतिका नक्षत्र में पुत्र उत्पन्न किया। पुत्र के जन्म से एक क्षण के लिये नारकी भी सुखी हो गये। उसी समय भक्ति से प्रेरित हो चारों निकाय के देव हस्तिनापुर आये और वहां से उस सद्यप्रसूत बालक को मेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने क्षीर-सागर के जल से उसका कलशाभिषेक किया। अभिषेक समाप्त होने पर इंद्राणी ने उन्हें बालोचित आभूषण पहिनाये और इंद्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की। इसके अनंतर समस्त देव हर्ष से नाचते गाते हुये हस्तिनापुर आये। इंद्र, जिन-बालक को अपनी गोद में लिये हुये ऐरावत हाथी से नीचे उतरा और राज-भवन में जाकर उसने बालक को माता श्रीकांता के पास भेजा और तीर्थंकर कुंथुनाथ नाम रखा।

बालक कुंथुनाथ के जन्मोत्सव से हस्तिनापुर ऐसा मालूम होता था मानो इंद्रपूरी ही स्वर्ग से उतरकर भूलोक पर आ गई थी। उधर उत्सव समाप्त कर देव लोग अपने-अपने घर गये। इधर बालक कुंथुनाथ का राज-परिवार में

बड़े प्यार से पालन होने लगा। इंद्र प्रतिदिन स्वर्ग से उनकी मनभावती वस्तुयें भेजा करता था और अनेक देव विक्रिया से तरह-तरह के रूप बनाकर उन्हें प्रसन्न रखते थे। द्वितीया के चंद्रमा की तरह क्रम-क्रम से बढ़ते हुये बालक कुंथुनाथ यौवन अवस्था को प्राप्त हुये। उस समय उनके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। महाराज शूरसेन ने उनका कई योग्य कन्याओं के साथ विवाह किया और कुछ समय बाद उन्हें युवराज बना दिया।

भगवान शांतिनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया था तब श्री कुंथुनाथ तीर्थंकर हुये थे। उनकी आयु भी इसी में युक्त है। उनका शरीर पैंतीस धनुष ऊंचा था, शरीर की कांति सुवर्ण के समान पीली थी, और आयु पंचानवे हजार वर्ष की थी। जब उनकी आयु के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था, और जब इतना ही समय राज्य करते हुये बीत गया था तब चक्ररत्न प्राप्त हुआ था। चक्ररत्न के प्राप्त होते ही वे समस्त सेना के साथ षट्खण्डों की विजय के लिये निकले और कुछ वर्षों में समस्त भरतक्षेत्र में अपना शासन प्रकट कर हस्तिनापुर को वापिस लौट आये। जब दिग्विजयी कुंथुनाथ ने राजधानी में प्रवेश किया था तब बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं ने उनका स्वागत किया था। देवों तथा राजाओं ने मिलकर उनका पुनः राज्याभिषेक किया। इस तरह वे देवदुर्लभ भोग भोगते हुये सुख से समय बिताने लगे।

एक दिन महाराज कुंथुनाथ अपने इष्ट परिवार के साथ किसी वन में गये थे। वहां से लौटते समय रास्ते में उन्हें ध्यान करते हुये एक मुनिराज दिखाई पड़े। उन्होंने उसी समय अंगुली से इशारा कर अपने मंत्री से कहा- 'देखो, कितनी शांत मुद्रा है।' जब मंत्री ने उनसे मुनिव्रत धारण करने का कारण पूछा तब उन्होंने कहा-'मुनिव्रत धारण करने से संसार के बढ़ाने वाले समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है।'

इन्होंने जितने वर्ष सामान्य राजा रहकर राज्य किया था उतने ही वर्ष सम्राट होकर भी राज्य किया था। किसी एक दिन कारण पाकर उनका चित्त विषयों से उदास हो गया। जिससे उन्होंने दीक्षा लेने का सुदृढ़ संकल्प कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके विचारों का समर्थन किया। लौकान्तिक देव अपना कार्य पूरा कर अपने अपने

स्थानों पर वापिस चले गये। किंतु उनके बदले हर्ष से समुद्र की तरह उमड़ते हुये असंख्यात देव हस्तिनापुर आ पहुँचे और दीक्षा-कल्याणक की विधि करने लगे।

महाराज कुंथुनाथ पुत्र को राज्य देकर देव-निर्मित विजया नाम की पालकी पर सवार हो सहेतुक वन में पहुँचे और वहां तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर वैशाख शुक्ला पड़वा के दिन कृतिका नक्षत्र में संध्या के समय वस्त्राभूषण छोड़कर दिगम्बर हो गये। उन्हें दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देव लोग उत्सव समाप्त कर अपने स्थानों पर वापिस चले गये। चौथे दिन आहार लेने की इच्छा से उन्होंने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। वहां राजा धर्ममित्र ने उन्हें आहार देकर अचिन्त्य पुण्य कर संचय किया। वे आहार लेकर वन में लौट आये और कठिन तपस्यायें करने लगे। वे दीक्षा लेने के बाद मौन से ही रहते थे। इस तरह कठिन तपश्चर्या करते हुये उन्होंने सोलह वर्ष मौन से व्यतीत किये। इसके अनंतर विहार करते हुये वे उसी सहेतुक वन में आये और वहां तिलक वृक्ष के नीचे तेला (तीन दिन के) उपवास की प्रतिज्ञा लेकर विराजमान हो गये। आत्मा की विशुद्धि के बढ़ जाने से उन्हें उसी समय चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृतिका नक्षत्र में संध्या के समय केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने आकर उनके ज्ञान-कल्याणक की पूजा की। कुबेर ने समवसरण बनाया। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया- दिव्य ध्वनि के द्वारा पदार्थों का व्याख्यन किया और चारों गतियों व दु:खों का चित्रण किय। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये। प्रथम उपदेश समाप्त होने के बाद उन्होंने अनेक आर्य क्षेत्रों में विहार किया था जिससे जैन-धर्म का सर्वत्र सामूहिक प्रचार हुआ था।

उनके समवसरण में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे, सात सौ श्रुतकेवली थे, तेतालीस हजार एक सौ पचास शिक्षक थे, दो हजार पांच सौ अवधिज्ञानी थी, तीन हजार दो सौ केवलज्ञानी थे, पांच हजार एक सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे, तीन हजार तीन सौ मन: पर्ययज्ञानी थे और दो हजार पचास वादी शास्त्रार्थ करने वाले थे। इस तरह सब मिलाकर साठ हजार मुनिराज थे। 'भविता' आदि साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकायें थीं। तीन लाख श्रावक, दो लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात

तिर्यंच थे। जब उनकी आयु केवल एक माह की बाकी रह गई तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहीं पर प्रतिमा योग धारण कर एक हजार मुनियों के साथ वैसाख शुक्ला पड़वा के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में मोक्ष मंदिर के अतिथि बन गये। देवों ने आकर उनके निर्वाण क्षेत्र की पूजा की।

भगवान् कुंथुनाथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदवियों से विभूषित थे। इनके बकरा का चिन्ह् है।

18. भगवान श्री अरहनाथ जी

शार्दूलविक्रीडितम्

त्यक्तं ये च कुलालचक्र मिव तच्चक्रं धराचक्रचित्।
श्रीश्चासौघट दासिकावत् परम श्रीधर्मचक्रेप्सया॥
युष्मान् भक्तिभरानतान्स दुरिताशति रथ ध्वंसकृत्।
पायाद्भव्यजनानरो जिनपतिः संसार भीरून्सदा॥

—आचार्य गुणभद्र

''जिसने, भूमण्डल को संचित करने वाले चक्ररत्न को कुम्भुकार के चक्र के समान छोड़ दिया और जिसने अर्हत्य लक्ष्मी तथा धर्मचक्र की प्राप्ति की इच्छा से राज्यलक्ष्मी को घर दासी (पानी भरने वाली) की तरह छोड़ दिया वे पाप रूपी बैरियों का विध्वंस करने वाले भगवान् अरहनाथ, भक्तिभाव से नम्रीभूत और संसार से डरने वाले भव्यजनों की हमेशा रक्षा करें।''

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में किसी समय धनपति नाम का राजा राज्य करता था। वह बुद्धिमान था, बलवान था, न्यायवान था, प्रतापवान था और था बहुत ही दयावान। उसने अपने दान से कल्पवृक्षों को और निर्मल यश से शरच्चंद्र के मरीति मण्डल को भी पराजित कर दिया था। उसकी चतुराई और बल का सबसे बड़ा उदाहरण यही था कि अपने जीवन में कभी उसका

कोई शत्रु नहीं था। वह दीन दु:खी जीवों के दु:ख को देखकर बहुत ही दु:खी हो जाता था, इसलिये वह तन, मन, धन से उनकी सहायता किया करता था। उसके राज्य में राजा प्रजा सभी लोग अपनी-अपनी आजीविका के क्रमों का उल्लंघन नहीं करते थे, इसलिये कोई दुखी नहीं था।

किसी एक दिन राजा ने अर्हन्नंदन नाम के तीर्थंकर से धर्म का स्वरूप और चतुर्गतियों के दु:खों को श्रवण किया जिससे उसका चित्त विषयानन्द से सर्वथा हट गया। उसने अपना राज्यपुत्र को दे दिया और स्वयं किसी आचार्य के पास दीक्षित हो गया। उनके पास रहकर उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन किया जिससे उसे तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बंध हो गया। इस तरह कुछ वर्षों तक कठिन तपस्या करने के बाद उसने आयु के अंत में समाधि मरण किया। जिससे वह जयंत नामक अनुत्तर विमान में अहमिंद्र हुआ। वहां उसकी आयु तेतीस सागर, प्रमाण थी लेश्या शुक्ल थी और शरीर की ऊंचाई एक हाथ की थी। वहां वह अवधिज्ञान से सातवें नरक तक की बात जान लेता था। तेतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता और तेतीस पक्ष में एक बार सुगंधित श्वासोछ्वास ग्रहण करता था। वहां वह प्रवीचार सम्बंध से सर्वथा रहित था। उसका समस्त समय जिन पूजा या तत्व चर्चाओं में ही बीतता था, यही अहमिंद्र आगे के भव में भगवान अरहनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरुजांगल देश है। उसके हस्तिनापुर नगर में सोमवंशीय काश्यपगोत्री राजा सुदर्शन राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम मित्रसेना था। दोनों राज-दम्पतियों में घनिष्ठ प्रेम था। तरह-तरह के कौतुक करते हुये उन दोनों का समय बहुत ही सुख से व्यतीत होता था। जब ऊपर कहे हुये अहमिंद्र की आयु केवल छह माह की बाकी रह गई तबसे राजा सुदर्शन के घर पर देवों ने रत्नवर्षा करनी शुरू कर दी। कुबेर ने एक नवीन हस्तिनापुर की रचना कर उसमें महाराज सुदर्शन तथा समस्त नागरिक प्रजा को ठहराया। इंद्र की आज्ञा से देवकुमारियां आ आकर रानी मित्रसेना की सेवा करने लगीं। इन सब शुभ निमित्तों को देखकर राजा प्रजा को बहुत ही आनंद होता था।

फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र के उदय रहते हुये पिछली रात में मित्रसेना महादेवी ने सोलह स्वप्न देखें। उसी समय उक्त अहमिंद्र जयंत विमान से च्युत होकर उसके गर्भ में आया। प्रातः होते ही रानी ने प्राणनाथ राजा से स्वप्नों का फल पूछा; तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में जगद्वन्द्य कोई महापुरुष ने प्रवेश किया है। नव माह बाद तुम्हारे प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा। इधर राजा सुदर्शन रानी को स्वप्नों का फल सुना रहे थे। उधर 'जय जय' शब्द से आकाश को गुंजाते हुये देव लोग आ गये और भावी तीर्थंकर अरहनाथ का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाने लगे। उन्होंने माता-पिता सुदर्शन और मित्रसेना का बहुत ही सम्मान किया और उन्हें स्वर्ग से लाये हुये अनेक वस्त्राभूषण भेंट किये। गर्भाधान का उत्सव समाप्त कर देवलोग अपने-अपने स्थान पर चले गये।

नौ माह बाद रानी मित्रसेना ने मगशिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्प नक्षत्र में मति, श्रुति और अवधि ज्ञान से विराजित तीर्थंकर पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही सब ओर आनंद छा गया। भक्ति से ओत-प्रोत हुये चारों निकायों के देवों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक किया। वहां से लोटकर इंद्र ने महाराज सुदर्शन के घर पर 'आनंद' नामक नाटक किया तथा अनेक प्रकार के उत्सव किये। उस समय राज-भवन में जो भीड़ जमा थी उससे ऐसा मालूम होता था कि मानो तीनों लोकों के समस्त प्राणी वहां पर एकत्रित हो गये हों। तीर्थंकर पुत्र का 'अरहनाथ' नाम रखा गया। देव लोग जन्म-कल्याणक का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

राज-भवन में बालक अरहनाथ का बड़े प्यार से पालन होने लगा। वे अपनी बाल चेष्टाओं से माता-पिता, बंधु, बांधव आदि को बहुत ही हर्षित करते थे। माता मित्रसेना की आशाओं के साथ वे निरंतर बढ़ने लगे। जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तब उनकी शोभा बहुत ही विचित्र हो गई थी। उनकी सुंदरता पर मुग्ध होकर लोग उन्हें कामदेव कहने लगे थे।

श्रीकुंथुनाथ तीर्थंकर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष कम चौथाई पल्य बीत जाने पर भगवान अरहनाथ हुये थे। उनकी आयु भी इसी अंतराल में युक्त है। जिनराज अरहनाथ की उत्कृष्ट आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊंचा शरीर था। शरीर की कांति सुवर्ण के समान मसृण-स्निग्ध

पीली थी। उनके शरीर को रोग-शोक दु:ख वगैरह तो छू भी नहीं पाये थे। योग्य अवस्था देखकर महाराज सुदर्शन ने उनका कुलीन कन्याओं के साथ विवाह कर दिया और कुछ समय बाद उन्हें युवराज पद पर नियुक्त कर दिया था। इस तरह कुमार काल के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतने ही वर्ष बाद उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। महाराज अरहनाथ चक्ररत्न को आगे कर विशाल सेनाओं के साथ दिग्विजय के लिए निकले और कुछ वर्षों में ही समस्त भरतक्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित कर हस्तिनापुर वापिस लौट आये। दिग्विजयी सम्राट अरहनाथ का नगर-प्रवेशोत्सव बड़ी सजधज से मनाया गया था। उन्होंने चक्रवर्ती होकर इक्कीस हजार वर्ष तक राज्य किया और इस तरह उनकी आयु का तीन चौथाई हिस्सा गृहस्थ अवस्था में ही बीत गया।

एक दिन उन्हें शरद ऋतु के बादलों का नष्ट होना देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुति की और उनके विचारों का समर्थन किया जिससे उनकी वैराग्य-भावना बड़ी ही प्रबल हो उठी थी। लौकान्तिक देव अपना कार्य पूरा समझ कर स्वर्ग को चले गये और उनके बदले समस्त देव देवेन्द्र आये। उन सब ने मिलकर महाराज अरहनाथ का दीक्षा अभिषेक किया तथा वैराग्य को बढ़ाने वाले अनेक उत्सव किये। महाराज अरहनाथ अपने पुत्र अरविंद कुमार को राज्य देकर देवनिर्मित वैजयंती नाम की पालकी पर सवार हो सहेतुक वन में पहुँचे। वहां उन्होंने दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र के समय जिनदीक्षा धारण कर ली- समस्त वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये और पंच मुष्टियों से मस्तक के केश उखाड़ डाले। उन्हें उसी समय मन:पर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा ली थी। देवलोग नि:क्रमण कल्याणक का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने घर चले गये और महामुनि अरहनाथ मेरु पर्वत की तरह अचल हो आत्मध्यान में लीन हो गये। पारणे के दिन वे चक्रपुर नगर में गये; वहां राजा अपराजित ने आहार दिया। पात्रदान से प्रभावित होकर देवों ने अपराजित राजा के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। आहार लेने के बाद वे वन में लौट आये और वहां कठिन तपश्चर्या के द्वारा आत्म-शुद्धि करने लगे।

उन्होंने कई जगह विहार कर छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष व्यतीत

किये, इन दिनों वे मौनपूर्वक रहते थे। इसके अनंतर वे उसी सहेतुक वन में आकर दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले माकंद-आम के पेड़ के नीचे बैठ गये। वहां पर उन्हें घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में संध्या के समय पूर्णज्ञान-केवलज्ञान प्राप्त हो गया जिससे वे समस्त जगत् की चराचर वस्तुओं को हस्तामलकवत् स्पष्ट जानने लगे। उसी समय देवों ने आकर ज्ञानकल्याणक का उत्सव किया। कुबेर ने दिव्य सभा-समवशरण की रचना की जिसके मध्य में सिंहासन पर अंतरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपना सोलह वर्ष का मौन भंग किया, मधुर-ध्वनि में सबको उपदेश देने लगे। उपदेश के समय समवशरण की सभी बारह सभायें खचाखच भरी हुई थी। उनके उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर अनेक नर-नारियों ने व्रत दीक्षायें ग्रहण की थीं। इसके बाद उन्होंने अनेक क्षेत्रों में विहार किया और जैन-धर्म का ठोस प्रचार किया। अनेक पथ-भ्रांत पुरुषों को सच्चे पथ पर लगाया।

उनके समवशरण में कुम्भार्प आदि तीस गणधर थे, छह सौ दस श्रुतकेवली थे, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस शिक्षक थे, अट्ठाईस सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, चार हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, दो हजार पचपन मन:पर्यय ज्ञानी थे और एक हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर अर्द्ध लक्ष (पचास हजार) मुनिराज थे। यक्षिला आदि साठ हजार आर्यिकायें थी, एक लाख साठ हजार श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं, असंख्यात देव-देवियों और संख्या तिर्यंच थे।

जब उनकी आयु एक माह की अवशिष्ट रह गई तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर पहुँचकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वहीं से चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पहले पहर में मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण क्षेत्र की पूजा की तथा अनेक उत्सव मनाये। श्री अरहनाथ भी पहले के दो तीर्थंकरों की तरह तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदवियों के धारक थे। भगवान अरहनाथ का चिह्न मछली है।

19. भगवान श्री मल्लिनाथ जी

रत्न त्रयं पूर्व भवान्तरे यो, व्रतं पवित्रं कृतवानशेषम्।
कायेनवाचामनसा विशुद्धया, तं मल्लिनाथं प्रणमामि भक्त्या॥

–स्वामी समंतभद्र

पूर्वभव वर्णन

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत से पूर्व की ओर एक कच्छपवती देश है। उसमें अपनी शोभा से स्वर्गपुरी को जीतने वाली एक वीतशोका नाम की नगरी है। किसी समय उसमें वैश्रवण नाम का राजा राज्य करता था। राजा वैश्रवण महा बुद्धिमान और प्रतापी पुरुष था। उसने अपने पुरुषार्थ से समस्त पृथ्वी को अपनी आधीन कर लिया था। वह हमेशा प्रजा के कल्याण करने में तत्पर रहता था। दीन-दुखियों की हमेशा सहायता किया करता था और कला-कौशल विद्या आदि के प्रचार में विशेष योग देता था। एक दिन राजा वैश्रवण वर्षा ऋतु की शोभा देखने के लिये कुछ इष्ट-मित्रों के साथ वन में गया था। वहां सुंदर हरियाली, निर्मल, निर्झर, नदियों की तरल तरंगें, श्यामल मेघमाला, इंद्र-धनुष, चपला की चमक, बालकाओं का उत्पतन और मयूरों का मनोहर नृत्य देखकर उसका चित्त मुग्ध हो गया। वर्षा ऋतु की सुंदर शोभा देखकर उसे बहुत ही हर्ष हुआ। वहीं वन में घूमते समय राजा को एक विशाल बड़ का वृक्ष मिला, जो अपनी शाखाओं से आकाश के बहु भाग को घेरे हुये था। वह अपने हरे-हरे पत्तों से समस्त दिशाओं को हरा-भरा कर रहा था और लटकते हुये शाखाओं से जमीन को खूब पकड़े हुये था। राजा उस वटवृक्ष की शोभा अपने साथियों को दिखलाता हुआ आगे चला गया। कुछ देर बाद जब वह उसी रास्ते से लौटा तब उसने देखा कि बिजली के गिरने से वह विशाल बड़ का वृक्ष जड़ का तक जल चुका है। यह देखकर उसका मन विषयों से सहसा विरक्त हो गया। वह सोचने लगा-' जब इतना सुदृढ़ वृक्ष भी क्षण भर में नष्ट हो गया तब दूसरा कौन-सा पदार्थ स्थिर रह सकता है? मैं जिन भौतिक भोगों को सुस्थिर समझ कर उनमें तल्लीन हो रहा हूँ वे सभी इसी तरह भंगुर हैं। मैंने इतनी विशाल आयु व्यर्थ ही खो दी। कोई ऐसा काम नहीं किया जो मुझे संसार की महा व्यथा से हटाकर

सच्चे सुख की ओर ले जा सके।' इत्यादि विचार करता हुआ राजा वैश्रवण अपने घर लौट आया और वहां पुत्र को राज्य दे किसी वन में पहुँचकर श्रीनाग नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। वहां उन्होंने उग्र तपस्या से आत्महृदय को विशुद्ध बनाया और निरन्तर अध्ययन करके ग्यारह अंगों तक का ज्ञान उपार्जन किया। उसी समय उसने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया। जब आयु का अन्त समय आया तब उन्होंने सल्लेखनापूर्वक शरीर का परित्याग किया जिससे वे अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां पर उनकी आयु तेतीस सागर प्रमाण थी, एक हाथ ऊंचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह तेतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते और तेतीस पक्ष में सुगन्धित श्वास लेते थे। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त था जिससे वह लोक नाड़ी के अन्त तक की बातों को स्पष्ट जान लेते थे। वह प्रवीचार-स्त्री संसर्ग से रहित थे। उन्हें काम नहीं सताता थे। वह निरन्तर तत्व-चर्चा आदि में ही अपना समय बिताते थे। यही अहमिन्द्र आगे चलकर मल्लिनाथ तीर्थं होंगे। कब और कहां? सो सुनिये।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के बंग-बंगाल नाम के देश में एक मिथिला नाक की नगरी है। जिसकी उर्वरा जमीन में हर एक प्रकार की शस्य होती है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्रीय राजा कुम्भ राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम प्रजावती था। दोनों दम्पति सुख से समय बिताते थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर चुके हैं उसकी जब वहां पर (अपराजित विमान में) केवल छह माह की आयु बाकी रह गई तब से रानी प्रजावती के घर पर कुबेर ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में उसने हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे और मुंह में प्रवेश करते हुये एक गन्ध-सिन्धुर-मत्त हाथी को देखा। उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने अपराजित विमान से चयकर रानी प्रजावती के गर्भ में प्रवेश किया। जब सवेरा हुआ तब उसने उन स्वप्नों का फल प्राणनाथ कुम्भ महाराज से पूछा। उन्होंने स्वप्नों का अलग अलग फल बतलाते हुए कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में किसी महापुरुष तीर्थंकर ने पदार्पण

किया है। नौ माह बाद तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होगा। ये सोलह स्वप्न उसी का उभ्युदय बतला रहे हैं। राजा यह कहकर रुके ही थे कि इतने में आकाश मार्ग से असंख्य देव जय जय शब्द करते हुये उनके पास आ पहुँचे। देवों ने भक्तिपूर्वक राजदम्पति को नमस्कार किया और अनेक सुन्दर शब्दों में उनकी स्तुति की। साथ में लाये हुए दिव्य वस्त्राभूषणों से उनकी पूजा की तथा तीर्थंकर मल्लिनाथ के गर्भावतार का समाचार प्रकट कर अनेक उत्सव किये। देवों के चले जाने पर भी अनेक देवियां महारानी प्रजावती की सेवा-शुश्रुषा करती रहीं थीं, जिससे उन्हें गर्भ सम्बन्धी किसी भी कष्ट का सामना नहीं करना पड़ा था।

जब धीरे धीरे गर्भ के नौ माह बीत गये तब उन्होंने मार्गशीर्ष सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में उस पुत्र-रत्न को उत्पन्न किया, जो पूर्ण चन्द्र की तरह चमकता था, जिसके सब अवयव अलग अलग विभक्त थे और जो जन्म से ही मति, श्रुति तथा अवधिज्ञान से विभूषित था। उसी समय इन्द्रादि देवों ने बालक को मेरु शिखर पर ले जाकर वहां क्षीर-सागर के जल से उसका कलशाभिषेक किया। बाद में घर लाकर माता की गोद में बैठा दिया और तांडव नृत्य आदि अनेक उत्सवों से उपस्थित जनता को आनन्दित किया। जन्म का उत्सव समाप्त कर देवलोग अपनी अपनी जगह पर चले गये। वहां राज-भवन में बालक मल्लिनाथ का उचित रूप से लालन पालन होने लगा।

क्रम-क्रम से बाल्य और कुमार अवस्था को व्यतीत कर जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तब उनके शरीर की आभा बहुत ही विचित्र हो गई थी। उस समय उनका सुन्दर सुडौल शरीर देखकर हर एक की आंखें संतृप्त हो जाती थीं। अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरहनाथ के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर भगवान मल्लिनाथ हुये थे। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। पंचपंचाशत-पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी। पच्चीस धनुष ऊंचा शरीर था, और सुवर्ण के समान शरीर की कान्ति थी। जब कुमार मल्लिनाथ की आयु सौ वर्ष की हो गई तब उनके पिता महाराज कुम्भ ने उनके विवाह की तैयारी की। कुमार मल्लिनाथ के विवाहोत्सव के लिये पुरवासियों ने मिथिलापुरी को खूब ही सजाया। अपने द्वारों पर मणियों की वन्दन मालाऐं बांधी। मकानों की शिखरों पर पताकायें फहराईं। मार्ग में

सुगन्धित जल सींचकर फूल बरसाये और कई तरह के बाजों के शब्दों से नभ को गुंजा दिया। इधर राज-परिवार और पुरवासी विवाहोत्सव की तैयारी में लग रहे थे, उधर कुमार मल्लिनाथ राजभवन के विजन स्थान में बैठे हुये सोच रहे थे कि-विवाह-यह एक मीठा बन्धन है। मनुष्य इस बन्धन में फंसकर आत्मस्वतन्त्रता से सर्वथा वंचित हो जाते हैं। विवाह-यह एक प्रचण्ड पवन है, जिसके प्रबल झकोरों से प्रशांत हुई विषयवह्नि पुनः उद्दीप्त हो उठती है। विवाह-यह एक मलिन कर्दम है जहो कि आत्मक्षेत्र को सर्वथा मलिन बना देती है। विवाह को सभी कोई बुरी दृष्टि से देखते आये हैं और है भी बुरी चीज। तब मैं क्यों व्यर्थ ही इस जंजाल में अपने आपको फंसा दूं? मेरा सुदृढ़ निश्चय है कि मेरे जो उच्च विचार और उन्नत भावनायें हैं, विवाह उन सब पर एकदम पानी फेर देगा। मेरी उन्नति के मार्ग में यह विवाह एक अचल-पर्वत की तरह खड़ा हो जावेगा। इसलिये मैं आज निश्चय करता हूँ कि अब मैं इन भौतिक भोगों पर अनासक्त हो शीघ्र ही आत्मीय आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करूंगा। उसी समय लौकान्तिक देवों ने उनके उच्च आदर्श विचारों का समर्थन किया जिससे उनका वैराग्य अधिक प्रकर्षता को प्राप्त हो गया। अपने कार्य समाप्त पर लौकान्तिक देव अपने-अपने स्थानों पर चले गये और सौधर्म आदि इन्दों ने आकर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव करना आरम्भ कर दिया। कुमार मल्लिनाथ के इस आकस्मिक विचार-परिवर्तन से सारी मिथिला में क्षोभ मच गया। उभय पक्ष के माता-पिता के हृदय पर भारी ठेस पहुँची। पर उपाय ही क्या था? विवाह की समस्त तैयारियां एकदम बन्द कर दी गईं। उस समय नगरी में श्रृंगार और शान्त रस का उद्‌भुत समर हो रहा था। अन्त में शान्तरस ने श्रृंगार को धराशायी बनाकर सब ओर अपना आधिपत्य जमा लिया था। देवों ने कुमार मल्लिनाथ का अभिषेक कर उन्हें अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहिनाये। दीक्षा-अभिषेक के बाद वे देव-निर्मित जयन्त नाम की पालकी पर सवार होकर श्वेत वन में पहुँचे और वहां दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में संध्या के समय तीन सौ राजाओं के साथ नग्न-दिगम्बर हो गये-सब वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये तथा पंचमुष्टियों से केश लोंचकर अलग कर दिये। उन्हें दीक्षा धारण करते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। तीसरे दिन वे आहार के लिये मिथिलापुरी में गये। वहां उन्हें

नन्दिषेण ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर नन्दिषेण के घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये।

आहार लेकर महामुनि मल्लिनाथ पुनः वन में लौट आये और आत्म-ध्यान में लीन हो गये। दीक्षा लेने के छः दिन बाद उन्हें उसी श्वेत वन में अशोक वृक्ष के नीचे जन्म तिथि-मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में प्रातः काल के समय दिव्यज्ञान-केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय इंद्र आदि देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इंद्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने समवसरण 'धर्म-सभा' की रचना की। उसके मध्य में विराजमान होकर भगवान मल्लिनाथ ने अपना छः दिन का मौन भंग किया। दिव्य-ध्वनि द्वारा सप्ततत्व, नव-पदार्थ, छः द्रव्य आदि का पुष्कल विवेचन किया। चारों गतियों के दुःखों का वर्णन किया जिससे प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये।

उनके समवसरण में विशाख आदि अटठाईस गणधर थे, साढ़े पांच सौ ग्यारह अंग चौदह पूर्व के जानकारी थे। उनतीस हजार शिक्षक थे, दो हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे और एक हजार सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे। इस तरह सब मिलाकर चालीस हजार मुनिराज थे, बंधुषेणा आदि पचपन हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं, असंख्यात देव-देवियां थीं और संख्यात तिर्यंच थे।

भगवान् मल्लिनाथ ने अनेक आर्य-क्षेत्रों में विहार कर पथ-भ्रांत पथिकों को मोक्ष का सच्चा रास्त बतलाया। जब उनकी आयु केवल एक माह की बाकी रह गई तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर पहुँचकर पांच हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और अंत में योग निरोध कर फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन भरणी नक्षत्र में संध्या के समय कर्मों को नष्टकर मोक्ष महल में प्रवेश किया। उसी समय देवों ने आकर सिद्ध-क्षेत्र की पूजा की और निर्वाण कल्याणक का उत्सव मनाकर प्रचुर पुण्य का संचय किया।

भगवान् मल्लिनाथ ने कुमार अवस्था में ही अजेय कामदेव को जीतकर अपने नाम को सार्थक किया था। वे महाबली थे- शूरवीर थे, किंतु नर

शत्रुओं के संहार के लिये नहीं, अपितु आत्म शत्रु, मोह, मद, मदन आदि को जीतने के लिये। इस तरह इनके पवित्र जीवन और निर्मल आचारों का विचार करने पर 'मल्लिनाथ' स्त्री थे, यह केवल कल्पना है। भगवान मल्लिनाथ का चिह्न कलश है।

20. भगवान श्री मुनिसुव्रतनाथ जी

अबोध कालोरग मूढ़ दष्ट, मवुबुधत् गारुडरत्नवद्यः।
जगत्कृपाकोमल दृष्टि पातैः, प्रभुः प्रसद्यान्मुनिसुव्रतो न॥

–अर्हद्दास

''जिन्होंने अज्ञानरूपी काले सर्प के द्वारा डसे इस मूर्च्छित संसार को गरुडरत्न के समान सचेत किया था वे भगवान मुनिसुव्रतनाथ अपने कृपा-कोमल दृष्टिपात के द्वारा हम सब पर प्रसन्न होवें।।''

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र के अंग देश में एक चम्पापुर नामक नगर था। उसमें किसी समय हरिवर्मा नाम के राजा राज्य करते थे। महाराज हरिवर्मा अपने समय के अद्वितीय वीर बहादुर थे। उन्होंने अपने बाहुबल से समस्त शत्रुओं की आंखें नीची कर दी थीं।

एक दिन चम्पापुर के किसी उद्यान में अनंतवीर्य नाम के मुनिराज पधारे। उनके पुण्य प्रताप सेवन में एक साथ छहों ऋतुओं की शोभा प्रकट हो गई। विरोधी जंतुओं ने परस्पर का बैर-भाव छोड़ दिया। जब वनमाली ने जाकर राजा हरिवर्मा से मुनिराज अनंतवीर्य के शुभागमन का समाचार कहा तब वे बहुत ही प्रसन्न हुये। सच है- भव्य पुरुषों को वीतराग साधुओं के समागम से जो सुख होता है वह अन्य पदार्थों के समागम से नहीं होता। आभरण आदि देकर उन्होंने वनमाली को विदा किया और आप इष्ट परिवार के साथ पूजन की सामग्री लेकर मुनिराज अनंतवीर्य की वन्दना के लिये गये। वन में पहुँचकर राजा हरिवर्मा ने छत्र, चमर आदि राजाओं के चिन्ह दूर से ही अलग कर दिये और शिष्य की तरह विनीत होकर मुनिराज के समीप पहुँचे। अष्टांग नमस्कार कर हरिवर्मा, मुनिराज के समीप ही जमीन पर बैठ

गए। अनन्तवीर्य मुनिराज ने धर्मवृद्धिरस्तु कहते हुए राजा के नमस्कार का प्रत्युत्तर दिया। और स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सात भंगों को लेकर जीव-अजीव आदि तत्वों का स्पष्ट विवेचन किया। मुनिराज के व्याख्यान से महाराज हरिवर्मा को आत्मबोध हो गया। उन्होंने उसी समय अपनी आत्मा को पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव किया और रागद्वेष को दूर कर उसे सुविशुद्ध बनाने का सुदृढ़ निश्चय कर लिया। घर आकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दिया और फिर वन में जाकर अनेक राजाओं के साथ उन्हीं अनंतवीर्य मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के पास रहकर उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। इस तरह बहुत दिन तक कठिन तपस्या करके आयु के अंत में सल्लेखना विधि से शरीर त्याग किया जिससे वे चौदहवें प्राणत स्वर्ग में इंद्र हुये। वहां पर उनकी बीस सागर की आयु थी, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े तीन हाथ ऊंचा शरीर था। बीस पक्ष बाद उच्छ्वास क्रिया और बीस हजार वर्ष बाद आहार की इच्छा होती थी। वे वहां अपने सहजात अवधिज्ञान से पांचवें नरक तक की बात जान लेते थे। उनके हजारों सुंदरी स्त्रियां थीं पर उनके साथ कायिक प्रवीचार नहीं होता था। कषायों की मंदता होने के कारण मानसिक संकल्प मात्र से ही उन दम्पतियों की कामेच्छा शांत हो जाती थी। यही इंद्र आगे के भव में भगवान् मुनिसुव्रतनाथ होंगे। कहां? सो सुनियें।

वर्तमान परिचय

इसी भरतक्षेत्र के मगध (बिहार) प्रांत में एक राजगृह नामक नगर है। उसमें हरिवंश का शिरोमणि सुमित्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम सोमा था। दोनों दम्पति सुख से समय व्यतीत करते थे। पहले उन्हें किसी बात की चिंता नहीं थी। पर जब सोमा की अवस्था बीतती गई और कोई संतान पैदा नहीं हुई तब उन्हें संतान का अभाव निरंतर खटकने लगा। राजा सुमित्र समझदार पुरुष थे, संसार की स्थिति को अच्छी तरह जानते थे, इसलियें वे अपने आपको बहुत कुछ समझाते रहते थे। उन्हें संतान का अभाव विशेष कटु नहीं मालूम होता था। पर सोमा का हदय कई बार समझाने पर भी पुत्र के अभाव में शांत नहीं होता था।

एक दिन जब उसकी नजर गर्भवती क्रीड़ारत हंसी पर पड़ी, तब वह अत्यंत व्याकुल हो उठी और अपने आपकी निंदा करती हुई आंसू बहाने लगी। जब उसकी सखियाँ द्वारा राजा सुमित्र को उसके दु:ख का पता चला तब वे शीघ्र ही अंत: पुर दौड़ आये और तरह तरह के मीठे शब्दों में रानी को समझाने लगे। उन्होंने कहा कि जो कार्य सर्वथा दैव के द्वारा साध्य है उसमें मनुष्य का पुरुषार्थ क्या कर सकता है? इसलिये दैव साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिये चिंता करना व्यर्थ है इत्यादि रूप से समझाकर सुमित्र महाराज राजसभा की ओर चले गये और रानी सोमा भी क्षण भर के लिये हदय का दु:ख भूलकर कार्यान्तर में लग गई।

एक दिन महाराज सुमित्र राज सभा में बैठे हुये थे कि इतने में इंद्र की आज्ञा पाकर अनेक देवियां आकाश से उतरती हुई राजसभा में आईं और जय जय शब्द करने लगीं। राजा ने उन सबका सत्कार कर उन्हें योग्य आसनों पर बैठाया और फिर उनसे आने का कारण पूछा। राजा के वचन सुनकर श्री देवी ने कहा कि महाराज! आज से पंद्रह माह बाद आपकी मुख्य रानी सोमा के गर्भ से तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म होगा। इसलिये हम सब इंद्र की आज्ञा पाकर मुनिसुव्रतनाथ की माता की शुश्रुषा करने के लिये आई हुई हैं। इधर देवियों और राजा के बीच में यह सम्वाद चल रहा था उधर आकाश से अनेक रत्नों की वर्षा होने लगी। रत्नों की वर्षा देखकर देवियों ने कहा-कि महाराज! ये सब उसी पुण्य मूर्ति बालक के अभ्युदय को बतला रहे हैं। देवियों के वचन सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुये। राजा की आज्ञा पाकर देवियां अंत:पुर पहुँची और वहां महारानी सोमा की सेवा करने लगीं। छह माह बाद रानी ने श्रावण कृष्णा द्वितीया के दिन रात्रि के पिछले पहर में सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त इंद्र ने प्राणत स्वर्ग से मोह छोड़कर रानी सोमा के गर्भ में प्रवेश किया, देवों ने गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया और राज दम्पति का खूब सत्कार किया। जब धीरे धीरे गर्भ के दिनपूर्ण हो गये तब रानी सोमा ने वैसाख बदी दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में पुत्ररत्न उत्पन्न किया। देव ने आकर उसका अभिषेक किया और मुनिसुव्रत नाम रखा। बालक मुनिसुव्रत का राजभवन में योग्य रीति से लालन पालन हुआ। क्रम-क्रम से जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तब पिता सुमित्र महाराज ने उनका किन्हीं योग्य कुलीन कन्याओं के साथ विवाह कर दिया।

महाराज मुनिसुव्रत अनुकूल स्त्रियों के साथ तरह तरह के कौतुक करते हुये मदनदेव की आराधना करने लगे। श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद चौवन लाख वर्ष बीत जाने पर भगवान मुनिसुव्रतनाथ हुये थे। उनकी आयु भी इसी अंतराल में युक्त है। तीस हजार वर्ष की उनकी आयु थी, बीस धनुष ऊंचा शरीर था और रंग मोर के गले की तरह नीला था।

जब कुमारकाल के सात हजार पांच सौ वर्ष बीत गये तब उन्हें राजगद्दी प्राप्त हुई। राज्य पाकर महाराज मुनिसुव्रतनाथ ने प्रजा का इस तरह पालन किया था कि जिससे वह सुमित्र महाराज का स्मरण बहुत समय तक नहीं रख सकी थी। इस तरह आनंदपूर्वक राज्य करते हुये तब उन्हें पंद्रह हजार वर्ष बीत गये तब एक दिन मेघों की गर्जना सुनने से उनके प्रधान हाथी ने खाना पीना छोड़ दिया। जब लोगों ने मुनिसुव्रत स्वामी से उसका कारण पूछा तब वे अवधिज्ञान से सोचकर कहने लगे-''यह हाथी इससे पहले भव में तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। उसे अपने कुल, धन, ऐश्वर्य आदि का बहुत ही अभिमान था। उसने एक बार पात्र अपात्र का कुछ भी विचार न कर किमिच्छक दान दिया था, जिससे मरकर यह हाथी हुआ है। इस समय इसे अपने अज्ञान का कुछ भी पता नहीं है, न बड़ी भारी राज्य सम्पदा का। यह मूर्ख केवल वन का स्मरण कर दु:खी हो रहा था।..... महाराज के उक्त वचन सुनकर उस हाथी को अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया जिससे उसने शीघ्र ही देशव्रत धारण कर लिये। इसी घटना से महाराज मुनिसुव्रतनाथ को आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। वे संसार परिभ्रमण से एकदम उदास हो गये। उसी समय उन्होंने विषयों की निस्सारता का विचार कर उन्हें उन्हें छोड़ने का सुदृढ़ निश्चय कर लिया। लौकान्तिक देवों ने आकर उनके उक्त विचारों का समर्थन किया जिससे उनका वैराग्य और भी अधिक बढ़ गया। अपना कार्य पूरा कर लौकान्तिक देव तो अपने स्थान पर चले गये और चतुर्णिकाय के देव दीक्षा कल्याणक मनाने के लिए आए। महाराज मुनिसुव्रतनाथ युवराज विजय को राज्य देकर देव-निर्मित अपराजित पालकी पर सवार हो नील नामक वन में पहुँचे। वहां उन्होंने वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में संध्या के समय तेला (तीन दिन) के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। उन्हें जिन-दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गई थीं। चौथे दिन आहार लेने

के लिये वे राजगृह नगरी में पहुँचे। वहां उन्हें वृषभसेन ने नवधा भक्ति पूर्वक शुद्ध प्रासुक आहार दिया। पात्रदान से प्रभावित होकर देवों ने वृषभसेन के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। राजगृही से लौटकर उन्होंने ग्यारह महीने तक कठिन तपश्चरण किया और फिर वैसाख कृष्णा नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में संध्या के समय उसी नील वन में चम्पक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

केवलज्ञान के द्वारा वे विश्व के चराचर पदार्थों को एक साथ जानने लगे थे। उसी समय देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। धनपति ने दिव्य सभा-समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया-दिव्य-ध्वनि के द्वारा सर्वोपयोगी तत्वों का स्पष्ट विवेचन किया। चारों गतियों के दु:खों का लौमहर्षक वर्णन किया, जिससे अनेक भव्य जीवन प्रतिबुद्ध हो गये थे। इंद्र की प्रार्थना सुनकर उन्होंने अनेक आर्य क्षेत्रों में विहार किया और असंख्य नर-नारियों को धर्म का सच्चा स्वरूप समझाया। धीरे-धीरे समवशरण में अनेक भव्य जीवों ने आश्रय लिया था।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है-'उनके समवसरण में मल्लि आदि अठारह गणधर थे, पांच सौ द्वादशांग के जानकार थे, इक्कीस हजार शिक्षक थे, एक हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार पांचसौ मन:पर्ययज्ञानी थे, एक हजार आठ सौ केवलज्ञानी थे, बाईस सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे और एक हजार दो सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर तीस हजार मुनिराज थे। इनके सिवाय पुष्पदत्ता आदि पचास हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। इन सबके साथ भगवान मुनिसुव्रतनाथ अनेक आर्य क्षेत्रों में विहार करते थे।

निरंतर विहार करते-करते जब उनकी आयु एक माह अवशिष्ट रह गया तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर पहुँचकर वहां एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और शुक्ल ध्यान के द्वारा अघाति चतुष्क का क्षय कर फाल्गुण कृष्णा द्वादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर मुक्ति मंदिर में प्रवेश किया। इंद्र आदि देवों ने आकर उनके निर्वाण-कल्याणक

का महान उत्सव किया। भगवान मुनिसुव्रतनाथ का चिह्न कछुआ है।

21. भगवान श्री नमिनाथ जी

शिखरिणी

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्यज्जगति सुलभे श्रायस पथे–
स्तुयान्नत्वां विद्वान् सततमभि पूज्यं नमिजिनम्॥

–स्वामी समंतभद्र

''साधु की स्तुति, स्तुति करने वाले के कुशल अच्छे परिणाम के लिये होती है। यद्यपि उस समय स्तुति करने योग्य साधु सामने मौजूद हों और न भी हों तथापि उस उत्कृष्ट स्तोता के स्तुति का फल होता है। इस तरह संसार में अपनी आधीनता के अनुसार जबकि हित का मार्ग सुलभ हो रहा है, तब कौन विद्वान हमेशा पूजनीय भगवान नमिनाथ को नहीं पूजेगा? अर्थात् सभी पूजेंगे।''

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक वत्स नाम का देश है, उसकी कौशाम्बी नाम की नगरी में किसी समय पार्थिव नाम का राजा राज्य करता था। पार्थिव की प्रधान पत्नी का नाम सुंदरी था। ये दोनों राज-दम्पति सुख से काल यापन करते थे। कुछ समय बाद इनके सिद्धार्थ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सिद्धार्थ बड़ा ही होनहार बालक था। जब वह बड़ा हुआ तब राजा पार्थिव ने उसे युवराज बना दिया। एक दिन पार्थिव महाराज मनोहर नाम के बगीचे में घूम रहे थे। वहीं पर उन्हें एक मुनिवर नाम के साधु के दर्शन हुये। राजा ने उन्हें भक्ति से सिर झुकाकर नमस्कार किया और उनके मुख से धर्म का स्वरूप सुना। धर्म का स्वरूप सुन चुकने के बाद उसने उनसे अपने पूर्वभव पूछे तब मुनिवर मुनिराज ने अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से स्पष्ट देखकर उसके पूर्वभव कहे। अपने पूर्वभवों का समाचार जानकार राजा पार्थिव को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने घर आकर युवराज सिद्धार्थ को राज्य दिया और फिर वन में

पहुँचकर उन्हीं मुनिराज के पास जिन दीक्षा ले ली। इधर सिद्धार्थ भी पिता का राज्य पाकर बड़ी कुशलता से प्रजा का पालन करने लगा। कालक्रम से सिद्धार्थ के एक श्रीदत्त नाम का पुत्र हुआ जो अपने शुभ-लक्षणों से कोई महापुरुष मालूम होता था। किसी समय राजा सिद्धार्थ को अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधि-मरण का समाचार मिला जिससे वह उसी समय विषयों से विरक्त होकर मनोहर नामक वन में गया और वहां महाबल नामक केवली के दर्शनकर उनसे तत्वों का स्वरूप पूछने लगा। केवलीश्वर महाबल भगवान के उपदेश से उसका वैराग्य पहले से और अधिक बढ़ गया। इसलिये वह युवराज श्रीदत्त को राज्य देकर उन्हीं केवली भगवान की चरण छाया में दीक्षित हो गया। उनके पास रहकर उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और विशुद्ध हृदय से दर्शन विशुद्धि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बंध किया तथा आयु के अंत में समाधि धारणकर अपराजित नामक विमान में अहमिद्र हुआ। वहां उसकी आयु तेंतीस सागर की थी। शरीर एक अरत्नि हाथ ऊंचा था, शुक्ल लेश्या थी। तेंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता और तेंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। वहां वह अपने अवधिज्ञान से सप्तम नरक तक की वार्तायें स्वष्ट जान लेता था। यही अहमिंद्र आगे चलकर भगवान नमिनाथ होगा और संसार का कल्याण करेगा।

वर्तमान परिचय

वहां अनेक तरह के सुख भोगते हुये जब उसकी आयु केवल छह माह की रह गई और वह भूतल पर अवतार लेने के सम्मुख हुआ तब इसी भरतक्षेत्र में बंग-बंगाल देश की मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय महाराज श्री विजय राज्य करते थे जो अपने समय के अद्वितीय शूर वीर थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला था। देवों ने उनके घर पर रत्नों की वर्षा की और श्री, ह्री आदि देवियों ने मन, वचन, काय से उनकी सेवा की। उन्होंने आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन अश्विनी नक्षत्र में रात के पिछले भाग में हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त अहमिंद्र ने अपराजित विमान से चयकर हाथी के आकार हो उनके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही जब वप्पिला रानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा तब उन्होंने कहा-

''आज तुम्हारे गर्भ में त्रिभुवन नायक तीर्थंकर भगवान ने प्रवेश किया है। ये सोलह स्वप्न और यह रत्नों की अविरल वर्षा उन्हीं का माहात्म्य प्रकट कर रही है। प्रात: होते ही देवों ने आकर मिथिलापुरी की तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर राज भवन में जाकर महाराज श्री विजय और वप्पिला देवी की खूब स्तुति की तथा अनेक वस्त्राभूषण देकर उन्हें प्रमुदित किया।

गर्भकाल के नौ माह बीत जाने पर रानी वप्पिला ने आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में तेजस्वी बालक को उत्पन्न किया। उसके दिव्य तेज से समस्त प्रसूतिगृह जगमगा उठा था। उसी समय देवों ने आकर उसके जन्म कल्याणक का उत्सव मनाया और नमिनाथ नाम से सम्बोधित किया। महाराज श्री विजय ने भी पुत्र रत्न की उत्पत्ति के उपलक्ष में करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया था। जन्म का उत्सव समाप्त कर देव लोग अपने-अपने घर चले गये। राज-मन्दिर में बालक नमिनाथ का उचित रूप से पालन होने लगा। क्रम-क्रम से जब वे तरुण अवस्था को प्राप्त हुये तब महाराज श्री विजय ने उनका योग्य कुलीन कन्याओं के साथ विवाह सम्बंध कर दिया और उन्हें युवराज पद पर नियुक्त किया।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के मोक्ष जाने से साठ लाख वर्ष बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी में युक्त है। आयु दश हजार वर्ष की थी। शरीर पंद्रह धनुष ऊंचा था और शरीर का रंग तपाये हुये सुवर्ण की तरह था। कुमार काल के पच्चीस सौ वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्याभिषेक पूर्व राज-गद्दी देकर श्री विजय महाराज आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हुये थे। महाराज नमिनाथ ने राज्य पाकर दुष्टों का उच्छेद और साधुओं का अनुग्रह किया। बीच-बीच में देवलोग संगीत आदि की गोष्ठियों से उनका मन प्रसन्न रखते थे। इस तरह सुखपूर्वक राज्य करते हुये उन्हें पांच हजार वर्ष बीत गये।

एक दिन किसी वन में घूमते हुये महाराज नमिनाथ वर्षा-ऋतु की शोभा देख रहे थे कि इतने में आकाश में घूमते हुये दो देव उनके पास पहुँचे। जब महाराज ने उनसे आने का कारण और परिचय पूछा तब वे कहने लगे-''नाथ इसी जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में एक वत्सकावती देश है, उसके सुसीमा नगर में अपराजित विमान से आकर एक अपराजित नाम के तीर्थंकर हुये हैं।

उनके केवलज्ञान की पूजा के लिये सब इंद्रादिक देव आये थे। कल उनके समवसरण में किसी ने पूछा था कि इस समय भरतक्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थंकर है। तब स्वामी अपराजित ने कहा था कि इस समय भरतक्षेत्र-बंगाल प्रांत की मिथिलानगरी में नमिनाथ स्वामी हैं जो कुछ समय बाद तीर्थंकर होकर दिव्य-ध्वनि से संसार का कल्याण करेंगे। वे अपराजित विमान से आकर वहां उत्पन्न हुये हैं। महाराज! पहले हम दोनों धातकीखण्ड द्वीप के रहने वाले थे पर अब तपश्चर्या के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देव हुये हैं। दूसरे दिन हम लोग अपराजित केवली की वंदना के लिये गये थे सो वहां पर आपका नाम सुनकर दर्शनों की अभिलाषा से यहां आये हैं।

महाराज नमिनाथ देवों की बात सुनकर अनेक नगर को लौट तो आये पर उनके हदय में संसार परिभ्रमण के दु:खों ने स्थान जमा लिया। उन्होंने सोचा कि ''वह जीव नाटक के नट की तरह कभी देव का, कभी मनुष्य का, कभी तिर्यंच का और कभी नारकी का वेष बदलता रहता है। अपने ही परिणामों से अच्छे बुरे कर्मों को बांधता है और उनके उदय में यहां वहां घूमकर जन्म लेकर दु:खी होता है। इस संसार परिभ्रमण का यदि कोई उपाय है तो दिगम्बर मुद्रा धारण करना ही है''..... यहां महाराज नमिनाथ ऐसा विचार कर ही रहे थे कि वहां लौकान्तिक देवों के आसन कांपने लगे जिससे वे अवधिज्ञान से सब समाचार जानकर नमिनाथ जी के पास आये और सारगर्भित शब्दों में उनकी स्तुति तथा उनके विचारों का समर्थन करने लगे। लौकान्तिक दवों के समर्थन से उनका वैराग्य और भी अधिक बढ़ गया। इसलिये उन्होंने सुप्रभ नामक पुत्र को राज्य दे दिया और आप 'उत्तर कुरु' नाम की पालकी पर सवार होकर 'चित्रवन' में पहुँचे। वहां दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। देवलोग तपकल्याणक का उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चले गये। महामुनि नमिनाथ का दीक्षा के समय ही मन:पर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गई थीं।

वे तीसरे दिन आहार लेने की इच्छा से वीरपुर नगर में गये। वहां पर दत्त राजा ने उन्हें विधिपूर्वक आहार दिया था। तदनंतर उन्होंने छद्मस्थ अवस्था

के नौ वर्ष मौनपूर्वक व्यतीत किये। छद्मस्थ अवस्था में भी उन्होंने कई जगह विहार किया। नौ वर्ष के बाद वे उसी दीक्षावन-चित्रवन में आये और वहां मौलिश्री-नकुल वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर विराजमान हो गये। वहीं पर उन्हें मार्ग-शीर्ष शुक्ला पूर्णमासी के दिन अश्विनी नक्षत्र में तीसरे दिन पूर्णज्ञान-केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय इंद्र आदि देवों ने अकार उनकी पूजा की। इंद्र की आज्ञा पाकर धनपति कुबेर ने समवशरण की रचना की। उसके मध्य में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने नौ वर्ष के बाद मौन भंग किया। दिव्य-ध्वनि के द्वारा सब पदार्थों का व्याख्यान किया। लोगों को अनेक सामाजिक सुधार बतलाये। उनके प्रभाव, शील और उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर कितने ही भव्य जीवों ने मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं के व्रत धारण किये थे। इंद्र की प्रार्थना सुनकर उन्होंने प्राय: समस्त आर्य-क्षेत्रों में विहार किया और सत्य धर्म का ठोस प्रचार किया।

उनके समवशरण में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे, चार सौ पचास गयारह अंग और चौदह पूर्व के जानकार थे, बारह हजार छह सौ शिक्षक थे, एक हजार छ: सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, पंद्रह सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, बारह सौ पचास मन:पर्यय ज्ञानी थे और एक हजार वादी शास्त्रार्थ करने वाले थे। इस तरह कुल मिलाकर बीस हजार मुनिराज थे। मंगिनी आदि पैंतालीस हजार आर्यिकायें थीं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। भगवान नमिनाथ इन सबके साथ विहार करते थे।

निरंतर विहार करते-करते जब उनकी आयु केवल एक माह बाकी रह गई तब वे विहार और उपदेश आदि बंद कर सम्मेद-शिखर पर जा पहुँचे और वहीं पर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हो गये। वहीं पर उन्होंने वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रात:काल के समय अश्विनी नक्षत्र में शुक्ल ध्यान रूपी वन्हि के द्वारा समस्त अघातिया कर्मों को जलाकर आत्म-स्वातन्त्र मोक्ष लाभ किया। उसी समय देवों ने आकर सिद्ध-क्षेत्र की पूजा की और निर्वाण-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान नमिनाथ का चिह्न नील कमल है।

22. भगवान श्री नेमिनाथ जी

राजीमतीं यः प्रविहाय मोक्षे, स्थितिं चकारापुनरागमाय।
सर्वेषु जीवेषु दयां दधानस्तं नेमिनाथं प्रणमामि भक्त्या॥

—स्वामी समन्तभद्र

पूर्वभव वर्णन

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेहक्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर किनारे पर एक सुगन्धिल नाम का देश है। उनके सिंहपुर नगर में किसी समय अर्हद्दास नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था। दोनों दम्पत्ति साधु स्वभावी और आसन्न भव्य जीव थे। वे अपना जीवन धर्ममय बिताते थे।

किसी समय महारानी जिनदत्ता ने अष्टान्हिका के दिनों में सिद्धयंत्र की पूजा की और इससे अभिलाषा की कि हमारे कोई उत्तम पुत्र हो। ऐसी आशा कर वह प्रसन्नचित्त हो रात्रि में सुखपूर्वक सो गई। निद्रावस्था में उसने सिंह, हाथी, चंद्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक ऐसे पांच शुभ स्वप्न देखे। उसी समय उसके गर्भ में स्वर्ग से आकर किसी पुण्यात्मा जीव ने प्रवेश किया। नौ माह बीत जाने पर उसने एक महा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न किया। उसके उत्पन्न होते ही अनेक शुभ शकुन हुये थे। वह खेल-कूद में भी अपने भाईयों के द्वारा जीता नहीं जाता था। इसलिये राजा ने उसका 'अपराजित' नाम रखा था। अपराजित दिन दूना और रात चौगुना बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उसने युवावस्था में प्रवेश किया, जिससे उसके शरीर की शोभा कामदेव से भी बढ़कर हो गई थी। धीरे-धीरे उसने युवावस्था में प्रवेश किया, जिससे उसके शरीर की शोभा कामदेव से भी बढ़कर हो गई थी। योग्य अवस्था देखकर राजा अर्हद्दास ने उसका कुलीन कन्याओं के साथ विवाह-बंधन कर दिया और कुछ समय बाद उसे युवराज भी बना दिया।

एक दिन वनमाली ने राजा अर्हद्दास के वन में विमलवाहन नामक तीर्थंकर के आने का समाचार उनसे कहा। जिससे राजा प्रसन्नचित्त हो समस्त परिवार के साथ उनकी वन्दना के लिये गया। वहां उसने तीन प्रदक्षिणायें देकर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और मनुष्योचित स्थान पर बैठकर

धर्म का स्वरूप सुना। तीर्थंकर देव के उपदेश से विषय-विरक्त होकर उसने युवराज अपराजित को राज्य दे दिया और आप उन्हीं विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। कुमार अपराजित ने भी सम्यग्दर्शन और अणुव्रत धारण कर राजधानी में प्रवेश किया। वहां वह राज्य की समस्त व्यवस्था सचिवों के आधीन छोड़कर धर्म और काम के सेवन में लग गया। एक दिन उसने सुना कि पूज्य पिताजी के साथ-साथ श्री विमलवाहन तीर्थंकर गन्ध मादन पर्वत से मुक्त हो गये हैं। यह सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं श्री विमलवाहन तीर्थंकर के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करूंगा। इस तरह बिना भोजन किये उसको आठ दिन हो गये तब इन्द्र की आज्ञा पाकर यक्षपति ने अपनी माया से विमलवाहन तीर्थंकर का साक्षात् स्वरूप बना कर दिखलाया। अपराजित समवसरण में वंदना कर उनकी पूजा की और फिर भोजन किया।

एक दिन राजा अपराजित फाल्गुण मास की अष्टाह्निकाओं के दिनों में जिनेन्द्रदेव की पूजा कर जिन-मन्दिर में बैठा हुआ धर्मोपदेश कर रहा था। इतने में वहां पर चारण ऋद्धिधारी दो मुनिराज आये। राजा ने खड़े होकर दोनों मुनिराजों का स्वागत किया और भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्हें योग्य आसन पर बैठाया। कुछ देर तक धर्म-चर्चा होने के बाद राजा ने मुनिराज से कहा कि-महाराज मैंने पहिले कभी आपको देखा है। यह सुनकर बड़े मुनिराज बोले-'ठीक है, आपने मुझे अवश्य देखा है, पर कहां; यह आप नहीं जानते इसलिये मैं कहता हूँ सुनिये-

पुष्कारार्धद्वीप के पश्चिम मेरु की ओर पश्चिम विदेह-क्षेत्र में जो गन्धिल नाम का देश है उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक सूर्यप्रभ नाम का नगर है। उसमें किसी समय सूर्यप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम धारिणी था। उन दोनों के चिन्तागति, मनोगति और चपलगति नाम के तीन पुत्र थे। उनमें चिन्तागति बड़ा, मनोगति मझला और चपलगति छोटा पुत्र था। राजा सूर्यप्रभ अपने बुद्धिमान् पुत्र और पतिव्रता धारिणी के साथ सुख से जीवन बिताता था।

उसी गन्धिल देश की उत्तर श्रेणी में अरिंदम नगर के राजा अरिंजय और रानी अजितसेना के एक प्रीतिमती नाम की पुत्री थी। प्रतिमती बहुत ही बुद्धिमती लड़की थी। जब वह युवती हुई और उसके विवाह होने का समय

आया तब उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जो राजकुमार मुझे शीघ्र गमन में जीत लेगा मैं उसी के साथ विवाह करूंगी, किसी दूसरे के साथ नहीं। यह प्रतिज्ञा लेकर उसने मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देने में एकमात्र चिन्तागति को छोड़कर समस्त विद्याधर राजकुमारों को जीत लिया। जब प्रीतिमती विजयी चिन्तागति के गले में वरमाला डालने के लिये गई तब उसने कहा-इस माला से तुम मेरे छोटे भाई चपलगति को स्वीकार करो। क्योंकि उसी के निमित्त से यह गति-युद्ध किया था। चिन्तागति की बात सुनकर प्रीतिमती ने कहा-मैं चपलगति से पराजित नहीं हुई हूँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह वरमाला आपके ही श्रीकंठ में डालना चाहती हूँ। पर चिन्तागति ने उसका कहना स्वीकार नहीं किया। इसलिये वह विरक्त होकर किसी निवृता नाम की आर्यिका के पास दीक्षित हो गई। प्रीतिमती का साहस देखकर चिन्तागति, मनोगति और चपलगति भी दमवर मुनिराज के पास दीक्षित हो गये और कठिन तपश्चरण कर आयु के अन्त में माहेन्द्र स्वर्ग में सामानिक देव हुये। वहां उन्होंने महा मनोहर भोग भोगते हुए सुख से सात सागर व्यतीत किये। आयु के अन्त में वहां से च्युत होकर दोनों छोटे भाई मनोगति और चपलगति, जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र और रानी गगनसुन्दरी के हम अमितगति और अमिततेज नाम के पुत्र हुए हैं। किसी एक दिन हमारे पिता गगनचन्द्र पुण्डरीकिणी नगर को गये, वहां स्वयंप्रभ भगवान से हम दोनों के अगले-पिछले जन्मों की बात पूछी। पिता की बात सुन्कर स्वयंप्रभ महाराज ने हमारे पूर्व और आगे के कुछ भव बतलाये। उसकी प्रकरण में हम दोनों के पूर्वभव के बड़े भाई चिन्तागति का नाम आया था। उसे सुनकर पिताजी ने भगवान से पुनः पूछा-चिन्तागति इस समय कहां उत्पन्न हुआ है? तब उन्होंने कहा-इस समय वह सिंहपुर नगर में अपराजित नाम का राजा हुआ है। इस प्रकार भगवान स्वयंप्रभ के वचन सुनकर हम दोनों भाई वहां पर दीक्षित हो गये और फिर पूर्व-जन्म के स्नेह से तुम्हें देखने के लिये आये हैं। राजन्! अब तक आपने पूर्व-पुण्य के उदय से अनेक भोग भोगे हैं। एक अज्ञ की तरह आपने अपने को अजर अमर समझ कर आत्म-हित की ओर कुछ भी प्रवृत्ति नहीं की है। इसलिये अब आप विषय-वासनाओं से विमुक्त होकर कुछ आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्ति कीजिये। यह सुनकर राजा

अपराजित ने उन दोनों मुनियों की खूब स्तुति की और उनका आभार माना। मुनिराज अपना कार्य पूरा कर आकाश-मार्ग से विहार कर गये।

राजा आपराजित ने भी अपनी प्रीतिंकर नाम के पुत्र को राज्य दिया, अष्टान्हिक पूजा की और अब शेष दिनों में प्रयोपगमन सन्यास धारण कर अच्युतेन्द्र हुआ। वहां पर वह बाईस सागर तक नर-दुर्लभ सुख भोगता रहा। आयु पूर्ण होने पर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा श्रीचंद्र और रानी श्रीमती के सुप्रतिष्ठित नाम का पुत्र हुआ। राजा श्रीचन्द्र ने उसका विवाह सुनन्दा नामक कन्या के साथ कर दिया जिससे वह तरह-तरह के के भोग-विलासों से अपने यौवन को सफल करने लगा।

किसी एक दिन महाराज श्रीचन्द्र ने सुप्रतिष्ठित पुत्र को राज्य देकर सुमन्दर नाम के मुनिराज के पास दीक्षा ले ली। इधार सुप्रतिष्ठित भी काम, क्रोध, पद, मात्सर्य, लोभ, मोह आदि अन्तरंग तथा बहिरंग आदि शत्रुओं को जीतकर न्यायपूर्वक राज्य करने लगा। उसने किसी समय यशोधर नामक मुनिराज को आहार दिया था जिससे उसके घर पर पंचाश्चर्य प्रकट हुये थे। एक दिन राजा सुप्रतिष्ठित अपने समस्त परिवार के साथ मकान की छत पर बैठकर चन्द्रमा की सुन्दर सुषमा देख रहा था। उसी समय आकाश से एक भयंकर उल्कापात हुआ जिससे उसका मन विषयों से सहसा विरक्त हो गया। वह संसार की क्षणभंगुरता का विचार करता हुआ विषय-लालसाओं से एकदम सहम गया। उसने उसी समय अपने सुदृष्टि नामक पुत्र को राज्य देकर किन्हीं समुन्दर नामक ऋषिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। वहां उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया। जब आयु का अन्तिम समय आया तब वह सन्यासपूर्वक शरीर छोड़ जयन्त नाम के अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहां उसकी आयु तैंतीस सागर की थी। शरीर एक हाथ ऊंचा था। लेश्या परम शुक्ल थी। तैंतीस हजार वर्ष बाद आहार लेने की इच्छा होती थी और तेतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास क्रिया होती थी। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था। जिसके बल से वह नीचे सातवें नरक तक की बात जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान नेमिनाथ होकर जगत का कल्याण करेगा। कहां? सो सुनिये।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र के कुशार्थ देश में एक शौर्यपुर नामक का नगर है उसमे किसी समय शूरसेन नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा हरिवंशरूपी आकाश में सूर्य के समान चमकता था। कुछ समय बाद शूरसेन के शूरवीर नाम का पुत्र हुआ। जो सचमुच शूरवीर था। उसने समस्त शत्रु जीत लिये थे; उस वीर की स्त्री का नाम धारिणी था। उससे उसके अन्धक वृष्णि और नर वृष्णि नाम के दो पुत्र हुए। अन्धक वृष्णि की रानी का नाम सुभद्रा था। उसके काल-क्रम से 1 समुद्र विजय, 2 स्तिमित सागर, 3 हिमवान, 4 विजय, 5 विद्वान, 6 अचल, 7 धारण, 8 पूरण, 9 पूरिताच्छीच्छ अभिनन्दन और 10 वासुदेव.....ये दस पुत्र तथा कुन्ती और माद्री नाम की दो कन्याएं हुईं। समुद्र विजय आदि शुरू के नौ भाइयों के क्रम से शिव देवी, धृतीश्वरा, स्वयंप्रभा, सुनीता, सीता, प्रियवाक, प्रभावती, कालिंगी और सुप्रभा ये सुन्दरी स्त्रियां थीं। वासुदेव ने अनेक देशों में विहार किया था इसलिए उन्हें अनेक भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओं ने अपनी-अपनी कन्याएं भेंट की थी। उसके बहुत सी स्त्रियां थीं। उन सब में देवकी मुख्य थी।

इन सबकी बहिन कुन्ती और माद्री का विवाह हस्तिनापुर के कौरववंशी राजा पाण्डु के साथ हुआ था। राजा पाण्डु के कुन्ती देवी से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री देवी से नकुल और सहदेव इस तरह पांच पुत्र हुए थे। वे राजा पाण्डु की सन्तान होने के कारण पीछे 'पाण्डव' नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। बहनोई का रिश्ता होने के कारण समुद्र-विजय आदि दस भाई और पाण्डु आदि का परस्पर में खूब स्नेह था। एक दूसरे को जी-जान से चाहते थे। कुछ समय बाद छोटा भाई वासुदेव के बलराम और कृष्ण नाम के दो पुत्र हुए जो बड़े ही पराक्रमी थे। श्रीकृष्ण ने अपने अतुल्य पराक्रम से मथुरा के दुष्ट राजा कंस को मल्ल युद्ध में मार दिया था जिससे उनकी 'जीवंद्यशा' स्त्री विधवा होकर रोती हुई अपने पिता जरासंध के पस राजगृह नगर में गई। उस समय जरासंध का प्रताप समस्त संसार में फैला हुआ था। वह तीन खण्ड का राजा था। वह अर्द्ध चक्रवर्ती कहलाता था। पुत्री की दु:खभरी अवस्था देखकर उसने श्रीकृष्ण आदि को मारने के लिये अपने

अपराजित नाम के पुत्र को भेजा पर वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि ने उसे युद्ध में तीन सौ छयालीस बार हराया। अन्त में अपराजित, पराजित होकर अपने घर लौट गया। फिर कुछ समय बाद जरासंध का दूसरा लड़का कालयवन श्रीकृष्ण को मारने के लिये आया। उसके पास असंख्य सेना थी। जब समुद्र-विजय आदि को इस बात का पता चला तब उन्होंने परस्पर में सलाह की कि अभी श्रीकृष्ण की आयु कुछ बड़ी नहीं है; इसलिये इस समय समर्थ शत्रु से युद्ध नहीं करना ही अच्छा है। ऐसा सोचकर वे शौर्यपुर से भाग गये और विन्ध्यावटी को पारकर समुद्र के किनारे पर पहुँच गये। इधर कालयवन भी उनका पीछा करता हुआ जब विन्ध्यावटी में पहुँचा तब वहां वासुदेव आदि की कुलदेवी एक बुढ़िया का रूप बनाकर बैठ गई और विद्या-बल से खूब अग्नि जलाकर 'हा वसुदेव हा श्रीकृष्ण!' आदि कह-कह कर विलाप करने लगी। जब कालयवन ने उससे रोने का कारण पूछा तब उसने कहा- 'मैं एक बूढ़ी धाय हूँ। हमारे राजा समुद्र-विजय आदि दसों भाई श्रीकृष्ण आदि पुत्रों तथा समस्त स्त्रियों के साथ शत्रु के भय से भागे जा रहे थे सो इस प्रचण्ड अग्नि के बीच में पड़कर असमय में ही मर गये हैं। अब मैं असहाय होकर उन्हीं के लिये रो रही हूँ।'' बुढ़िया के वचन सुनकर कालयवन हर्षित होता हुआ वापिस लौट गया। अब आगे चलिये-जब राजा वासुदेव आदि समुद्र के किनारे पर पहुँचे थे तब वहां रहने के लिये कोई आवास आदि नहीं था; इसलिये वे सब आवासों-घरों की चिन्ता में यहां वहां घूम रहे थे। वहीं पर बुद्धिमान श्रीकृष्ण ने आठ दिन के उपवास किये और डाभ के आसन पर बैठकर परमात्मा का ध्यान किया। श्रीकृष्ण की आराधना से प्रसन्न होकर नैगम नाम के एक देव ने प्रकट होकर कहा-अभी तुम्हारे पास एक सुन्दर घोड़ा आवेगा; तुम उस पर सवार होकर समुद्र में बारह योजन तक चले जाना। वहां पर तुम्हारे लिये एक मनोहर नगर बन जायेगा। इतना कहकर व देव तो अदृश्य हो गया पर उसकी जगह पर कहीं से एक सुन्दर घोड़ा आकर खड़ा हो गया। श्रीकृष्ण उस पर सवार होकर समुद्र में बारह योजन तक दौड़ते गये। पुण्य-प्रताप से समुद्र का उतना भाग स्थलमय हो गया। वहीं पर इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर देव ने एक महा मनोहर नगरी की रचना कर दी। उसके बड़े-बड़े गोपुर देखकर उसका नाम द्वारावती (द्वारिका) रख दिया। राजा समुद्र-विजय अपने छोटे भाइयों तथा श्रीकृष्ण

आदि पुत्रों के साथ द्वारिका में सुखपूर्वक रहने लगे।

भगवान् नेमिनाथ के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी जब वहां की आयु केवल छः माह की रह गई तभी से द्वारिका में राजा समुद्र-विजय और महारानी शिवा देवी के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। इन्द्र की आज्ञा पाकर अनेक देव कुमारियां आ-आकर शिवादेवी की सेवा करने लगी। इन सब बातों से अपने घर में तीर्थंकर की उत्पत्ति का निश्चय कर समस्त हरिवंशी हर्ष से फूले ना समाते थे।

कार्तिक शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में रानी शिवादेवी ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय अहमिन्द्र ने जयन्त विमान से च्युत होकर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही रानी पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा; तब उन्होंने कहा-आज तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थंकर के जीव ने प्रवेश किया है। नौ माह बाद तुम्हारे गर्भ से एक महा यशस्वी तीर्थंकर बालक उत्पन्न होगा। ये सोलह स्वप्न उसी की विभूति बतला रहे हैं। राजा समुद्र-विजय रानी के लिये स्वप्नों का फल बतलाकर निवृत्त हुए ही थे कि इतने में वहां पर 'जय-जयकार' करते हुए समस्त देव आ पहुँचे। देवों ने गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया तथा उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से दम्पति का खूब सत्कार किया। तदन्तर नौ माह बाद शिवादेवी ने श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। उसी समय सौधर्म आदि इंद्र तथा समस्त देवों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर बालक का जन्माभिषेक किया, इन्द्राणी ने अंग पोंछकर बालोचित उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये। इंद्र ने मधुर शब्दों में स्तुति की और बालक का नाम स्वामी नेमिनाथ रखा। अभिषेक की क्रिया समाप्त कर इंद्र बालक नेमिनाथ को द्वारिका ले आया; उन्हें उनकी माता को सौंप दिया। उस समय द्वारिका में घर-घर अनेक उत्सव किये जा रहे थे। जन्म-कल्याणक का उत्सव समाप्त कर देवलोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये। बालक नेमिनाथ का राज-परिवार में उचित रूप से लालन-पालन होने लगा। वे अपनी मधुर चेष्टाओं को सभी को हर्षित किया करते थे। द्वितीया के चंद्रमा की तरह वे दिन प्रतिदिन बढ़ने लगे।

भगवान नमिनाथ के मोक्ष जाने के बाद पांच लाख वर्ष बीत जाने पर स्वामी नेमिनाथ हुये थे। उनकी आयु भी इसी में युक्त है। उनकी आयु का प्रमाण एक हजार वर्ष का था। शरीर की ऊंचाई दस धनुष और वर्ण मयूर की ग्रीवा के समान नीला था। यद्यपि उस समय द्वारिका के राजा समुद्र-विजय थे पर उनके नेमिनाथ के पहले कोई संतान नहीं हुई थी और अवस्था प्राय: ढल चुकी थी; इसलिये उन्होंने राज्य का बहुत-सा भार अपने छोटे भाई वासुदेव के लघु पुत्र श्रीकृष्ण को सौंप दिया था। कृष्ण बहुत ही होनहार पुरुष थे; इसलिये उन पर समस्त यादवों की नजर लगी हुई थी। सब कोई उन्हें प्यार और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कुमार नेमिनाथ भी अपने चचेरे बड़े भाई श्रीकृष्ण के साथ कम प्रेम नहीं करते थे।

एक दिन मगध देश के कई वैश्य पुत्र समुद्र मार्ग से रास्ता भूलकर द्वारिका में आ पहुँचे। वहां की विभूति देखकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। जब वे लोग अपने-अपने घर जाने लगे तब साथ में वहां के कुछ बहुमूल्य रत्न लेते गये। वैश्य पुत्रों ने राज-नगर में पहुँचकर वहां के महाराज जरासंध के दर्शन किये और वे रत्न भेंट किये। जरासंध ने रत्न देखकर उन वैश्य पुत्रों से पूछा-आप लोग ये रत्न कहां से लाये हैं। तब उन्होंने कहा-'महाराज! हम लोग समुद्र में रास्ता भूल गये थे; इसलिये घूमते-घूमते एक नगरी में पहुँचे।' पूछने पर लोगों ने उसका नाम द्वारिका बतलाया। वह पुरी अपनी शोभा से स्वर्गपुरी को जीतती है। इस समय उसमें महाराज समुद्र-विजय राज्य करते हैं। उनके पुत्र नेमिनाथ तीर्थंकर हुये हैं जिससे वहां नर और देवों की खूब चहल-पहल रहती है। वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की तो बात ही न पूछिये। हरिवंशपुराण, पद्मपुराण व तिलोएपण्णत्ति के अनुसार भगवान नेमिनाथ की जन्म नगरी शौर्यपुर ही है। जबकि महापुराण के अनुसारा द्वारावती मानी गई है। उसका निर्मल यश सागर की तरल-तरंगों के साथ अठखेलियां करता है। उसकी वीर चेष्टायें समस्त नगर में प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्ण का बड़ा भाई बलराम भी कम बलवान नहीं है। उन दोनों भाईयों में परस्पर में खूब स्नेह है। वे एक दूसरे के बिन क्षण भर भी नहीं रहते है। हम उसी नगर से रत्न लाये हैं। वैश्य पुत्रों के वचन सुनकर राजा जरासंध के क्रोध का ठिकाना न रहा। अभी तक तो वह समस्त यादव विन्ध्यावटी

में जल कर मर गये हैं, ऐसा निश्चय कर वह निश्चित था; पर आज वैश्य पुत्रों के मुंह से उनके सद्भाव और वैभव की वार्ता सुनकर प्रतिस्पर्द्धा से उसके ओंठ कांपने लगे। आंखें लाल हो गईं और भौंहें टेढ़ी हो गईं। उसने वैश्य पुत्रों को विदा कर सेनापति को उसी समय एक विशाल सेना तैयार करने की आज्ञा दी और कुछ समय बाद सज-धज कर द्वारिका की ओर रवाना हो गया। इधर जब कौतुहली नारदजी ने यादवों को जरासंध के आने का समाचार सुनाया तब श्रीकृष्ण भी शत्रु को मारने के लिये तैयार हो गये। उन्होंने समुद्रविजय आदि की अनुमति से एक विशाल सेना तैयार करवाई जो शत्रु को बीच में ही रोकने के लिये तैयार हो गई। जाते समय श्रीकृष्णचंद्र कुमार नेमिनाथ के पास जाकर बोले- जब तक मैं शत्रुओं को मार कर वापिस न आ जाऊं तब तक आप राज्य कार्यों की देख-भाल करना। बड़े भाई कृष्णचंद्र के वचन नेमिनाथ ने सहर्ष स्वीकार कर लिये। वापिस जाते समय कृष्णचंद्र ने उनसे पूछा- 'भगवन् इस युद्ध-यात्रा में मेरी विजय होगी या नहीं?' तब उन्होंने अवधिज्ञान से सोचकर हंस दिया। कृष्णचंद्र भी अपनी सफलता का निश्चय कर हंसी-खुशी से युद्ध के लिये आगे बढ़े। युद्ध का समाचार पाते ही हस्तिनापुर से राजा पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर वगैरह भी रणक्षेत्र में युक्त हो गये। कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों ओर की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। अनेक सैनिक तथा हाथी-घोड़े वगैरह मारे गये। जब लगातार कई दिनों तक युद्ध से किसी पक्ष की निश्चित विजय नहीं हुई; तब एक दिन कृष्णचंद्र और जरासंध इन दोनों वीरों में लड़ाई हुई। जरासंघ जिस शस्त्र का प्रयोग करता था कृष्णचंद्र उसे बीच में ही काट देते थे। अंत में जरासंध ने क्रुद्ध हो घुमाकर चक्र चलाया। पर वह तीन प्रदक्षिणा देकर कृष्ण के हाथ में आ गया। फिर कृष्ण ने उसी चक्र से जरासंध का संहार किया। ठीक कहा है-**'भाग्यं फलति सर्वत्र'**-सब जगह भाग्य ही फलता है। विजयी श्रीकृष्णचंद्र ने चक्ररत्न को आगे कर बड़े भाई बलभद्र और विशाल सेना के साथ भरतक्षेत्र के तीन खण्डों को जीतकर द्वारिका नगरी में प्रवेश किया। उस समय उनके स्वागत के लिये हजारों राजा एकत्रित हुये थे। यादवों की इस अनुपम विजय से उनका प्रभाव और प्रताप सब ओर फैल गया था। सभी राजा उनका लोहा मानने लगे थे। समुद्रविजय आदि ने प्रतापी कृष्णचंद्र का राज्याभिषेक कर उन्हें पूर्ण रूप से राजा बना लिया। कृष्णचंद्र भी अपनी

चतुराई और सैनिक बल से प्रजा का पालन करते थे। बलभद्र भी सतत इनका साथ देते थे। श्रीकृष्ण के सत्यभामा आदि को लेकर सोलह हजार सुंदर स्त्रियां थीं और बलराम आठ हजार स्त्रियों के अधिपति थे। श्रीकृष्ण नारायण और बलराम बलभद्र कहलाते थे।

एक दिन राज-सभा में श्रीकृष्ण, बलभद्र और कुमार नेमिनाथ वगैरह बैठे हुये थे उसी समय किसी ने पूछा-इस समय भारतवर्ष में सबसे अधिक बलवान कौन है? प्रश्न सुनकर कुछ सभासदों ने श्रीकृष्ण को ही सबसे बलवान् बतलाया। कृष्णचंद्र भी अपनी बलवत्ता की प्रशंसा सुनकर बहुत प्रसन्न हुये। पर बलभद्र-बलराम ने कहा कि इस समय कुमार नेमिनाथ से बढ़कर कोई अधिक बलवान् नहीं है, उनके शरीर में बचपन से अतुल्य बल है। आप लोग जो वत्स कृष्णचंद्र को ही सबसे अधिक बलवान समझ रहे हो यह आपका केवल भ्रम है। क्योंकि, श्रीकृष्ण और आप सब में जो बल है उससे कई गुना अधिक बल इनमें विद्यमान है। बलराम के वचन सुनकर श्रीकृष्ण के पक्षपातियों को बड़ा बुरा मालुम हुआ। श्रीकृष्ण भी अब तक पृथ्वी पर अपने से बढ़कर किसी दूसरे को बलवान नहीं समझते थे। इसलिए उन्होंने भी बलराम जी के वचनों में असम्मति प्रकट की। अब धीरे-धीरे परस्पर का विवाद बहुत बढ़ गया तब युवराज नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के बल की परीक्षा करनी निश्चित हुई। यद्यपि युवराज नेमिनाथ इस विषय में सम्मत नहीं थे तथापि बलराम वगैरह के आग्रह से उन्हें इस कार्य में शामिल होना पड़ा। उन्होंने हंसते हुये कहा-यदि कृष्ण मेरे से बलवान है। तो सिंहासन पर से हमारे इस पांव को चल विचल कर दें- ऐसा कहकर उन्होंने सिंहासन पर पैर जमा दिया। श्रीकृष्ण ने उसे चल-विचन करने की भारी कोशिश की पर वे सफलता प्राप्त न कर सके, इससे उन्हें बहुत ही लज्जित होना पड़ा। युवराज नेमिनाथ का अतुल्य बल देखकर उन्हें शंका हुई कि ये हमसे बलवान् है इसलिये कभी प्रतिकूल होकर हमारे राज्य पर आक्रमण न कर दे। श्रीकृष्ण अपने इस सशंक हदय को गुप्त ही रखे रहे।

किसी एक समय शरद ऋतु में कृष्ण महाराज अपने समस्त अंत: पुर के साथ वन में जल क्रीड़ा करने के लिये गये थे। कुमार नेमिनाथ भी उनके साथ थे। कृष्ण की सत्यभामा आदि स्त्रियां सरोवर की ओर दृष्टि किये

नेमिनाथ के ऊपर जल उछालती हुई अनेक श्रृंगारमय वचन कहे। नेमिनाथ ने भी चतुराई पूर्वक उनके व्यंग भरे वचनों का यथोचित उत्तर दिया। जल-क्रीड़ा कर चुकने के बाद कुमार नेमिनाथ सत्यभामा से कहा- तुम मेरी इस गीली धोती को धो डालो। तब सत्यभामा क्रोध से भौंह टेंढ़ी करती हुई बोली- 'आप वे श्रीकृष्ण नहीं है, जिन्होंने नाग शैय्या पर चढ़कर लीला मात्र में सारंग नाम का धनुष चढ़ाया और दिशाओं को गुंजा देने वाला पांचजन्य शंख बजाया था। यदि धोती धुलाने का शौक है तो किसी राजकुमारी को क्यों नहीं विवाह लेते! सत्यभामा के ताना भरे वचन सुनकर नेमिनाथ को कुछ क्रोध हो आया। जिससे वे कहां से लौटकर आयुधशाला में गये और सबसे पहले नागशय्या पर चढ़कर सारंग धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाई फिर दिशाओं को गुंजा देने वाला शंख बजाया। श्रीकृष्ण कुछ राज्य सम्बंधी कार्यों के कारण इस सबसे पहले ही नगरी में लौट आये थे। जिस समय नेमिनाथ ने धनुष चढ़ाकर शंख बजाया था उस समय वे कुसुमचित्रा नामक सभा में बैठे हुये कुछ आवश्यक कार्य कर रहे थे। ज्योंही वहां उनके कान में शंख की विशाल आवाज पहुँची त्योंही वे चकित होते हुये आयुधशाला को दौड़े। वहां उन्होंने कुमार नेमिनाथ को क्रोध युक्त देखकर मीठे शब्दों में शांत किया और पास में किसी पुरुष से उनके क्रोध का कारण पूछा। उसने सत्यभामा आदि के साथ जल-क्रीड़ा संबंधी सब समाचार कह सुनाये और बाद में सत्यभामा के मर्मभेदी वचन भी कह दिये। सुनकर श्रीकृष्ण कुछ मुस्कुराये। उन्होंने सत्यभामा के अभिमान पर बहुत कुछ रोष प्रकट किया और अपने गुरुजन समुद्र विजय, वासुदेव आदि के सामने नेमिनाथ के विवाह का प्रस्ताव रखा। जब समुद्रविजय आदि ने हर्ष सहित अपनी अपनी सम्मति दे दी तब श्रीकृष्ण ने जूनागढ़ जाकर वहां के उग्रवंशी राजा उग्रसेन से जयावती रानी से उत्पन्न हुई कन्या राजमती की प्रार्थना कुमार नेमिनाथ के लिये की। राजा उग्रसेन ने कृष्णचंद्र के वचन सहर्ष स्वीकार कर लिये जिससे दोनों ओर विवाह की तैयारियां होने लगीं।

इन्हीं दिनों में श्रीकृष्ण के हदय में पुनः शंका पैदा हुई कि ये नेमिनाथ बहुत ही बलवान हैं। उस दिन इनसे मुझे हार माननी पड़ी थी और अभी-अभी जिस पर मेरे सिवास कोई चढ़ने का साहस नहीं कर सकता उस

नाग-शय्या पर चढ़कर और धनुष चढ़ाकर तो गजब ही कर दिया। अब इसमें संदेह नहीं कि ये कुछ दिनों के बाद मेरे राज्य पर अवश्य ही आक्रमण करेंगे। इस तरह लोभ-पिशाच के फंदे में पड़कर श्रीकृष्ण के हदय में उथल-पुथल मच गई। उन्होंने सोचा-'नेमिनाथ स्वभाव में ही विरक्त पुरुष हैं-विषय-वासनाओं से इनका मन हमेशा ही दूर रहता है। न जाने क्यों इन्होंने विवाह करना स्वीकार कर लिया? अब भी ये वैराग्य का थोड़ा-सा कारण पाकर विरक्त हो जावेंगे? इसलिये कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे ये गृह त्यागर कर दिगम्बर यति बन जावें।' यह सोचकर कृष्ण ने एक षड़यंत्र रचा। वह यह है कि जूनागढ़ के रास्ते में जहां बारात जाने को भी वहां एक बाड़ लगवा दी और उसमें अनेक शिकारियों से छोटे-बड़े पशु-पक्षी पकड़वा कर बंद करवा दिये तथा वहां रक्षकों से कह दिया कि जब तुमसे नेमिनाथ इन पशुओं के बंद करने का कारण पूछें तब कह देना कि यह जीव आपके विवाह में क्षत्रिय राजाओं को मांस खिलाने के लिये बंद किये गये हैं। कृष्ण जी ने अपना यह षड़यंत्र बहुत ही गुप्त रखा था।

जब श्रावण शुक्ला षष्ठी का दिन आया तब समस्त यादव और उनके सम्बंधी इकट्ठे होकर जूनागढ़ के लिये रवाना हुये। सबसे आगे कुमार नेमिनाथ अनेक रत्नमय आभूषण पहिने हुये रथ पर सवार हो चल रहे थे। जब उनका रथ उन पशुओं के घेरे के पास पहुँचा और उनकी करुण ध्वनि नेमिनाथ के कानों में पड़ी तब उन्होंनें पशुओं के रक्षकों से पूछा-ये पशु किस लिये इकट्ठे किये गये हैं? तब पशु रक्षक बोले कि आपके विवाह में मारने के लिये क्षत्रिय राजाओं को मांस खिलाने के लिये महाराज कृष्ण ने इकट्ठे करवाये हैं। रक्षकों के वचन सुनकर नेमिनाथ ने अचम्भे में आकर कहा-श्रीकृष्ण ने! और मेरे विवाह में मारने के लिये? तब रक्षकों ने ऊंचे स्वर से कहा-हां महाराज!

यह सुनकर वे अपने मन में सोचने लगे- 'जो निरीह पशु जंगलों में रहकर तृण के सिवाय कुछ भी नहीं खाते, किसी का कुछ भी अपराध नहीं करते-हाय! स्वार्थी मनुष्य उन्हें भी नहीं छोड़ते।' नेमिनाथ अवधिज्ञान के द्वारा कृष्ण का कपट जान गये और वहीं उनको लक्ष्य कर कहने लगे- हा कृष्ण! इतना अविश्वास? मैंने कभी तुम्हें अनादर और अविश्वास की दृष्टि से नहीं

देखा। जिस राज्य पर कुलक्रम से मेरा अधिकार था मैंने उसे सहर्ष आपके हाथों में सौंप दिया। फिर भी आपको संतोष नहीं हुआ। हमेशा आपके हृदय में यही शंका बनी रही कि कहीं नेमिनाथ पैतृक राज्य पर अपना कब्जा न कर लें। छि: यह तो हद हो गई अविश्वास की! इस जीर्ण तृण के समान तुच्छ राज्य के लिये इन पशुओं को दु:ख देने की क्या आवश्यकता थी? लो, मैं हमेशा के लिये आपका रास्ता निष्कण्टक किये देता हूँ।'' उसी समय उन्होंने विषयों की भंगुरता का विचार कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और दीक्षा लेने के विचारों का समर्थन किया। बस, क्या था? बारात बीच में ही भंग हो गई। समुद्रविजय, वसुदेव, बलराम, कृष्णचंद्र आदि कोई भी उन्हें अपने सुदृढ़ निश्चय से विचलित नहीं कर सके। वहीं पर देवों ने आकर उनका दीक्षाभिषेक किया और एक महा मनोहर 'देवकुरु' नाम की पालकी बनाई। कुमार नेमिनाथ पालकी पर सवार होकर रैवतक गिरनार पर्वत पर पहुँचे और वहां पर सहसाम्र वन में हजार राजाओं के साथ उसी दिन-श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में संध्या के समय दीक्षित हो गये। उन्हें दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान प्रकट हो गया था। दीक्षा लेते समय कुमार नेमिनाथ की आयु तीन सौ वर्ष की थी।

इधर जब राजा उग्रसेन के घर नेमिनाथ के दीक्षा के समाचार पहुँचे तब वे बहुत ही दु:खी हुये। उस समय कुमारी राजमती की जो अवस्था हुई थी उसका इस तुच्छ लेखनी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। माता-पिता के बहुत समझाने पर भी उसने फिर किसी दूसरे वर से विवाह नहीं किया। वह शोक से व्याकुल होकर गिरनार पर मुनिराज नेमिनाथ के पास पहुँची और अनेक रस भरे वचनों से उनका चित्त विचलित करने का उद्यम करने लगी। परंतु जैसे प्रलय के पवन से मेरुपर्वत विचलित नहीं होता वैसे ही राजमती के वचनों से नेमिनाथ का मन विचलित नहीं हुआ। अंत में वह उनके वैराग्यमय उपदेश से आर्यिका हो गई और कठिन तपस्याओं से शरीर को सुखाने लगी।

महामुनि नेमिनाथ ने दीक्षा लेने के तीन दिन बाद आहार लेने को द्वारिका नगरी में प्रवेश किया। यहां उन्हें वरदत्त महीपति ने भक्तिपूर्वक

आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने वरदत्त के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। इस तरह तपश्चरण करते हुये तब छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन निकल गये तब उसी रैवतक (गिरिनार) पर्वत पर वंशवृक्ष के नीचे तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर व विराजमान हुये। वहीं पर उन्हें आसोज शुक्ला पड़वा के दिन प्रात: के समय चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय इंद्रादि देवों ने आकर उनके ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। धनपति कुबेर ने इंद्र की आज्ञा से समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थिर होकर उन्होंने अपना छप्पन दिन का मौन भंग किया। दिव्य-ध्वनि के द्वारा षट्द्रव्य, नव-पदार्थ आदि का विशद् विवेचन किया। भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है यह सुनकर कृष्ण, बलभद्र आदि समस्त यादव अपने-अपने परिवार के साथ वंदना के लिये समवशरण में गये। वहां वे सब भगवान को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। धार्मिक उपदेश सुनने के बाद श्रीकृष्ण तथा उनकी पटरानियों ने अपने-अपने पूर्व भवों का वर्णन सुना।

भगवान नेमिनाथ की सभा में वरदत्त आदि गयारह गणधर थे, चार सौ श्रुतकेवली थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पंद्रह सौ अवधिज्ञानी थे, नौ सौ मन:पर्यय ज्ञानी थे, पंद्रह सौ केवली थे, ग्यारह सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे और आठ सौ वादी थे, इस तरह सब मिलाकर अठारह हजार मुनिराज थे। यक्षी, राजमती आदि चालीस हजार आर्यिकायें थीं। एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं। असंख्यात देव-देवियां और असंख्यात तिर्यंच थे। इन सबके साथ उन्होंने अनेक आर्य देशों में विहार किया और धर्मामृत की वर्षा की।

भगवान् नेमिनाथ ने छ:सौ निन्यानवे वर्ष नौ महीना और चार दिन तक विहार किया। फिर विहार छोड़कर आयु के अंत में पांच सौ तेतीस मुनियों के साथ योग निरोध कर उसी गिरिनार पर विराजमान हो गये और वहीं पर शुक्ल ध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर आषाढ़ सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रि के प्रारम्भ काल में मुक्त हो गये। देवों ने आकर निर्वाणकल्याणक का उत्सव किया और सिद्धक्षेत्र की पूजा की। भगवान नेमिनाथ का चिह्न शंख है।

23. भगवान श्री पार्श्वनाथ जी

सर्वंसहो जिनः पार्श्वो, दैत्यारिमदमर्दकः।
सहिष्णुतां प्रपुष्यान्मे, नित्यं तुभ्यं नमो नमः॥

- लेखक

पूर्वभव परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक सुरमय नाम का रमणीय देश है और उसमें पोदनपुर नगर है। उस नगर में किसी समय अरविंद नाम का राजा राज्य करता था। अरविंद बहुत ही गुणवान्, न्यायवान् और प्रजावत्सल राजा था। उसी नगर में वेद-शास्त्रों को जानने वाला विश्वभूति नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अपनी अनुन्धरी नाम की ब्राह्मणी से बहुत प्यार करता था। उन दोनों के कमठ और मरुभूति नाम के दो पुत्र थे। दोनों में कमठ बड़ा था और मरुभूति छोटा। मरुभूति था तो छोटा पर वह अपने गुणों से सबको प्यारा लगता था। कमठ विशेष विद्वान न होने के साथ-साथ सदाचारी भी नहीं था। वह अपने दुर्व्यवहार से घर के लोगों को बहुत तंग किया करता था। यदि आचार्य गुणभद्र के शब्दों में कहा जावे तो कमठ का निर्माण विष से भरा हुआ था और मरुभूति की रचना अमृत से। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा था और मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी। कमठ और मरुभूति दोनों राजा अरविन्द के मंत्री थे; इसलिये इन्हें किसी प्रकार का आर्थिक संकट नहीं उठाना पड़ता था और नगर में इनकी धाक थी खूब जमी हुई थी। समय बीतने पर ब्राह्मण और ब्राह्मणी की मृत्यु हो गई। जिससे उसकी बंधी हुई गृहस्थी एक चाल से छिन्न-भिन्न हो गई।

एक दिन राजा अरविन्द ने ब्राह्मण पुत्र मरुभूति को कार्यवश बाहर भेजा। घर पर मरुभूति की स्त्री थी। वह बहुत ही सुंदरी थी। मौका पाकर कमठ ने उसे अपने षड़यंत्र में फंसाकर उसके साथ दुर्व्यवहार करना चाहा। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसने मरुभूति के आने के पहले ही कमठ को देश से बाहर निकाल दिया। कमठ जन्मभूमि को छोड़कर यहां वहां घूमता हुआ एक पर्वत के किनारे पर पहुँचा। वहां पर एक साधु पंचाग्नि तप रहा था। कमठ भी उसी का शिष्य बन गया और वहीं कहीं पर वजनदार

शिला को लिये हुये दोनों हाथों को ऊपर उठाकर खड़ा-खड़ा कठिन तपस्या करने लगा। इधर जब मरुभूति राज-कार्य करके अपने घर वापिस आया और कमठ के देश निकालने के समाचार सुने तब उसका हदय टूक-टूक हो गया। मरुभूति सरल परिणामी और स्नेही पुरुष था। उसने कमठ के अपराध पर कुछ भी विचार नहीं कर उसे वापिस लाने को राजा से प्रार्थना की। राजा अरविन्द ने उसे कमठ को बुलाने की आज्ञा दे दी। मरुभूति राजा की आज्ञा पाकर हर्षित होता हुआ ठीक उसी स्थान पर पहुँच गया जहां पर उसका बड़ा भाई तपस्या कर रहा था। मरुभूति क्षमा मांगने के लिये उसके चरणों में पड़कर कहने लगा- पूज्य! आप मेरा अपराध क्षमा कर फिर से घर पर चलिये। आपके बिना मुझे वहां अच्छा नहीं लगता।'..... क्षमा के वचन सुनते ही कमठ का क्रोध और भी अधिक बढ़ गया। उसकी आंखें लाल-लाल हो गई; ओंठ कांपने लगे तथा कुछ देर बाद 'दुष्ट! दुष्ट!' कहते हुये उसने हाथों की वजनदार शिला मरुभूति के मस्तक पर पटक दी। शिला के गिरते ही मरुभूति के प्राण पखेरु उड़ गये। कमइ भाई को मरा हुआ देखकर अट्टहास करता किसी दूसरी और चला गया।

मरते समय मरुभूति के मन में दुर्ध्यान हो गया था; इसलिये वह मलय पर्वत पर कुब्जक नामक सल्लिकी वन में वज्रघोष नाम का हाथी हुआ। कमठ की स्त्री वरुणा मरकर उसी वन में हस्तिनी हुई जो कि वज्रघोष के साथ तरह-तरह की क्रीड़ा किया करती थी। जब राजा अरविंद्र को मरुभूति की मृत्यु के समाचार मिले तब वह बहुत दु:खी हुआ। वह सोचते लगा-जैसे चंद्रमा राहु का कुछ भी अनिष्ट नहीं करता फिर भी उसे ग्रस लेता है; वैसे ही दुष्ट मनुष्य अनिष्ट नहीं करने वाले सज्जनों पर भी अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते। यह संसार प्राय: इन्हीं कमठ जैसे खल मनुष्यों से भरा हुआ है। पर मरुभूति मैं तुम्हें जानता था, कि तुम्हारा हदय स्फटिक की तरह निर्मल था, तुम्हारे हदय में सतत प्रीति रूपी मन्दाकिनी का पावन प्रवाह बहा करता था। हमारे मना करने पर भी तुम भाई के स्नेह को नहीं तोड़ सके, इसलिये अंत में मृत्यु को प्राप्त हुये। आह मरुभूति! इत्यादि विचार करते हुये उसका मन संसार से विरक्त हो गया जिससे किन्हीं तपस्वी के पास उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के कुछ समय बाद अरविंद मुनिराज अनेक मुनियों के साथ सम्मेद-शिखर की यात्रा के लिये गये। चलते-चलते वे उसी सल्लकी

वन में पहुँच जहां मरुभूति का जीव वज्रघोष हाथी हुआ था। सामायिक का समय देखकर अरविंद महाराज वहीं किसी एक शिला पर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हो गये। जब वज्रघोष की दृष्टि मुनिराज पर पढ़ी तब वह उन्हें मारने के लिये वेग से दौड़ा। पर ज्योंही उसने अरविंद मुनिराज के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह देखा त्यों ही उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। उसने उन्हें देखकर पहिचान लिया कि ये हमारे अरविंद महाराज हैं। वज्रघोष एक विनीत शिष्य की तरह शांत होकर उन्हीं के पास बैठ गया। उन्मत्त हाथी मुनिराज के पास आकर एकदम उपशांत हो गया-यह देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। सामायिक पूर्ण होने पर अरविंद मुनिराज ने अवधिज्ञान से उसे मरुभूति का जीव समझ कर खूब समझाया जिससे उसने सब बैर भाव छोड़कर सम्यग्दर्शन के साथ-साथ पांच अणुव्रत धारण कर लिये। अरविंद महाराज अपने संघ के साथ आगे चले गये।

एक दिन वज्रघोष पानी पीने के लिये किसी भदभदा के पास जा रहा था पर दुर्भाग्य से वह उसी के किनारे पर बड़ी भारी कीचड़ में फंस गया। उसने उससे निकलने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न किये पर वह निकल नहीं सका। तापसी कमठ मरकर उसी भदभदा के किनारे कुक्कुट जाति का सांप हुआ था। उसने पूर्वभव के बैर से उस प्यासे हाथी को डस लिया एवं वह मरकर अणुव्रतों के प्रभाव से बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सोलह सागर की आयु वाला देव हुआ। कमठ के जीव कुक्कुट सर्प को भी उसी समय एक वानरी ने मार डाला जिससे वह मरकर धूमप्रभ नाम के पांचवें नरक में महा भयंकर नारकी हुआ। वज्रघोष का जीव स्वर्ग की सोलह सागर प्रमाण आयु समाप्त कर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश के विजयार्ध पर्वत पर त्रिलोकोत्तम नगर में वहां के राजा विद्युद्गति और रानी विद्युन्माला के अग्निवेग नाम का पुत्र हुआ। अग्निवेग ने पूर्ण यौवन प्राप्त कर किन्हीं समाधिगुप्त नामक मुनिराज के पास जिनदीक्षा धारण कर ली और सर्वतोभद्र आदिक उपवास किये।

मुनिराज अग्निवेग किसी एक दिन हरि नामक पर्वत की गुफा में ध्यान लगाये हुये विराजमान थे। इतने में कमठ (कुक्कुट सर्प के जीव ने) जो धूमप्रभ नरक से निकलकर उसी गुफा में बड़ा भारी अजगर हुआ था मुनिराज को देखकर क्रोध से उन्हें निगल लिया।

मुनिराज ने संयास पूर्वक शरीर त्यागकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव पदवी पाई। वहां उनकी आयु बाईस सागर प्रमाण थी। कमठ का जीवन अजगर भी मरकर छट्ठे नरक में नारकी हुआ।

स्वर्ग की आयु पूरी कर मरुभूति-वज्रघोष-अग्निवेग का जीव इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में पद्मदेश के अश्वपुर नगर में वहां के राजा वज्रवीर्य और रानी विजया के वज्रनाभि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वज्रनाभि बड़ा प्रतापी पुत्र था। उसने अपने प्रताप से छह खण्डों की विजय की थी-वह चक्रवर्ती था। किसी एक दिन कारण पाकर चक्रवर्ती वज्रनाभि राज्य सम्पदाओं से विरक्त हो गया इसलिए उसने क्षेमंकर मुनिराज के पास समीचीन धर्म का स्वरूप सुना और उनके उपदेश से प्रभावित होकर पुत्र को राज्य दे दिया और स्वयं उनके चरणों में दीक्षा धारण कर ली। कमठ-अजगर का जीव नरक से निकल कर उसी वन में एक कुरंग नाम का भील हुआ था जो बड़ा ही क्रूर (हिंसक) था।

एक दिन वज्रनाभि मुनिराज उसी वन में आतापन योग लगये हुये बैठे थे कि उस कुरंग भील ने पूर्वभव के संस्कारों से उन पर घोर उपसर्ग किये। मुनिराज समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुये। वहां उनकी आयु सत्ताइस सागर की थी। कुरंग भील भी मुनि हत्या के पाप से सातवें नरक में नारकी हुआ। मरुभूति का जीवन अहमिन्द्र ग्रैवेयक की सत्ताईस सागर प्रमाण आयु पूरी कर इसी जम्बूद्वीप में कौशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा वज्रबाहु की प्रभाकरी पत्नी से आनंद नाम का पुत्र हआ। वह बहुत ही सुंदर था। आनंद को देखकर सभी को आनंद होता था। बड़ा होने पर आनंद महामण्डलेश्वर राजा हुआ। उसके पुरोहित नाम का स्वामिहित था।

एक दिन पुरोहित स्वामिहित ने राजा के सामने अष्टाह्निक व्रत के माहात्म्य का वर्णन किया जिससे उसने फाल्गुन माह की अष्टाह्निकाओं में एक बड़ी भारी पूजा करवाई। उसे देखने के लिये वहां पर एक विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे। राजा ने विजय के साथ उनकी वंदना की और ऊंचे आसन पर बैठाया। पूजा कार्य समाप्त होने पर राजा ने मुनिराज से पूछा- ''महाराज! जिनेन्द्र देव की अचेतन प्रतिमा जब किसी का हित और अहित

नहीं कर सकती तब उसकी पूजा करने से क्या लाभ है?'' राजा का प्रश्न सुनकर उन्होंने कहा -'यह ठीक है कि जिनराज की जड़ प्रतिमा किसी को कुछ दे नहीं सकती। पर उसके सौम्य, शांत आकार के देखने से हृदय में एक बार वीतरागता की लहर उत्पन्न हो जाती है, आत्मा के सच्चे स्वरूप का पता चल जाता है और कषाय रिपुओं की धींगाधांगी एकदम बंद हो जाती है। उससे बुरे कर्मों की निर्जरा होकर शुभ कर्मों का बंधा होता है जिनके उदयकाल में प्राणियों को सुख की सामग्री मिलती है। इसलिये प्रथम अवस्था में जिनेन्द्र की प्रतिमाओं की अर्चा करनी बुरी नहीं है।' इतना कहकर उन्होंने राजा आनंद के सामने अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करते हुये आदित्य-सूर्य विमान में स्थित अकृत्रिम जिन-बिम्बों का वर्णन किया। जिसे सुनकर समस्त जनता अत्यंत हर्षित हुई, आनंद ने हाथ जोड़कर सूर्य विमान की प्रतिमाओं को लक्ष्य कर नमस्कार किया और अपने मंदिर में अनेक चमकीले रत्नों का विमान बनवा कर उसमें रत्नमयी प्रतिमायें विराजमान की; जिन्हें वह सूर्य विमान की प्रतिमाओं की कल्पना कर प्रतिदिन भक्ति से नमस्कार करता था। उस समय बहुत से लोगों ने राजा आनंद का अनुकरण किया था उसी समय से भारतवर्ष में सूर्य-नमस्कार की प्रथा चल पड़ी थी। राजा आनंद ने बहुत समय तक पृथ्वी का पालन किया।

एक दिन उसे अपने सिर में सफेद बाल के देखने से वैराग्य उत्पन्न हो आया जिससे वह अपना विशाल राज्य ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर किन्हीं समुद्रदत्त नाम के मुनिराज के पास दीक्षित हो गये। उन्हीं के पास रहकर उसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओं की आराधना की। ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और विशुद्ध हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य का बंध किया। एक दिन मुनिराज आनंद प्रायोपगमन संयास लेकर निराकुल रूप से क्षीर नामक वन में बैठे हुये थे। कमठ का जीव भी नरक से निकल कर उसी वन में सिंह हुआ था। ज्योंही उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी त्योंही उसे पूर्व भव के संस्कार से प्रचण्ड क्रोध आ गया। उसने अपने पैने दांतों से आनंद मुनिराज का गला पकड़ लिया। सिंह-कृत उपसर्ग सहन कर मुनिराज आनत स्वर्ग के प्राणत नाम के विमान में इंद्र हुये। वहां उनकी आयु बीस सागर की थी, साढ़े तीन हाथ का शरीर था। शुक्ल लेश्या थी, वह दस

माह बाद श्वास लेता और बीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त था इसलिये वह पांवचें नरक तक की बातों को स्पष्ट जान लेता था। अनेक देव-देवियां उसकी सेवा करती थीं। यही अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान् पार्श्वनाथ होगा। कहां? सो सुनिये-

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में काशी नामक विशाल देश है। उसमें अपनी शोभा से अलकापुरी को जीतने वाली एक बनारस नाम की नगरी है। बनारस के समीप ही शांत-स्तिमित गति से गंगा-नदी बहती है। वह अपनी धवल तरंगों से किनारे पर बने हुये मकानों को सींचती हुई बड़ी ही भली मालूम होती है। उसमें काश्यप गोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम वामा देवी था। दोनों राज-दम्पति इंद्र इंद्राणी की तरह मनोहर सुख भोगते हुये आनंद से समय बिताते थे। ऊपर जिस इंद्र का कथन कर आये हैं वहां पर जब उसकी आयु केवल छः माह की बाकी रह गई तब से राजा विश्वसेन के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी और अनेक देवियां आकर महारानी वामादेवी की सेवा करने लगीं जिससे उन्हें निश्चय हो गया कि यहां किसी महापुरुष तीर्थंकर का जन्म होने वाला है।

वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन विशाखा नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में रानी ने सुर-कुञ्जर आदि सोलह स्वप्न देखे और स्वप्न देखने के बाद ही मुंह में प्रवेश करते हुये एक मत्त हाथी को देखा। उसी समय मरुभूति के जीवन इंद्र ने स्वर्ग वसुंधरा से सम्बंध तोड़कर उनके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही रानी ने नहा धोकर प्राणनाथ से स्वप्नों का फल पूछा तब उन्होंने हंसते हुये कहा-आज तुम्हारे गर्भ में तेईसवें तीर्थंकर ने अवतार लिया है। नौ माह बाद उनका जन्म होगा। यह रत्नों की वर्षा, देव-कुमारियों की सेवा और स्वप्नों का देखना उन्हीं का महात्म्य (प्रभाव) प्रकट कर रहे हैं। पतिदेव के वचन सुनकर वामादेवी को इतना अधिक हर्ष हुआ कि मारे आनंद के उसके सारे शरीर में रोमांच निकल आये। उसी समय देवों ने आकर राज-दम्पत्ति का खूब सत्कार किया, स्तुति की और स्वर्ग से साथ में लाये हुये वस्त्र आभूषण प्रदान किये।

नौ माह बाद उन्होंने पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनिल योग विशाखा

नक्षत्र में पुत्र-रत्न को उत्पन्न किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही सब ओर आनंद ही आनंद छा गया। उसी समय सौधर्म इंद्र आदि दवों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और बालक पार्श्वनाथ नाम रखा। वहां से वापिस आकर इंद्र ने उन्हें उनकी मता को सौंप दिया और भक्ति से गद्‌गद् हो ताण्डव नृत्य आदि का प्रदर्शन कर जन्मकल्याण्क का महोत्सव किया। उत्सव समाप्त होने पर देवलोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

राज-परिवार में बालक पार्श्वनाथ का योग्य रीति से लालन-पालन हुआ। भगवान नेमिनाथ के मोक्ष जाने के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर पार्श्वनाथ स्वामी हुये थे। इनकी सौ वर्ष की आयु भी इसी में युक्त है। इनके शरीर की ऊंचाई नौ हाथ की थी और रंग हरा था। इनकी उत्पत्ति उग्रवंश में हुई थी। तीर्थंकर पार्वनाथ ने धीरे-धीरे बाल्यावस्था व्यतीत कर कुमार अवस्था में प्रवेश किया और फिर कुमार अवस्था को पार कर यौवन अवस्था के पास पहुँचे।

सोलह वर्ष के पार्श्वनाथ एक दिन अपने इष्ट मित्रों के साथ वन में क्रीड़ा करने के लिये गये हुये थे। वहां से लौट कर जब वे घर पर आ रहे थे तब उन्हें मार्ग में किनारे पर पंचाग्नि तपता हुआ एक साधु मिला। वह साधु वामादेवी का पिता अर्थात् कुमार पार्श्वनाथ का मातामह (नाना) था। अपनी स्त्री के विरह से दु:खी होकर वहां पंचाग्नि तपने लगा था। उसका नाम महीपाल था। कमठ का जीव सिंह आनंद मुनिराज की हत्या करने से मरकर नरक में गया था। वहां से निकल कर अनेक कुयोनियों में घूमता हुआ वही यह महीपाल तापस हुआ था। कुमार पार्श्वनाथ और उनका मित्र सुभौम कुमार बिना नमस्कार किये ही उस तापस के सामने खड़े हो गये। तापस को इस आचरण से बहुत बुरा मालूम हुआ। वह सोचने लगा- 'मुझे अच्छे-अच्छे राजा महाराज तो नमस्कार करते हैं पर ये आज कल के छोकरे कितने अभिमानी हैं। खैर! यह सोचकर उसने बुझती हुई अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये कुल्हाड़ी से मोटी लकड़ी काटनी चाही। कुमार पार्श्वनाथ ने अवधिज्ञान से जानकर कहा- 'बाबाजी! आप इस लकड़ी को नहीं काटिये इसके भीतर दो प्राणी बैठे हुये हैं जो कुल्हाड़ी के प्रहार से मर जावेंगे। इसी बीच में इनके मित्र सुभौम कुमार ने उसके बालतप-अज्ञानतप की खूब निन्दा की और

पंचाग्नि तपने से हांनियां बतलाईं। सुभौम के वचन सुनकर तापस ने झल्लाते हुये दोनों के प्रति बहुत कुछ रोष प्रकट किया और कुल्हाड़ी मारकर लकड़ी के दो टूक कर दिये।

कुल्हाड़ी के प्रहार से लकड़ी में रहने वाले सर्प और सर्पिणी के भी दो-दो टुकड़े हो गये। उनके भग्न टुकड़े व्याधि से तड़फड़ा रहे थे। पार्श्वनाथ स्वामी ने कुछ उपाय न देखकर उन सर्प सर्पिणी को शांत होने का उपदेश दिया और पंच नमस्कार मंत्र सुनाया। उनके उपदेश से शांतचित्त होकर दोनों ने नमस्कार मंत्र का ध्यान किया जिसके प्रभाव से वे दोनों महाविभूति के धारक धरणेन्द्र और पद्मावती हुये। बहुत समझाने पर भी जब उस महीपाल तापस ने अपनी हठ नहीं छोड़ी तब वे मित्रों के साथ अपने घर लौट आये। महिपाल तापस का अपने इस अनादर से बहुत दु:ख हुआ जिससे आर्तध्यान से मरकर वह संवर नाम का ज्योतिषी देव हुआ।

जब कुमार पार्श्वनाथ की आयु तीस वर्ष की हो गई तब अयोध्या नगर के स्वामी राजा जयसेन ने उन्हें उत्तमोत्तम भेंट देने के लिये किसी दूत को भेजा। कुमार पार्श्वनाथ ने बड़ी प्रसन्नता से उसकी भेंट स्वीकार की और दूत का खूब सम्मान किया। मौका पाकर जब उन्होंने दूत से अयोध्या का समाचार पूछा तब दूत ने पहले यहां पर उत्पन्न हुये वृषभनाथ आदि तीर्थंकरों का वर्णन किया। राजा रामचंद्र, लक्ष्मण आदि की वीर चेष्टाओं का व्याख्यान किया और फिर नगर की शोभा का निरूपण किया। दूत के मुख से तीर्थंकरों का हाल सुनकर उन्होंने सोचा कि मैं भी तीर्थंकर कहलाता हूँ। पर इस थोते पद से क्या? मैंने सचमुच में एक सामान्य मनुष्य की तरह अपनी आयु के तीस वर्ष यूंही गवां दिये। इस प्रकार विचार करते हुये उन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया जिससे उन्होंने विषय-वासनाओं से मोह छोड़कर दीक्षा लेने का पक्का निश्चय कर लिया। उन्हें दीक्षा लेने के लिये तत्पर देखकर राजा विश्वसेन (अश्वसेन) आदि ने बहुत कुछ समझाया पर उन्होंने किसी की एक न मानी। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव मनाया। वैरागी पार्श्वनाथ अनेक राजकुमारियों के आज्ञा बंधन तोड़कर देव-निर्मित 'विमिला' पालकी पर सवार होकर अश्व वन में पहुँचे और वहां तेला का नियम लेकर तीन सौ राजाओं के साथ पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रात: समय दीक्षित हो गये। बढ़ती हुई विशुद्धि के कारण उन्हें दीक्षा लेते ही

मन: पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। दीक्षा-कल्याणक का उत्सव समाप्त कर देवलोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

चौथे दिन महामुनि ने आहार लेने के लिये गुलमसेटपुर में प्रवेश किया। वहां उन्हें धन्य नामक राजा ने विधि पूर्वक उत्तम आहार दिया। आहार से प्रभावित होकर देवों ने धन्य राजा के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। आहार लेकर महामुनि पुन: वन में आकर विराजमान हो गये। इस तरह कभी प्रतिदिन कभी दो-चार-छ: दिनों के बाद आहार लेते और आत्म-ध्यान करते हुये उन्होंनें छद्मस्थ अवस्था के चार माह व्यतीत किये। फिर वे उसी दीक्षा-वन में आम्रवृक्ष के नीचे सात दिन के अनशन की प्रतिज्ञा लेकर ध्यान में मग्न हो गये। जब वे ध्यान में मग्न होकर अचल की तरह नश्चिल हो रहे थें उसी समय कमठ-महीपाल का जीव कालसंवर नाम का ज्योतिषी देव आकाश मार्ग से विहार करता हुआ वहां से निकला। जब उसक विमान मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर आया तब वह मंत्र से कीलित हुये की तरह अकस्मात् रुक गया। जब कालसंवर ने उसका कारण जानने के लिये यहां वहां नजर दौड़ाई तब उसे ध्यान करते हुये मुनिराज पार्श्वनाथ दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसे अपने बैर की याद आ गई जिससे उसने क्रुद्ध होन उन पर घोर उपसर्ग करना शुरू कर दिया। सबसे पहले उसने खूब जोर का शब्द किया और फिर लगातार सात दिन तक मूसलाधार पानी बरसाया, ओले बरसाये, वज्र गिराया। पर मुनिराज पार्श्वनाथ कालसंवर के उपसर्ग से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुये। इनके द्वारा दिये गये नमस्कार मंत्र के प्रभाव से जो सर्प, सर्पिणी, धरणेन्द्र और पद्मावती हुये थे, उन्होंने अवधिज्ञान से अपने उपकारी पार्श्वनाथ के ऊपर होने वाले घोर उपसर्ग का हाल जान लिया। जिससे वे दोनों घटनास्थल पर पहुँचे और मुनिराज पार्श्वनाथ को उस प्रचण्ड घनघोर वर्ष के मध्य में मेरु की तरह अविचल देखकर आश्चर्य से चकित हो गये। उन दोनों ने उन्हें अपने ऊपर उठा लिया और उनके सिर पर फणावली तान दी जिससे उन्हें पानी का एक बुंद भी नहीं लग सकती थी। उसी समय ध्यान के माहात्म्य के घातिया कर्मों का नाश कर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भगवान के अनुपम धैर्य से हार मानकर कालसंवर बहुत ही लज्जित हुआ। उसी समय उसकी कषायों में कुछ शांतता आ गई जिससे वह

पहले का समस्त बैरभव भुलाकर क्षमा मांगने के लिये उनके चरणों में आ पड़ा। उन्होंने उसे भव्य उपदेश से संतुष्ट कर दिया। भगवान् पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। केवलज्ञान प्राप्त होते ही समस्त देवों ने आकर उनका ज्ञान-कल्याणक महोत्सव किया। कुबेर ने समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने चार माह बाद मौन भंग किया-दिव्य-ध्वनि के द्वारा समस्त पदार्थों का व्याख्यान किया। उनके समय में जगह जगह पर मिथ्यात्व का प्रचार बढ़ा हुआ था, इसलिये उन्होंने प्रायः सभी आर्य क्षेत्रों में घूम-घूम कर जैन-धर्म का प्रचार किया था।

भगवान पार्श्वनाथ के समवशरण में स्वयम्भु आदि दस गणधर थे, तीन सौ पचास द्वादशांग के जानकार थे, दस हजार नौ सौ शिक्षक थे, चौदह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, इतने ही विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, छः सौ वादी थे। इस तरह सब मिलाकर सोलह हजार मुनिराज थे। सुलोचना आदि को लेकर छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

इन सबके साथ उन्होंने उनहत्तर वर्ष सात माह तक विहार किया। उस समय इनकी बहुत ही ख्याति थी। हठवादी इनकी युक्तियों से बहुत डरते थे। जब इनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब वे छत्तीस मुनियों के साथ योग निरोध कर सम्मेद शैल पर विराजमान हो गये। और वहीं से उन्होंने श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष लाभ किया। देवों ने आकर भक्तिपूर्वक निर्वाण-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान् पार्श्वनाथ के सर्प का चिह्न है।

24. भगवान श्री महावीर स्वामी

दिढ कर्माचल दलन पवि, भवि सरोज रविराय।
कंचन छविकर जोर कवि, नमत वीर जिनपाय॥

-भूधरदास

पूर्वभव वर्णन

सब द्वीपों में शिरमौर जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक पुष्कलावती देश है, उसमें अपनी स्वाभाविक शोभा से स्वर्गपुरी को जीतने वाली पुण्डरीकिणी नगरी है। उसके मधु नाम के वन में किसी समय पुरुरवा नाम का भीलों का राजा रहता था। वह बड़ा ही दुष्ट था-भोले जीवों को मारते हुये उसे कभी दया नहीं आती थी। पुरुरवा की स्त्री का नाम कालिका था। दोनों में काफी प्रेम था। एक दिन रास्ता भूलकर सागरसेन नाम के मुनिराज उस वन में इधर-उधर फिर रहे थे। हरिण समझकर उन्हें मारने के लिये पुरुरवा तैयार हो गया; परंतु उसकी स्त्री कालिका ने उसे उसी समय रोक दिया और कहा कि ये वन के अधिष्ठाता देव हैं, हरिण नहीं हैं, इन्हें मारने से संकट में पड़ जाओगे। स्त्री के कहने से शांतचित्त होकर वह मुनिराज सागरसेन के पास पहुँचा और नमस्कार कर उन्हीं के पास बैठ गया। मुनिराज ने उसे मीठे और सरल शब्दों में उपदेश दिया जिससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मुनिराज के कहने से जीवन भर के लिये मद्य, मांस और मधु का खाना छोड़ दिया। रास्ता मिलने पर मुनिराज अपने वांछित स्थान की ओर चले गये और प्रसन्नचित्त पुरुरवा अपने घर गया। वहां वह निर्दोष रूप से अपने व्रत का पालन करता रहा और आयु के अंत में शांत परिणामों से मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहां उसकी आयु एक सागर की थी। स्वर्ग के सुख भोगकर जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी के राजा भरत चक्रवर्ती की अनंतमति नामक रानी से मरीचि नाम का पुत्र हुआ। जब वह उत्पन्न हुआ था उस समय भगवान वृषभदेव गृहस्थ अवस्था में ही थे और महाराज नाभिराज भी मौजूद थे, इसलिये उसके जन्म का खूब उत्सव मनाया गया था। जब वह बड़ा हुआ तब अपने पितामह महाराज वृषभदेव के साथ देखा-देखी वह मुनि हो गया। उस समय और भी कच्छ महाकच्छ आदि चार हजार राजा मुनि हो गये थे पर वे सभी भूख प्यास की बाधा से दु:खी होकर भ्रष्ट हो गये थे। वह मरीचि भी मुनि-पद से पतित हो जंगलों में कंदमूल खाने और तालाबों में पानी पीने के लिये गया। तब वन-देवता ने प्रकट होकर कहा- 'यदि तुम यति वेष में रहकर यह अनाचार करोगे तो हम तुम्हें दण्डित करेंगे।' देवताओं के वचन सुनकर उसने वृक्षों के बल्कल पहिन कर दिगम्बर वेष को छोड़ दिया और मनमानी प्रवृत्ति करने लगा। उसने कपिल

आदि अपने बहुत से अनुयायियों को शिष्य बनाकर उन्हें सांख्यमत का उपदेश दिया।

जब भगवान् आदिनाथ ने समवसरण के मध्य में विराजमान होकर दिव्य उपदेश दिया, तब उन पतित साधुओं में बहुत से साधु पुनः जैन-धर्म में दीक्षित हो गये। पर मरीचि ने अपना हठ नहीं छोड़ा। वह सतत यही कहता रहा कि जिस तरह आदिनाथ ने एकमत चलाकर ईश्वरी-पदवी प्राप्त की है उसी तरह मैं भी अपना मत चलाकर ईश्वर-पदवी प्राप्त करूंगा। इस तरह वह कन्दमूल का भक्षण करता, शीतला जल से स्नान करता, वृक्षों के बल्कल पहिनता और सांख्यमत का प्रचार करता हुआ यहां वहां घूमता रहा। आयु के अंत में कुछ शांत परिणामों से मरकर पांचवें स्वर्ग में देव हुआ। वहां उसकी आयु दस सागर की थी। आयु पूर्ण होने पर वह वहां से चय कर साकेत नगर के कपिला ब्राह्मण की काली नामक स्त्री से जटिल नाम का पुत्र हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब उसने परिव्राजक-सांख्य साधु की दीक्षा लेकर पहले के समान सांख्य तत्त्वों का प्रचार किया और आयु के अंत में मर कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहां दो सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव कर इसी भरतक्षेत्र के स्थूणागार नगर में भारद्वाज ब्राह्मण के घर उसकी पुष्पत्ता भार्या से पुष्पमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहां भी उसने परिव्राजक की दीक्षा लेकर सांख्य तत्त्वों का प्रचार किया और शांत परिणामों से मरण कर सौधर्म स्वर्ग में देव का पद पाया। वहां उसकी आयु एक सागर प्रमाण थी। वहां के सुख भोगने के बाद वह जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र के सूतिका नगर में अग्निभूति ब्राह्मण की गौतमी स्त्री से अग्निमह नाम का पुत्र हुआ। पूर्व भव के संस्कार से उसने पुनः परिव्राजक की दीक्षा लेकर प्रकृति आदि पच्चीस तत्वों का प्रचार किया और कुछ समता भावों से मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ। वहां पर वह सात सागर तक सुंदर सुख भोगता रहा। फिर आयु पूर्ण होने पर इसी भरतक्षेत्र के मंदिर नामक नगर में गौतम ब्राह्मण की कौशाम्बी नाम की स्त्री से अग्निमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहां भी उसने जीवन भर सांख्यमत का प्रचार किया और आयु के अंत में मरकर महेन्द्र स्वर्ग में देव-पदवी प्राप्त की। वहां के सुख भोगने के बाद वह उसी मंदिर नगर में सालंकायन विप्र की मंदिरा नामक भार्या से भारद्वाज नाम का पुत्र

हुआ। वहां भी उसने त्रिदण्ड लेकर सांख्यमत का प्रचार किया तथा आयु के अंत में समता भावों से शरीर त्यागकर माहेंद्र स्वर्ग में देव हुआ। वहां वह सात सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव करता रहा। बाद में वहां से च्युत होकर कुधर्म फैलाने के खोटे फल से अनेक त्रस-स्थावर योनियों में घूम-घूमकर दु:ख भोगता रहा। फिर कभी मगध (बिहार) देश के राजगृह नगर में शाण्डिल्य विप्र की पाराशरी स्त्री से स्थावर नाम का पुत्र हुआ। सो वह भी बड़ा होने पर अपने पिता शाण्डिल्य की तरह वेद-वेदांगों का जानने वाला हुआ। पर सम्यग्दर्शन के बिना उसका समस्त ज्ञान निष्फल था। उसने वहां पर भी परिव्राजक की दीक्षा लेकर सांख्यत मत का प्रचार किया और आयु के अंत में मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में देव-पादवी पाई। वहां उसकी आयु सात सागर प्रमाण थी। आयु का अंत होने पर वहां से च्युत होकर वह उसी राजगृह नगर में विश्वभूति राजा की जैनी नामक महारानी से विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। जो कि बड़ा होने पर बहुत ही शूरवीर निकला था। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था। उसकी भी लक्ष्मणा स्त्री से विशाखनंद नाम का पुत्र हुआ था जो अधिक बुद्धिमान नहीं था। इस परिवार के सब लोग जैन-धर्म में बहुत रुचि रखते थे। मरीचि का जीव विश्वनन्दी भी जैन-धर्म में आस्था रखता था।

एक दिन राजा विश्वभूति शरदऋतु के भंगुर (नाशशील) बादल देखकर मुनि हो गये और अपना राज्य छोटे भाई विशाखभूति को दे गये तथा अपने पुत्र विश्वनन्दी को युवराज बना गये।

एक दिन युवराज विश्वनन्दी अपने मित्रों के साथ राजोद्यान में क्रीड़ा कर रहा था कि इतनें में वहां से नये राजा विशाखभूति का पुत्र विशाखनन्द निकला। राजोद्यान की शोभा देखकर उसका जी ललचा गया। उसने झट से अपने पिता से कहा कि आपने जो वन विश्वनन्दी को दे रखा है वह मुझे दीजिये नहीं तो मैं घर छोड़कर परदेश को भाग जाऊंगा। राजा विशाखभूति भी पुत्र के मोह में आकर बोला- 'बेटा! यह कौन बड़ी बात है? मैं अभी तुम्हारे लिये वह उद्यान दिये देता हूँ'- ऐसा कहकर उसने युवराज विश्वनन्दी को अपने पास बुलाकर कहा- 'मुझे कुछ आततायियों को रोकने के लिये पर्वतीय प्रदेशों में जाना है? सो जब तक मैं लौटकर वापिस न आ जाऊँ तब

तक राज्य की देखभाल करना।' काका के वचन सुनकर भोले विश्वनन्दी ने कहा- 'नहीं आप यहीं पर सुख से रहिये, मैं पर्वतीय प्रदेशों में जाकर उपद्रवियों को नष्ट किये आता हूँ। राजा ने विश्वनन्दी को कुछ सेना के साथ पर्वतीय प्रदेशों में भेज दिया और उसके अभाव में उसका बगीचा अपने पुत्र को दे दिया। जब विश्वनन्दी को राजा के इस कपट का पता चला तब वह बीच से ही लौटकर वापस चला आया और विशाखनन्द को मारने के लिये उद्योग करने लगा। विशाखनन्द भी उसके भय से भाग कर एक कैंथ के पेड़ पर चढ़ गया परंतु कुमार विश्वनन्दी ने उसे मारने के लिये वह कैथ का पेड़ ही उखाड़ डाला। तदनन्तर वह भाग कर एक पत्थर के खम्भें में जा छिपा। परंतु विश्वनन्दी ने अपनी कलाई की चोट से उस खम्भे को भी तोड़ डाला जिससे वह वहां से भागा। उसे भागता हुआ देखकर युवराज विश्वनन्दी को दिया आ गई। उसने कहा-'भाई मत भागो, तुम खुशी से मेरे बगीचे में क्रीड़ा करो, अब मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है। अब मुझे जंगल के सूखे कटीले झंखाड़ झाड़ ही अच्छे लगेंगें' ऐसा कहकर उसने संसार की कपट भरी अवस्था का विचार करके किन्हीं सम्भूत मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। इस घटना से राजा विशाखभूति को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने मन में सोचा-मैंने व्यर्थ ही पुत्र के मोह में आकर साधु-स्वभावी विश्वनन्दी के साथ कपट किया है। सच पूछो तो यह राज्य भी उसी का है। केवल स्नेह के कारण ही बड़े भाई मुझे राजा बना गये हैं। अब जिस किसी भी तरह मुझे इस पाप का प्रायश्चित करना चाहिये। ऐसा सोचकर उसने भी विशाखनन्दी को राज्य देकर जिन दीक्षा ले ली। यह हम पहले लिख आये हैं कि विशाखनन्दी बुद्धिमान नहीं था इसलिये वह राज्यसत्ता पाकर मदोन्मत्त हो गया। कई तरह के दुराचार करने लगा। जिससे प्रजा के लोगों ने उसे राजगद्दी से च्युत कर देश से निकाल दिया। विशाखनन्दी ने राज्य से च्युत होकर आजीविका के लिये किसी राजा के यहां नौकरी कर ली। किसी समय वह राजा के कार्य से मथुरा नगरी में आया था और वहां एक वेश्या के घर की छत पर बैठा हुआ था।

मुनिराज विश्वनन्दी भी कठिन तपस्याओं से अपने शरीर को सुखाते हुये उस समय मथुरा नगरी में पहुँचे और आहार की इच्छा से मथुरा नगरी की गलियों में घूमते हुये वहां से निकले जहां पर वेश्या के मकान की छत

पर विशाखनन्दी बैठा हुआ था। असाता का उदय किसी को नहीं छोड़ता। मुनिराज विश्वनन्दी को उस गली में एक नवप्रसूता गाय ने धक्का देकर जमीन पर गिरा दिया। उन्हें जमीन पर पड़ा हुआ देखकर विशाखनन्दी ने हंसते हुये कहा- कलाई की चोट से पत्थर के खम्भे को गिरा देने वाला तुम्हारा वह बल आज कहां गया? उसके वचन सुनकर विश्वनन्दी को भी कुछ क्रोध आ गया उन्होंने लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा-'तुझे इस हंसी का फल अवश्य मिलेगा।' आहार लेकर मुनिराज वन की ओर चले गये। वहां उन्होंने आयु के अंत में निदान बांध कर सन्यासपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे वे महाशुक्र नाम के स्वर्ग में देव हुये । मुनिराज विशाखभूति आयु के अंत में समता भावों से मरणकर वहां पर देव हुये। वहां उन दोनों में बहुत ही स्नेह था।

सोलह सागर तक स्वर्गों के सुख भोगने के बाद वहां से च्युत होकर विशाखभूति का जीव जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र में सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के स्वामी राजा प्रजापति की जयावती रानी के विजय नाम का पुत्र हुआ और विश्वनन्दी का जीव उसी राजा की दूसरी रानी मृगावती के त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। पूर्व भव के संस्कार से इन दोनों में बड़ा भारी स्नेह था। बड़े होने पर विजय बलभद्र पदवी का धारक हुआ और त्रिपृष्ठ ने नारायण पदवी पाई। मुनि-निन्दा के प्रभाव से विशाखनन्दी का जीव अनेक कुयोनियों में भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर अलका नगरी के राजा मयूरग्रीव की नीलाञ्जना रानी से अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ। वह बचपन से ही उद्दण्ड प्रकृति का था। फिर बड़ा होने पर तो उसकी उद्दण्डता का पार नहीं रहा था। उसके पास चक्ररत्न था, जिससे वह तीन खण्ड पर अपना आधिपत्य जमाये हुये था। किसी कारणवश त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव में जमकर लड़ाई हुई तब अश्वग्रीव ने क्रोधित होकर त्रिपृष्ठ पर अपना चक्र चलाया। पर चक्ररत्न तीन प्रदक्षिणायें देकर त्रिपृष्ठ के हाथ में आ गया। तब इसने उसी चक्ररत्न के प्रहार से अश्वग्रीव को मार डाला और स्वयं त्रिपृष्ठ तीन खण्डों का राज्य करने लगा। तीन खण्ड का राज्य पाकर भी और तरह-तरह के भोग भोगते हुये भी उसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। वह हमेशा विषय-सामग्री को एकत्रित करने में लगा रहता था। जिससे वह त्रिपृष्ठ

मरकर सातवें नरक में नारकी हुआ। वहां वह तैंतीस सागर पर्यन्त भयंकर दु:ख भोगता रहा। फिर वहां से निकलकर जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र में गंगा नदी के किनारे सिंहगिर पर्वत पर सिंह हुआ। वहां उसने अनेक वन-जंतुओं का नाशकर पाप का उपार्जन किये जिनके फल से वह पुन: पहले नरक में गया और वहां कठिन दु:ख भोगता रहा। वहां से निकलकर जम्बूद्वीप में सिंहकूट के पूर्व की ओर हिमवान् पर्वत की शिखर पर फिर से सिंह हुआ। वह एक समय अपनी पैनी दाढ़ों से एक मृग को मारकर खा रहा था कि इतने में वहां से अत्यंत कृपालु चारण ऋद्धिधारी अजितंजय और अमितगुण नाम के मुनिराज निकले। सिंह को देखते ही उन्हें तीर्थंकर वचनों का स्मरण हो आया। वे किन्हीं तीर्थंकर के समवसरण में सुनकर आये हुये थे कि हिमकूट पर्वत पर सिंह दसवें भव में महावीर नाम का तीर्थंकर होगा। अजितंजय मुनिराज ने अवधिज्ञान के द्वारा उसे झट से पहचान लिया। उक्त दोनों मुनिराज आकाश से उतरकर सिंह के सामने एक शिलापर बैठ गये। सिंह भी चुपचाप वहीं पर बैठा रहा। कुछ देर बाद अजितंजय मुनिराज ने उस सिंह को सारगर्भित शब्दों में समझाया-'अय मृगराज! तुम इस तरह प्रतिदिन निर्बल प्राणियों को क्यों मारा करते हो? इस पाप के फल से ही तुमने अनेक बार कुयोनियों में दु:ख उठाये है'-इत्यादि कहते हुये उन्होंने इसके पहले के समस्त भव कह सुनाये। मुनिराज के वचन सुनकर सिंह को भी जाति स्मरण हो गया जिससे उसकी आंखों के सामने पहले के समस्त भव प्रत्यक्ष झलकने लगे। उसे अपने दुष्कार्यों पर इतना अधिक पश्चाताप हुआ कि उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली। मुनिराज ने फिर उसे शांत करते हुये कहा—तुम आज से अहिंसा व्रत का पालन करो। तुम इस भव से दसवें भव में जगत्पूज्य वर्द्धमान तीर्थंकर होगे। मुनिराज के उपदेश से वनराज सिंह ने सन्यास धारण किया और विशुद्ध-चित्त होकर आत्म-ध्यान किया। जिससे वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हुआ। मुनि-युगल भी अपना कर्तव्य पूरा कर आकाश मार्ग से विहार कर गये। सिंहकेतु दो सागर तक स्वर्ग के सुख भोगने के बाद धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र में मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नगर के राजा कनकपुंख और उनकी महारानी कनकमाला के

कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ। बड़े होने पर उसका राजकुमारी कनकवती के साथ विवाह हुआ। एक दिन वह अपनी स्त्री के साथ मंदराचल पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिये गया था। वहां पर उसे प्रियमित्र नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज मिले। कनकोज्ज्वल ने प्रदक्षिणा देकर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर धर्म का स्वरूप पूछा। उत्तर में प्रियमित्र महाराज ने कहा कि:-

धर्मो दयामयो धर्मे श्रयधर्मेण नायसे,
भुक्तिर्धर्मण कर्माणि हंता धर्माय सन्मतिम्।
देहि भापेहि धर्मात्त्वं याहि धर्मस्य भृत्यताम्,
धर्मेतिष्ठ चिरंधर्म पाहिमामिति चिंतय॥

-आचार्य गुणभद्र

अर्थात्-धर्म दयामय है, तुम धर्म का आश्रय करो, धर्म से ही मुक्ति प्राप्त होती है, धर्म के लिये उत्तम बुद्धि लगाओ, धर्म से विमुख मत होवो, धर्म के भृत्य (दास) बन जाओ, धर्म में लीन रहो और हे धर्म! हमेशा मेरी रक्षा करो, इस तरह चिंतवन करो।

मुनिराज के वचन सुनकर उसके हृदय में वैराग्य-रस समा गया। जिससे उसने कुछ समय बाद ही जिन-दीक्षा लेकर सब परिग्रहों का परित्याग कर दिया। अंत में वह संयासपूर्वक शरीर छोड़कर सातवें कल्पस्वर्ग में देव हुआ। लगातार तेरह सागर तक स्वर्ग के सुख भोगकर वह वहां से च्युत हुआ और जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र के कौशल देश में साकेत नगर के स्वामी राजा वज्रसेन की रानी शीलवती के हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। हरिषेण ने अपने बाहुबल से विशालराज-लक्ष्मी का उपभोग किया था और अंत समय में उस विशाल राज्य को जीर्ण तृण के समान छोड़कर श्रुतसागर मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली तथा उग्र तपस्यायें की। उनके प्रभाव से वह महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहां उसकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी। आयु के अंत में स्वर्ग वसुंधरा से सम्बंध तोड़कर वह धातकी खण्ड के पूर्व मेरु से पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र के पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में वहां के राजा सुमित्र और उनकी सुव्रता रानी से प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ। सुमित्र चक्रवर्ती था -उसने अपने पुरुषार्थ से छः खण्डों को वश में कर लिया था।

किसी समय उसने क्षेमंकर जिनेन्द्र के मुख से संसार का स्वरूप सुना और विषय-वासनाओं से विरक्त होकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। अंत में समाधिपूर्वक मरकर बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ देव हुआ। वहां वह अठारह सागर तक यथेष्ठ सुख भोगता रहा। फिर आयु के अंत में वहां से च्युत होकर जम्बूद्वीप के क्षेत्रपुर नगर में राजा नन्दवर्धन की रानी वीरवती से नन्द नाम का पुत्र हुआ। वह बचपन से ही धर्मात्मा और न्यायप्रिय था। कुछ समय तक राज्य भोगने के बाद उसने किन्हीं प्रौष्ठिल नामक मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। मुनिराज नंद ने गुरु-चरणों की सेवा कर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बंध किया। फिर आयु के अंत में आराधना पूर्वक शरीर त्यागरकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इंद्र हुआ। तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह बाईस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता और बाईस पक्ष के बाद एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था। पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि यही इंद्र आगे चलकर वर्द्धमान तीर्थंकर होगा- भगवान् महावीर होगा। कहां और कब? सो सुनिये-

वर्तमान परिचय

भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष चले जाने के कुछ समय बाद यहां भारतवर्ष में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हो गये थे। उस समय कितने ही मनुष्य स्वर्ग प्राप्ति के लोभ से जीवित पशुओं को यज्ञ की बलि-वेदियों में होम देते थे। कितने ही लोग सांख्य, नैयायिक तथा वेदान्तियों के प्रपंच में पड़कर आत्महित से कोसों दूर भाग रहे थे। उस समय लोगों के दिलों पर धर्म का भूत बुरी तरह से चढ़ा हुआ था। जिसे भी देखो वही हर एक व्यक्ति को अपनी ओर-अपने धर्म की ओर खींचने की कोशिश करता हुआ नजर आता था। उद्दण्ड धर्माचार्य धर्म की ओट में अपना स्वार्थ गांठते थे। मिथ्यात्व यामिनी का घना तिमिर सब ओर फैला हुआ था। उसमें दुष्ट उल्लूक भयंकर चीत्कार करते हुये इधर-उधर घूमते थे। आततायिओं के घोर आतंक से यह धरा अकुला उठी थी। रात्रि के उस सघन तिमिर से व्याकुल होकर प्राय: सभी सुंदर प्रभात का दर्शन करना चाहते थे। उस समय सभी की दृष्टि प्राची

की ओर लग रही थी। वे सतृष्ण लोचनों से पूर्व की ओर देखते थे कि प्रात:काल की ललित-लालिमा आकाश में कब फैलती है।

किसी ने ठीक ही कहा है-सृष्टि का क्रम जनता की आवश्यकतानुसार हुआ करता है। जब मनुष्य ग्रीष्म की तप्त लू से व्याकुल हो उठते हैं तब सुंदर श्यामल बादलों से आकाश को आवृत कर पावस ऋतु आती है। वह शीतल और स्वादु सलिल की वर्षा कर जनता का सन्ताप दूर कर देती है। पर जब मेघों की घनघोर वर्षा, निरंतर के दुर्दिन, बिजली की कड़क, मेघों की गड़गड़ाहट और मलिन पंक से मन म्लान हो जाता है तब स्वर्गीय अप्सरा का रूप धारण कर शरद ऋतु आती है। वह प्रतिदिन सवेरे के समय बाल दिनेश की सुनहली किरणों से लोगों के अंतस्तल को अनुरंजित बना देती है। रजनी में चंद्रमा की रजतमयी शीतल किरणों से अमृत बरसाती है। पर जब उसमें भी लोगों का मन नहीं लगता तब हेमन्त, शिशिर, और बसंत वगैरह आ-आकर लोगों को आनन्दित करने की चेष्टायें करती हैं। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात का आगमन भी लोगों के सुभीते के लिये हैं। दुष्टों का दमन करने के लिये महात्माओं की उत्पत्ति अनादि से सिद्ध है। इसलिये भगवान् पार्श्वनाथ के बाद जब भारी आतंक फैल गया था तब किसी महात्मा की आवश्यकता थी। बस, उसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये हमारे कथानायक भगवान महावीर ने भारत वसुधा पर जन्म लिया था।

जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र के मगध (बिहार) देश में एक कुण्डलपुर नामक नगर था जो उस समय वाणिज्य व्यवसाय के द्वारा खूब तरक्की पर था। उसमें अच्छे-अच्छे सेठ लोग रहा करते थे, कुण्डलपुर का शासन-सूत्र महाराज सिद्धार्थ के हाथ में था। सिद्धार्थ शूर-वीर होने के साथ-साथ बहुत ही गम्भीर प्रकृति के पुरुष थे। लोग उनकी दयालुता देख कर कहते थे कि ये एक चलते-फिरते दया के समुद्र हैं। उनकी मुख्य स्त्री का नाम प्रियकारिणी (त्रिशला) था। यह त्रिशला सिंधु देश की वैशालीपुरी के राजा चेटक की पुत्री थी, बड़ी ही रूपवती और बुद्धिमती थी। वह हमेशा परोपकार में ही अपना समय बिताती थी। रानी होने पर भी उसे अभिमान तो छू भी नहीं गया था। वह सच्ची पतिव्रता थी। सेवा से वह महाराज सिद्धार्थ को हमेशा संतुष्ट रखती थी। वह घर के नौकर चाकरों से प्रेम का व्यवहार करती थी। और विघ्न-व्याधि उपस्थित होने पर उनकी सतत रक्षा भी करती थी।

राजा सिद्धार्थ नाथवंश के शिरोमणि थे। वे भी अपने को त्रिशला की संगति से पवित्र मानते थे। राजा चेटक के त्रिशला के सिवाय मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चंदना ये छह पुत्रियां और थीं। मृगावती का विवाह वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी के चन्द्रवंशीय राजा शतानीक के साथ हुआ था। सुप्रभा, दशर्ण देश के हरकच्छ नगर के स्वामी सूर्यवंशी राजा दशरथ की पटरानी हुई थी। प्रभावती का विवाह-सम्बंध कच्छ देश के रोरुक नगर के स्वामी राजा उदयन के साथ हुआ था।

प्रभावती का दूसरा नाम शीलवती भी प्रचलित था। चेलिनी मगध देश के राजगृह नगर के राजा श्रेणिक की प्रिय पत्नी हुई थी। ज्येष्ठा और चन्दना इन दो पुत्रियों ने संसार से विरक्त होकर आर्यिका के व्रत ले लिये थे। इस तरह महाराज सिद्धार्थ का बहुत से प्रतिष्ठित राजवंशों के साथ मैत्री-भाव था। सिद्धार्थ ने अपनी शासन-प्रणाली में बहुत कुछ सुधार किया था।

ऊपर जिस इंद्र का कथन कर आये हैं वहां (अच्युत स्वर्ग में) जब उसकी आयु छः माह की बाकी रह गई तब से सिद्धार्थ महाराज के घर पर रत्नों की वर्षा होनी शुरू हो गई। अनेक देवियां आ-आकर प्रियकारिणी की सेवा करने लगीं। इन सब कारणों से महाराज सिद्धार्थ को निश्चय हो गया था कि अब हमारे नाथवंश में कोई प्रभावशाली महापुरुष उत्पन्न होगा।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में त्रिशला ने सोलह स्वप्न देखे और स्वप्न देखने के बाद मुंह में प्रवेश करते हुये एक हाथी को देखा। उसी समय उस इंद्र ने अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान से मोह छोड़कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही रानी ने स्नान कर पतिदेव सिद्धार्थ महाराज से स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने भी अवधिज्ञान से विचार कर कहा-तुम्हारे गर्भ से नव माह बाद तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होगा। जो कि सारे संसार का कल्याण करेगा-लोगों को सच्चे रास्ते पर लगायेगा। पति के वचन सुनकर त्रिशला मारे हर्ष के फूली न समाती थी। उसी समय चारों निकाय के देवों ने आकर भावी भगवान् महावीर के गर्भावतरण का उत्सव किया तथा उनके माता-पिता त्रिशला और सिद्धार्थ का खूब सत्कार किया। गर्भकाल के नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में प्रातः समय त्रिशला के गर्भ से बालक

वर्द्धमान का जन्म हुआ। उस समय अनेक शुभ शकुन हुये थे। उनकी उत्पत्ति से देव, दानव, मृग और मानव सभी को हर्ष हुआ था। चारों निकाय के देवों ने आकर जन्मोत्सव मनाया था। उस समय कुण्डलपुर अपनी सजावट से स्वर्ग को भी पराजित कर रहा था। देवराज ने इनका वर्धमान नाम रखा था। जन्मोत्सव की विधि समाप्त कर देवलोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये। राज-परिवार में बालक वर्द्धमान का बहुत प्यार से लालन-पालन होने लगा।

वे द्वितीया के इंदु की तरह दिन प्रतिदिन बढ़कर कुमार अवस्था में प्रविष्ट हुये। कुमार वर्द्धमान को जो भी देखता था उसी की आंखें हर्ष के आंसुओं से तर हो जाती थीं, मन अति आनंद से गद्‌गद हो उठता था और शरीर रोमांचित हो जाता था इन्हें अल्पकाल में ही समस्त विद्यायें प्राप्त हो गई थीं। बालक वर्द्धमान के अगाध पाण्डित्य को देखकर अच्छे-अच्छे विद्वानों को दांतों तले अंगुलियाँ दबानी पड़ती थीं। विद्वान होने के साथ-साथ वे शूर, वीरता और साहस आदि गुणों के अनन्य आश्रय थे।

एक दिन सौधर्म इंद्र की सभा में चर्चा चल रही थी-"इस समय भारतवर्ष में वर्द्धमान कुमार ही सबसे बलवान्, शूरवीर और साहसी हैं।" इस चर्चा को सुनकर एक संगम नाम का कौतुकी देव कुण्डलपुर आया। उस समय वर्द्धमान कुमार इष्ट-मित्रों के साथ एक वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे थे। मौका देखकर संगम देव ने एक भयंकर सर्प का रूप धारण किया और फुंकार करता हुआ वृक्ष की जड़ से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। नागराज की भयावनी सूरत देखकर वर्द्धमान कुमार के सब साथी वृक्ष से कूद-कूद कर घर भाग गये पर उन्होंने अपना धैर्य नहीं छोड़ा। वे उसके विशाल फण पर पांव रखकर खड़े हो गये और आनंद से उछलने लगे। उनके साहस से प्रसन्न होकर देव, सर्प का रूप छोड़कर अपने असली रूप में प्रकट हुआ। उसने उनकी खूब स्तुति की और महावीर नाम रखा।

बालक महावीर जन्म से ही परोपकार मे लगे रहते थे। जब वे दीन-दु:खी जीवों को देखते थे तब उनका हृदय रो पड़ता था। इतना ही नहीं, जब तक उनके दु:ख दूर करने का शक्तिभर प्रयत्न न कर लेते तब तक चैन नहीं लेते थे। वे अनेक असहाय बालकों की रक्षा करते थे। पुत्र की तरह विधवा स्त्रियों की सुरक्षा करते थे। उनकी दृष्टि के सामने छोटे-बड़े का

भेद-भाव न था। वे अपने हृदय का प्रेम आम बाजार में लुटाते थे जिसे आवश्यकता हो वह लूटकर ले जावे।

वर्द्धमान कुमार की कीर्ति-गाथाओं से समस्त भारतवर्ष मुखरित हो गया था। पहाड़ों की चोटियों और नद, नदी, निर्झरों के किनारों पर सुंदर लता गृहों में बैठकर किन्नर देव अपनी प्रेयसियों के साथ इनकी कीर्ति गाया करते थे। महलों की छतों पर बैठकर सौभाग्यवती स्त्रियां बड़ी ही भक्ति से उनका यशोगान करती थी। श्री पार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के ढाई सौ वर्ष बाद भगवान् महावीर हुये थे। इनकी आयु भी इसी में युक्त है। इनकी आयु कुछ कम बहत्तर वर्ष की थी। शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी और रंग सुवर्ग के समान स्निग्ध पीत वर्ण का था।

जब धीरे-धीरे उनकी आयु के तीस वर्ष बीत गये और उनके शरीर में यौवन का पूर्ण विकास हो गया, तब एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने उनसे कहा- 'प्रिये पुत्र! अब तुम पूर्ण युवा हो, तुम्हारी गम्भीर और विशाल आंखें उन्नत ललाट, प्रशांत वदन, मंद मुस्कान, चतुर वचन, विस्तृत वक्षस्थल और घुटनों तक लम्बी भुजायें तुम्हें महापुरुष बतला रही हैं। अब खोजने पर भी तुम में वह चंचलता नहीं पाता हूँ। अब तुम्हारा यह समय राज-कार्य संभालने का है। मैं एक वृद्ध मनुष्य हूँ और कितने दिन तक तुम्हारा साथ दूंगा? मैं तुम्हारा विवाह करने के बाद ही तुम्हें राज्य देकर संसार के झंझटों से बचना चाहता हूँ।'' पिता के वचन सुनकर महावीर का प्रफुल्ल मुखमण्डल एकदम गम्भीर हो गया। मानो वे किसी गहरी समस्या के सुलझाने में लग गये हों। कुछ देर बाद उन्होंने कहा- 'पिता जी! यह मुझसे नहीं होगा। भला, जिस जंजाल से आप बचना चाहते हैं उसी जंजाल में आप मुझे क्यों फंसाना चाहते हैं? ओह! मेरी आयु केवल बहत्तर वर्ष की है जिसमें आज तीस वर्ष व्यतीत हो चुके। अब इतने से अवशिष्ट जीवन में मुझे बहुत कुछ कार्य करना बाकी है। देखिये पिताजी! ये लोग धर्म के नाम पर आपस में किस तरह झगड़ते हैं। सभी एक दूसरे को अपनी ओर खींचना चाहते हैं। धर्माचार्य प्रपंच फैलाकर धर्म की दुकान सजाते हैं जिनमें भले प्राणी ठगाये जाते हैं। मैं इन पथ-भ्रांत पुरुषों को सुख का सच्चा रास्ता बतलाऊंगा। क्या बुरा है मेरा विचार?'' सिद्धार्थ ने बीच में ही टोक कर कहा-पर ये तो घर में रहते हुये

भी हो सकता है। कुछ आगे बढ़कर महावीर ने उत्तर दिया- नहीं महाराज! यह आपका केवल व्यर्थ मोह है, थोड़ी देर के लिये आप यह भूल जाइये कि महावीर मेरा बेटा है; फिर देखिये आपकी यह विचार-धारा परिवर्तित हो जाती है या नहीं? बस, पिता जी! मुझे आज्ञा दीजिये जिससे मैं जंगल के प्रशांत वायुमण्डल में रहकर आत्म-ज्योति को प्राप्त करूँ और जगत का कल्याण करूँ। कुछ प्रारम्भ किया और कुछ हुआ। सोचते हुये सिद्धार्थ महाराज विषण्ण-वदन हो चुप रह गये।

जब पिता-पुत्र का ऊपर लिखा हुआ सम्वाद त्रिशला रानी के कानों में पड़ा तब वह पुत्र-मोह से व्याकुल हो उठी-उसके पांव के नीचे की जमीन खिसकने-सी लगी। आंखों के सामने अंधेरा छा गया। वह मूर्च्छित हो ही रही थी कि बुद्धिमान वर्द्धमान कुमार ने चतुराई भरे शब्दों में उनके सामने अपना समस्त कर्तव्य प्रकट कर दिया- अपने आदर्श और पवित्र विचार उनके सामने रख दिये एवं संसार की दूषित परिस्थिति से उसे परिचित करा दिया। तब उसने डबडबाती हुई आंखों से कुमार महावीर की ओर देखा। उस समय उसे चेहरे पर परोपकार की दिव्य झलक दिखाई दी। उनकी लालसा-जन्य सरल मुखाकृति ने उनके समस्त विमोह को दूर कर दिया। महावीर को देखकर उसने अपने आपको बहुत कुछ धन्यवाद दिया और कुछ देर तक अनिमेष दृष्टि से उनकी ओर देखती रही। फिर कुछ देर बाद उसने स्पष्ट स्वर में कहा- ''हे देव! जाओ, खुशी से जाओ, अपनी सेवा से संसार का कल्याण करो, अब मैं आपको पहिचान सकी, आप मनुष्य नहीं- देव हैं। मैं आपके जन्म से धन्य हुई। अब न आप मेरे पुत्र हैं और न मैं आपकी मां। किंतु आप एक आराध्य देव हैं और मैं हूं आपकी एक क्षुद्र सेविका। मेरा पुत्र-मोह बिल्कुल दूर हो गया।

माता के उक्त वचनों से महावीर स्वामी के विरक्त हृदय को और भी अधिक आलम्बन मिल गया। उन्होंने स्थिर चित्त होकर संसार की परिस्थिति का विचार किया और वन में जाकर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय धवल वस्त्र पहिने हुये लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और दीक्षा धारण करने के विचारों का समर्थन किया। अपना कार्य पूरा कर लौकान्तिक देव अपने स्थानों पर वापिस चले गये। उनके जाते ही

असंख्य देव-गण जय-जय घोषणा करते हुये आकाशमार्ग से कुण्डलपुर आये। वहां उन्होंने कुमार महावीर का दीक्षाभिषेक किया तथा अनेक सुंदर-सुंदर आभूषण पहिनये। कुमार भी देवनिर्मित चंद्रप्रभा पालकी पर सवार होकर षण्डवन में गये और वहां अगहन वदी दशमी के दिन हस्त नक्षत्र में संध्या के समय ''नमः सिद्धेभ्यः'' कहकर वस्त्राभूषण उतारक फेंक दिये। पंच मुष्टियों से केश उखाड़ डाले। इस तरह बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्यागकर आत्मध्यान में लीन हो गये। विशुद्धि के बढ़ने से उन्हें उसी समय मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। दीक्षा कल्याणक का उत्सव समाप्त कर देवलोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

पारणा के दिन महामुनि महावीर ने आहार के लिये कूलग्राम नामक नगरी में प्रवेश किया। वहां उन्हें कूल-भूपाल ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्रदान से प्रभावित होकर देवों ने कूल-भूपाल के घर पर पंचाश्चर्य प्रकट किये। वहां से लौटकर मुनिराज महावीर वन में पहुँचे और आत्मध्यान में लीन हो गये। दीक्षा के बाद उन्होंने मौनव्रत ले लिया था। इसलिये बिना किसी से कुछ कहे हुये ही वे आर्य देशों में विहार करते थे।

एक दिन विहार करते हुये महामुनि महावीर उज्जयिनी के अतिमुक्तक नाम के श्मशान में पहुँचे और रात में प्रतिमा योग धारणकर वहीं पर विराजमान हो गये। उन्हें देखकर महादेव रुद्र ने अपनी दुष्टता से उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने बैताल विद्या के प्रभाव से रात्रि के सघन अंधकार को और भी सघन बना दिया। अनेक भयानक रूप बनाकर नाचने लगा। कठोर शब्द, अट्टहास और विकराल दृष्टि से डराने लगा। तदन्तर सर्प, सिंह, हाथी, अग्नि और वायु आदि के साथ भीलों की सेना बनाकर आया। इस तरह उसने अपनी विद्या के प्रभाव से खूब उपसर्ग किया। पर मुनिराज महावीर का चित्त आत्मध्यान से थोड़ा भी विचलित नहीं हुआ। उनके अनुपम धैर्य को देखकर महादेव ने असली रूप में प्रकट होकर उनकी खूब प्रशंसा की स्तुति की और क्षमा याचना कर अपने स्थान पर चला गया।

वैशाली के राजा चेटक की छोटी पुत्री चंदना वन में खेल रही थी। उसे देखकर कोई विद्याधर काम बाण से पीड़ित हो गया। इसलिए वह उसे

उठाकर आकाश में लेकर उड़ गया पर ज्योंही उस विद्याधर की दृष्टि अपनी स्त्री पर पड़ी त्योंही वह उससे डरकर चन्दना को एक महा अटवी में छोड़ आया। वहां पर किसी भील ने देखकर उसे धन पाने की इच्छा से कौशाम्बी नगरी के वृषभदत्त सेठ के पास भेज दिया। सेठ की स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह बड़ी दृष्टा थी, उसने सोचा कि कभी सेठजी इस चन्दना की रूप-राशि पर न्यौछावर होकर मुझे अपमानित न कर दें–ऐसा सोचकर वह चन्दना को खूब कष्ट देने लगी। सेठानी के घर पर प्रतिदिन चन्दना को मिट्टी के बर्तन में कांजी से मिला हुआ पुराने कोंदों का भात ही खाने को मिलता था। इस पर भी वह हमेशा सांकल में बंधी रहती थी। इन सब अत्याचारों से उसका सौन्दर्य प्रायः नष्ट-सा हो गया था।

एक दिन विहार करते हुए मुनिराज महावीर आहार लेने के लिए कौशाम्बी नगरी में पहुंचे। उनका आगमन सुनकर चन्दना की इच्छा हुई कि मैं मुनि महावीर के लिए आहार दूं, पर उसके पास रक्खा ही क्या था? उसे जो मिलता था वह दूसरे की कृपा से और वह भी सड़ा हुआ। उपरान्त वह सांकल में बंधी हुई थी। चन्दना को अपनी परतन्त्रता का विचार आते ही बहुत दुःख हुआ। परभाव भक्ति की कोई चीज है। ज्योंही महावीर उसके द्वार पर से निकले त्योंही उसकी सांकल अपने आप टूट गई। उसका शरीर पहले के समान सुंदर हो गया। पास में रखा हुआ मिट्टी का बर्तन सोने का हो गया और कोंदों का भात शालि चावलों का भात बन गया। यह देखकर उसने प्रसन्नता से पड़गाहन कर मुनिराज महावीर के लिए आहार दिया। देवों ने चन्दना की भक्ति से प्रसन्न होकर उसके घर पर रत्नों की वर्षा की। तब से चन्दना का माहात्म्य सब ओर फैल गया। पता लगने पर चेटक राजा पुत्री को लिवाने के लिए आया, पर वह संसार की दुःखमय अवस्था से खूब परिचित हो गई थी इसलिए उसने पिता के साथ जाना अस्वीकार कर दिया और किसी आर्यिका के पास दीक्षा ले ली। अब तक छद्मस्थ अवस्था में विहार करते हुए मुनिराज के बारह वर्ष बीत गए थे। एक दिन वे जृम्भिका गांव के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नाम के वन में सागोन वृक्ष के नीचे पत्थर की शिला पर विराजमान थे। वहीं पर उन्हें शुक्ल ध्यान के प्रताप से घातिया कर्मों का क्षय होकर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन हस्त नक्षत्र में संध्या समय उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने

समवशरण की रचना की। भगवान् महावीर उसके मध्य भाग में विराजमान हुए। धीरे-धीरे समवशरण की सभी बारहों सभायें भर गईं। समवशरण भूमि का सब प्रबन्ध देवलोग अपने हाथ में लिए हुए थे, इसलिए वहां किसी प्रकार का कोलाहल नहीं होता था। सभी लोग सतृष्ण लोचनों से भगवान् की ओर देख रहे थे और कान उनके दिव्य उपदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर भगवान् महावीर चुपचाप सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान थे। उनके मुख से एक भी शब्द नहीं निकलता था। केवलज्ञान होने पर भी छयासठ दिन तक उनकी दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। जब इन्द्र ने अवधिज्ञान से इसका कारण जानना चाहा तब उसे मालूम हुआ कि अभी सभाभूमि में कोई गणधर नहीं है और बिन गणधर के तीर्थंकर की वाणी नहीं खिरती। इन्द्र ने अवधिज्ञान से यह भी जान लिया कि गौतम ग्राम में जो इन्द्रभूति नाम का ब्राह्मण है वही इनका प्रथम गणधर होगा। ऐसा जानकर इन्द्रभूति को लाने के लिए गौतम ग्राम को गया। इन्द्रभूति वेद वेदांगों को जानने वाला प्रकाण्ड विद्वान था। उसे अपनी विद्या का भारी अभिमान था। उसके पांच सौ शिष्य थे। जब इन्द्र उसके पास पहुँचा तब वह अपने शिष्यों को वेद वेदांगों का पाठ पढ़ा रहा था। इन्द्र भी एक शिष्य के रूप में उसके पास पहुँचा और नमस्कार कर जिज्ञासु भाव से बैठ गया। इन्द्रभूति ने नए शिष्य की ओर गम्भीर दृष्टि से देखकर कहा कि तुम कहां से आए हो? किसके शिष्य हो? उसके वचन सुनकर शिष्य वेषधारी इन्द्र ने कहा कि में सर्वज्ञ भगवान महावीर का शिष्य हूँ। इन्द्रभूति ने महावीर के साथ 'सर्वज्ञ' और 'भगवान्' विशेषण सुनकर तिणकते हुए कहा–'अरे सर्वज्ञ के शिष्य! तुम्हारे गुरु यदि सर्वज्ञ हैं तो अभी तक कहां छिपे रहे? क्या मुझसे शास्त्रार्थ किए बिना ही वे सर्वज्ञ कहलाने लगे हैं?'' इन्द्र के कुछ भौंहे टेढ़ी करते हुए कहा–तो क्या आप उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए समर्थ हैं? इन्द्रभूति ने कहा–हां, अवश्य। तब इन्द्र ने कहा–अच्छा, पहले उनके शिष्य मुझसे ही शास्त्रार्थ कर देखिए–फिर उनसे करियेगा। मैं पूछता हूं....

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नव पद सहितंजीव षट्काय लेश्याः,
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत समिति गति ज्ञानचारित भेदाः।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन महितैः प्रोक्त मर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

कहिऐ महाराज! इन श्लोक का अर्थ क्या है? जब इन्द्रभूति को 'द्रव्यषट्कं' 'नवपद सहितं' 'लेश्या' आदि शब्दों का अर्थ प्रतिभासित नहीं हुआ तब वह कड़कर कर बोला–चल तुझसे क्या शास्त्रार्थ करूं, तेरे गुरु से ही शास्त्रार्थ करूंगा। ऐसा कहकर पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के पास जाने के लिए खड़ा हो गया। इन्द्र भी हंसता हुआ आगे होकर बतलाने लगा। ज्योंही इन्द्रभूति समवशरण के पास आया और उसकी दृष्टि मान-स्तम्भ पर पड़ी त्योंही उसका समस्त अभिमान चूर हो गया। वह विनीत भाव से समवशरण के भीतर गया। वहाँ भगवान् के दिव्य ऐश्वर्य को देखकर उनके समाने उसने अपने आपको बहुत ही क्षुद्र अनुभव किया। इन्द्रभूति भगवान को नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गए। भगवान महावीर के दिव्य दर्शन से गद्‌गद् हृदय होकर इन्द्रभूति ने कहा–'भगवान! इस दास को भी अपने चरणों में स्थान दीजिए।' ऐसा कहकर उसने वहीं पर जिन दीक्षा धारण कर ली। उसके पांच सौ शिष्यों ने भी जैन-धर्म स्वीकार कर यथाशक्ति व्रत-विधान ग्रहण किए। दीक्षा लेने के कुछ समय बाद ही इन्द्रभूति को सात ऋद्धियां और मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। यही भगवान् वर्द्धमान का प्रथम गणधर हुए थे। गौतम गांव में रहने के कारण इन्द्रभूति का ही दूसरा नाम 'गौतम' था। भगवान अर्ध-मागधी भाषा में पदार्थों का उपदेश करते थे और गौतम इन्द्रभूति गणधर उसे ग्रंथ रूप में अंग पूर्व रूप से संकलित करते जाते थे। कालक्रम से भगवान् महावीर के गौतम के सिवाय वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, सौन्दर्य, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेल और प्रभास ये दस गणधर थे। इसके सिवाय इनके समवशरण में तीन सौ ग्यारह द्वादशांग के वेत्ता थे, नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे, तेरह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी थे, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, पांच सौ मन:पर्यय ज्ञानी थे और चार सौ वादी थे। इस तरह सब मिलकर चौदह हजार मुनिराज थे। चन्दना आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं, असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे। इन सबसे वेष्टित होकर उन्होंने नय प्रमाण और निक्षेपों से वस्तु का स्वरूप बतलाया। इसके अनन्तर कई स्थानों में विहार कर धर्मामृत की वर्ष की।

इन्हीं के समय में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के गौतम बुध नाम का पुत्र था जो अपने विशाल ऐश्वर्य को छोड़कर साधु बन गया था। साधु गौतम

बुद्ध ने अपनी तपस्या से महात्मा पद प्राप्त किया था। महात्मा बुद्ध जगह-जगह घूमकर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया करते थे। बुद्ध के अनुयायी 'बौद्ध' और महावीर के अनुयायी 'जैन' कहलाते थे। यद्यपि उस समय जैन और बौद्ध ये दोनों सम्प्रदाय वैदिक विधान बलि, हिंसा आदि का विरोध करने में पूरी-पूरी शक्ति लगाते थे तथापि उन दोनों में बहुत मतभेद था। बौद्ध और जैनियों की दार्शनिक तथा आचार विषयक मान्यताओं में बहुत अन्तर था। जो कुछ भी हो, पर यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि वे दोनों उस समय के महापुरुष थे, दोनों का व्यक्तित्व खूब बढ़ा-चढ़ा था। जब तक महावीर की छद्मस्थ अवस्था रही तब तक प्राय: बुद्ध के उपदेशों का अधिक प्रचार रहा। पर जब भगवान महावीर केवलज्ञानी होकर दिव्य ध्वनि के द्वारा उपदेश करने लगे थे तब बुद्ध का माहात्म्य बहुत कुछ कम हो गया था। राजा श्रेणिक जैसे कट्टर बौद्ध भी महावीर के अनुयायी बन गए थे अर्थात् जैनी हो गए थे। एक जगह गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों के सामने भगवान् महावीर को सर्वज्ञ स्वीकार किया था और उनके वचनों में अपनी आस्था प्रकट की थी।

पूर्णज्ञानी योगी भगवान महावीर ने पहले तो वैदिक बलिदान तथा अन्य कुरीतियों को बन्द करवाया था। और फिर अपने मार्मिक-धार्मिक उपदेशों से, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य आदि मत मतान्तरों की मान्यताओं का खण्डन कर स्याद्वाद् रूप से जैन-धर्म की मान्यताओं का प्रकाश किया था।

एक दिन भगवान महावीर विहार करते हुए राजगृह नगर में आए और वहाँ के विपुलाचन पर्वत पर समवशरण सहित विराजमान हो गए। उस समय राजगृह नगर में राजा श्रेणिक का राज्य था। पहिले कारणवश श्रेणिक राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। परन्तु चेलना रानी के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर उन्होंने बौद्ध धर्म को छोड़कर पुन: जैन धर्म धारण कर लिया था। जब उन्हें विपुलाचल पर महावीर जिनेन्द्र के आगमन का समाचार मिला तब वह समस्त परिवार के साथ उनकी वन्दना के लिए गया और उन्हें नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गया। भगवान् महावीर ने सुन्दर सरस शब्दों में पदार्थों का विवेचन किया जिसे सुनकर राजा श्रेणिक को क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। क्षायिक सम्यग्दर्शन पाकर उसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई। राजा श्रेणिक को उनके प्रति इतनी गाढ़ श्रद्धा हो गई थी कि वह उनके पास प्राय: नित्य प्रति जाकर तत्वों का उपदेश सुना करता था।

श्रेणिक को आसन्न भव्य समझकर गौतम गणधर वगैरह भी उसे खूब उपदेश दिया करते थे। प्रथमानुयोग का उपदेश तो प्राय: श्रेणिक के प्रश्नों के अनुसार ही किया गया था। श्रेणिक ने उन्हीं के पास में दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी कर लिया था। जिससे वह आगामी उत्सर्पिणी में पद्मनाभि नाम से तीर्थंकर होंगे।

भगवान महावीर का विहार, बिहार व झारखण्ड प्रान्त में बहुत अधिक हुआ है। राजगृह के विपुलाचल पर तो उनके कई बार आने के कथानक मिलते हैं। इस तरह समस्त भारतवर्ष में जैन-धर्म का प्रचार करते-करते जब उनकी आयु बहुत थोड़ी रह गई तब वे पावापुर में आए और वहां योग निरोध कर आत्म-ध्यान में लीन हो विराजमान हो गए। वहीं पर उन्होंने सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक शुक्लध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों का नाशकर कार्तिक वदी अमावस्या के दिन प्रात:काल के समय बहत्तर वर्ष की अवस्था में मोक्ष लाभ किया। देवों ने आकर निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की और उनके गुणों की स्तुति की।

भगवान् महावीर जब मोक्ष गए थे तब चतुर्थकाल के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन बाकी रह गए थे। उन्हें उत्पन्न हुए आज 2529 वर्ष और मोक्ष प्राप्त किए 2469 वर्ष (ग्रन्थ रचना काल) व्यतीत हो गए हैं। ये ब्रह्मचारी हुए। न इन्होंने विवाह किया और न राज्य ही। किन्तु कुमार अवस्था में दीक्षा धारण कर ली थी। जिन्होंने इनकी आयु 71 वर्ष 3 माह 25 दिन की मानी है उन्होंने उसका विभाग इस तरह लिखा है।

गर्भकाल 9 माह 8 दिन, कुमारकाल 28 वर्ष 7 माह 12 दिन; छद्मस्थकाल 12 वर्ष 5 माह 15 दिन; केवलिकाल 29 वर्ष 5 माह 20 दिन; कुल 71 वर्ष 3 माह 25 दिन हुए।

मुक्त होने पर चतुर्थकाल के बाकी रहे 3 वर्ष 8 माह 25 दिन।

इस तरह इस मत में चतुर्थकाल के 75 वर्ष 10 दिन बाकी रहने पर भगवान महावीर ने गर्भ में प्रवेश किया था और जिन्होंने 72 वर्ष की आयु मानी है उन्होंने कहा है—चतुर्थकाल के 75 वर्ष 8 माह 15 दिन बाकी रहने पर महात्मा महावीर ने त्रिशला के गर्भ में प्रवेश किया था।

इनके बाद गौतम, सुधर्म और जम्बू स्वामी ये तीन केवली और हुए हैं।

आज जैन-धर्म की आम्नाय उन्हीं के सार-गर्भित उपदेशों से चल रही है। वर्द्धमान, महावीर, वीर, अतिवीर और सन्मति ये पाँच नाम प्रसिद्ध हैं। भगवान महावीर का चिह्न शेर है।

अंत मंगलाचरण

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमांकोऽथधर्मः।
हर्यंकः पुष्पदंतो मुनिसुव्रतजिनोऽनंतवाक् श्री सुपार्श्वः॥
शांतिः पद्मप्रभोऽरो विमलपिवभुरसौ वर्द्धमानोप्यजांकः।
मल्लिर्नेमिर्ननमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥

—श्री जगन्नाथ कवि

तीर्थंकर परिचय सारणी

भूत भावी तीर्थंकर परिचय

	भूतकालीन	*भविष्य कालीन*	*भावी तीर्थंकरों के पूर्व अनन्त भव के नाम*
1.	निर्वाण	महापथ	श्रेणिक
2.	सागर	सुरदेव	सुपार्श्व
3.	महासाधु	सुपार्श्व	उदङ्क
4.	विमलप्रभ	स्वयंप्रभ	प्रोष्ठिल
5.	शुद्धाभदेव	सर्वात्मभूत	कृतसूर्य
6.	श्रीधर	देवपुत्र	क्षत्रिय
7.	श्रीदत्त	कुलपुत्र	पाविल
8.	सिद्धाभदेव	उदङ्क	शंख
9.	अमलप्रभ	प्रौष्ठिल	नन्द
10.	उद्धारदेव	जयकीर्ति	सुनन्द
11.	अग्निदेव	मुनिसुव्रत	शशाङ्क
12.	संयम	अर	सेवक
13.	शिव	निष्पाप	प्रेमक
14.	पुष्पांजलि	नि:कषाय	अतोरण
15.	उत्साह	विपुल	रैवत
16.	परमेश्वर	निर्मल	कृष्ण
17.	ज्ञानेश्वर	चित्रगुप्त	सीरी
18.	विमलेश्वर	समाधिगुप्त	भगलि
19.	यशोधर	स्वयम्भू	विगलि
20.	कृष्णमति	अनिवर्तक	द्वीपायन
21.	ज्ञानमति	जय	माणवक
22.	शुद्धमति	विमल	नारद
23.	श्रीभद्र	देवपाल	सुरूपदत्त
24.	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	सत्यकिपुत्र

वर्तमान चौबीसी के पूर्व भव नं. 2 (देव से पूर्व) का परिचय

	वर्तमान का नाम निर्देश	*पूर्व भव देव गति से पूर्व के नाम*	*क्या थे*	*पिता के नाम*	*पूर्व भव के देश व नगर के नाम*
1.	ऋषभनाथ	वज्रनाभि	चक्रवर्ती	वज्रसेन	जम्बू वि. पुण्डरीकिणी
2.	अजितनाथ	विमलवाहन	मण्डलेश्वर	महातेज	,, ,, सुसीमा
3.	सम्भवनाथ	विमलवाहन	,,	रिपुंदम	,, ,, क्षेमपुरी
4.	अभिनन्दननाथ	महाबल	,,	स्वयंप्रभ	,, ,, रत्नसंचय
5.	सुमतिनाथ	रतिषेण	,,	विमलवाहन	घात. वि. पुण्डरीकिणी
6.	पद्मप्रभ	अपराजित	,,	सीमन्धर	,, ,, सुसीमा
7.	सुपार्श्वनाथ	नन्दिषेण	,,	पिहितास्रव	,, ,, क्षेमपुरी
8.	चन्द्रप्रभ	पद्मनाभ	,,	अरिन्दम	,, ,, रत्नसंचय
9.	पुष्पदन्त	महापद्म	,,	युगन्धर	पुष्कर. वि. पुण्डरीकिणी
10.	शीतलनाथ	पद्मगुल्म	,,	सर्वजनानन्द	,, ,, सुसीमा
11.	श्रेयान्सनाथ	नलिनप्रभ	,,	अभयानन्द	,, ,, क्षेमपुरी
12.	वासुपूज्य	पद्मोत्तर	,,	वज्रदन्त	,, ,, रत्नसंचय
13.	विमलनाथ	पद्मसेन	,,	वज्रनाभि	घात. विदेह महानगर
14.	अनन्तनाथ	पद्मरथ	,,	सर्वगुप्ति	,, ,, अरिष्टा
15.	धर्मनाथ	दशरथ	,,	गुप्तिमान्	,, ,, सुसीमा
16.	शान्तिनाथ	मेघरथ	,,	चिन्तारक्ष	जम्बू. वि. पुण्डरीकिणी
17.	कुन्थनाथ	सिंहरथ	,,	विपुल वाहन	,, ,, सुसीमा
18.	अरहनाथ	धनपति	,,	धनरव	,, ,, क्षेमपुरी
19.	मल्लिनाथ	वैश्रवण	,,	धीर	,, ,, वीतशोका
20.	मुनिसुव्रतनाथ	हरिवर्मा	,,	संवर	,, भरत चम्पापुरी
21.	नमिनाथ	सिद्धार्थ	,,	त्रिलोकीय	,, ,, कौशाम्बी
22.	नेमिनाथ	सुप्रतिष्ठ	,,	सुनन्द	,, ,, हस्तनागपुर
23.	पार्श्वनाथ	आनन्द	,,	डामर	,, ,, अयोध्या
24.	वर्द्धमान	नन्द	,,	प्रौष्ठिल	,, ,, छत्रपुर

वर्तमान चौबीसी के वर्तमान भव का परिचय–(सामान्य)

	1 *पूर्वभव* *(देवपर्याय)*	2 *जन्म* *नगरी*	3 *चिन्ह्*	4 *यक्ष*	5 *यक्षिणी*
1.	सर्वार्थ सिद्धि	अयोध्या	बैल	गोवदन	चक्रेश्वरी
2.	विजय	,,	गज	महायक्ष	रोहिणी
3.	अ. ग्रैवैयक	श्रावस्ती	अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
4.	विजय	अयोध्या	बन्दर	यक्षेश्वर	वज्रशृंखल
5.	वैजयन्त	,,	चकवा	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
6.	ऊ. ग्रैवेयक	कौशाम्बी	कमल	मातङ्ग	अप्रतिचक्रेश्वरी
7.	म. ग्रैवेयक	काशी	स्वास्तिक	विजय	पुरुषदत्ता
8.	वैजयन्त	चन्द्रपुर	अर्धचन्द्र	अजित	मनोवेगा
9.	प्राणत	काकन्दी	मगर	ब्रह्म	काली
10.	आरण	भद्रपुर	स्वस्तिक	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
11.	पुष्पोत्तर	सिंहपुर	गैंडा	कुमार	महाकाली
12.	महाशुक्र	चम्पा	भैंसा	शन्मुख	गौरी
13.	सहस्रार	काम्पिल्य	शूकर	पाताल	गान्धारी
14.	पुष्पोत्तर	अयोध्या	सेही	किन्नर	बैरोटी
15.	सर्वार्थ सि.	रत्नपुर	वज्र	किंपुरुष	सोलसा (अनंत)
16.	,,	हस्तनागपुर	हरिण	गरुड़	मानसी
17.	,,	,,	बकरा/छाग	गन्धर्व	महामानसी
18.	जयन्त	,,	मत्स्य	कुबेर	जया
19.	अपराजित	मिथिला	कलश	वरुण	विजया
20.	प्राणत	राजगृह	कछुआ/कूर्म	भृकुटि	अपराजिता
21.	अपराजित	मिथिला	नीलकमल/ उत्पल	गोमेध	बहुरूपिणी
22.	जयन्त	द्वारावती	शंख	पार्श्व	कूष्माण्डी
23.	प्राणत	बनारस	सर्प	मातङ्ग	पद्मा
24.	पुष्पोत्तर	कुण्डलपुर	सिंह	गुह्यक	सिद्धायिनी

6 *पिता*	7 *माता*	8 *वंश*	9 *गर्भ तिथि*	10 *गर्भ नक्षत्र*
1. नाभिराय	मरुदेवी	इक्ष्वाकु	आषाढ कृ. 2	उत्तराषाढ़
2. जितशत्रु	विजयसेना	,,	ज्येष्ठ कृ. 15	रोहिणी
3. दृढ़राज्य	सुषैणा	,,	फा. शु. 8	मृगाशिरा
4. स्वयंवर	सिद्धार्था	,,	वैशा.शु. 6	पुनर्वसु
5. मेघरथ	मंगला	,,	श्रा.शु. 2	मघा
6. धरण	सुसीमा	,,	माघ कृ. 6	चित्रा
7. सुप्रतिष्ठ	पृथ्वीषैणा	,,	भाद्र शु. 6	विशाखा
8. महासेन	लक्ष्मणा	,,	चैत्र कृ. 5	....
9. सुग्रीव	जयरामा	,,	फा. कृ. 9	मूल
10. दृढरथ	सुनन्दा	,,	चैत्र कृ. 8	पूर्वाषाढ़ा
11. विष्णु	,,	,,	ज्येष्ठ कृ. 6	श्रवण
12. वसुपूज्य	जयावती	,,	आषा. कृ 6	शतभिषा
13. कृतवर्मा	जयश्यामा	,,	ज्येष्ठ कृ. 10	उत्तरभाद्रपदा
14. सिंहसेन	,,	,,	कार्ति. कृ. 1	रेवती
15. भानु	सुप्रभा	कुरु	वैशा. शु. 13	,,
16. विश्वसेन	ऐरा	इक्ष्वाकु	भाद्र. कृ. 7	भरणी
17. सूरसेन	श्रीकान्ता	कुरु	श्रा. कृ. 10	कृत्तिका
18. सुदर्शन	मित्रसेना	,,	फा. कृ. 3	रेवती
19. कुम्भ	प्रजावती	इक्ष्वाकु	चैत्र शु. 1	अश्विनी
20. सुमित्र	सोमा	यादव	श्रा.कृ. 2	श्रवण
21. विजय	महादेवी	इक्ष्वाकु	आश्वि. कृ. 2	अश्विनी
22. समुद्रविजय	शिवादेवी	यादव	कार्ति. शु. 6	उत्तराषाढ़ा
23. विश्वसेन	ब्राह्मी	उग्र	वैशा. कृ. 2	विशाखा
24. सिद्धार्थ	प्रियकारिणी	नाथ	आषा. शु. 6	उत्तराषाढ़ा

11 *जन्मतिथि*	12 *जन्म नक्षत्र*	13 *उत्सेध*	14 *वर्ण*
1. चैत्र कृ. 9	उत्तरषाढ़ा	500 धनुष	स्वर्ण
2. माघ शु 10	रोहिणी	450 धनुष	,,
3. कार्ति. शु. 15	ज्येष्ठा	400 धनुष	,,
4. माघ शु. 12	पुनर्वसु	350 धनुष	,,
5. चैत्र शु. 11	मघा	300 धनुष	,,
6. कार्ति. कृ. 13	चित्रा	250 धनुष	रक्त
7. ज्येष्ठ शु. 12	विशाखा	200 धनुष	हरित
8. पौष कृ. 11	अनुराधा	150 धनुष	धवल
9. मार्ग. शु. 1	मूल	100 धनुष	,,
10. माघ कृ. 12	पूर्वाषाढ़ा	90 धनुष	स्वर्ण
11. फा. कृ. 11	श्रवण	80 धनुष	,,
12. फा. कृ. 14	विशाखा	70 धनुष	रक्त
13. माघ शु. 14/4	पूर्वभाद्रपदा	60 धनुष	स्वर्ण
14. ज्ये. कृ. 12	रेवती	50 धनुष	,,
15. माघ शु. 13	पुष्य	45 धनुष	,,
16. ज्येष्ठ कृ. 14	भरणी	40 धनुष	,,
17. वैशा. शु. 1	कृतिका	35 धनुष	,,
18. मार्ग. शु. 14	रोहिणी	30 धनुष	,,
19. मार्ग. शु. 11	अश्विनी	25 धनुष	,,
20. वैशाख कृ. 10	श्रवण	20 धनुष	नील
21. आषा. कृ. 10	अश्विनी	15 धनुष	स्वर्ण
22. श्रा. शु. 6	चित्रा	10 धनुष	नील
23. पौष कृ. 11	विशाखा	9 हाथ	हरित
24. चैत्र शु. 13	उत्तरा फाल्गुनी	7 ,,	स्वर्ण

15. *वैराग्य कारण*	16 *दीक्षा तिथि*	17 *दीक्षा नक्षत्र*	18 *दीक्षा काल*	19 *दीक्षोपवास*
1. नीलाञ्जनामरण	चेत्र कृ. 9	उत्तरषाढ़ा	अपराह्न	षष्ठोपवास
2. उल्कापात	माघ शु. 9	रोहिणी	अपराह्न	अष्ट भक्त
3. मेघ		जयेष्ठा	अपराह्न	तृतीय उप.
4. गन्धर्व नगर	माघ शु. 12	पुनर्वसु	पूर्वाह्न	तृतीय उप.
5. जातिस्मरण	वैशा. शु. 9	मघा	पूवाह्न	तृतीय उप.
6. जातिस्मरण	कार्ति. कृ. 13	चित्रा	अपराह्न	तृतीय भक्त
7. पतझड़	ज्येष्ठ शु. 12	विशाखा	पूर्वाह्न	तृतीय भक्त
8. तड़िद	पोष कृ. 11	अनुराधा	अपराह्न	तृतीया उप.
9. उल्कापात	मार्ग. शु. 1	अनुराधा	''	'' भक्त
10. हिमनाश	मार्ग. कृ. 12	मूल	''	'' उप.
11. पतझड़	फा. कृ. 11	श्रवण	पूर्वाह्न	'' भक्त
12. जातिस्मरण	फा. कृ. 14	विशाखा	अपराह्न	एक उप.
13. मेघ	माघ शु. 4	उ. भाद्रपदा	''	तृतीया ''
14. उल्कापात	ज्येष्ठ कृ. 12	रेवती	''	'' भक्त
15. उल्कापात	माघ शु. 13	पुण्य	''	'' ''
16. जातिस्मरण	ज्येष्ठ कृ. 14	भरणी	''	'' उप.
17. ''	वैशा. शु. 1	कृतिका	''	'' भक्त
18. मेघ	मार्ग. शु. 10	रेवती	''	'' ''
19. तड़िद	मार्ग. शु. 11	अश्विनी	पूर्वाह्न	षष्ठ भक्त
20. जातिस्मरण	वैशा. कृ. 20	श्रवण	अपराह्न	तृतीया उप.
21. ''	आषा. कृ. 10	अश्विनी	''	'' भक्त
22. ''	श्रा. शु. 6	चित्रा	''	'' ''
23. ''	पौष कृ. 11	विशाखा	पूर्वाह्न	षष्ठ भक्त
24. ''	मार्ग. कृ. 21	उत्तरा फा.	अपराह्न	तृतीय भक्त

20 *दीक्षा वन*	21 *दीक्षा वृक्ष*	22 *सह दीक्षित*	23 *केवलज्ञान तिथि*	24 *केवलज्ञान नक्षत्र*	25 *केवलोत्पत्ति काल*
1. सिद्धार्थ	वट	4000	फा.कृ. 11	उत्तरासाढ़ा	पूर्वाह्न
2. सहेतुक	सप्तपर्ण	1000	पौष शु. 14	रोहिणी	अपराह्न
3. सहेतुक	शाल	1000	का. कृ. 5	ज्येष्ठा	अपराह्न
4. उग्र	सरल	1000	का. कृ. 5	पुनर्वसु	अपराह्न
5. सहेतुक	प्रियंगु	1000	पौष शु. 15	हस्त	अपराह्न
6. मनोहर	प्रियंगु	1000	वै. शु. 10	चित्रा	अपराह्न
7. सहेतुक	श्रीष	1000	फा. कृ. 7	विशाखा	अपराह्न
8. सर्वार्थ	नाग	1000	फा. कृ. 7	अनुराधा	अपराह्न
9. पुष्प	साल	1000	का. शु. 3	मूल	अपराह्न
10. सहेतुक	प्लक्ष	1000	पौष कृ. 14	पूर्वाषाढ़ा	अपराह्न
11. मनोहर	तेन्दू	1000	माघ कृ. 15	श्रवण	अपराह्न
12. मनोहर	पाटला	606	माघ शु. 2	विशाखा	अपराह्न
13. सहेतुक	जम्बू	1000	पौष शु. 10	उत्तराषाढ़ा	अपराह्न
14. सहेतुक	पीपल	1000	चैत्र कृ. 15	रेवती	अपराह्न
15. शालि	दधिपर्ण	1000	पौष शु. 15	पुष्य	अपराह्न
16. आम्रवन	नन्द	1000	पौष शु. 11	भरणी	अपराह्न
17. सहेतुक	तिलक	1000	चैत्र शु. 3	कृतिका	अपराह्न
18. सहेतुक	आम्र	1000	का. शु. 12	रेवती	अपराह्न
19. शालि	अशोक	300	फा. कृ. 12	अश्विनी	अपराह्न
20. नील	चम्पक	1000	फा. कृ. 6	श्रवण	पूर्वाह्न
21. चैत्र	बकुल	1000	चैत्र शु. 3	अश्विनी	अपराह्न
22. सहकार	मेषशृंग	1000	आश्वि. शु. 1	चित्रा	पूर्वाह्न
23. अश्वत्थ	धव	300	चैत्र कृ. 4	विशाखा	पूर्वाह्न
24. नाथ	साल	एकाकी	वै. शु. 10	मघा	अपराह्न

26 *केवल स्थान*	27 *केवल वन*	28 *केवल वृक्ष*	29 *समवशरण*	30 *योग निवृत्ति काल*
1. पूर्वतालका	पुरिमताल	न्यग्रोध	12 यो.	14 दिन पूर्व
2. अयोध्या	सहेतुक	सप्तपर्ण	11½ यो.	1 मास पूर्व
3. श्रावस्ती	सहेतुक	शाल	11 यो.	1 मास पूव
4. अयोध्या	उग्रवन	सरल	10½ यो.	1 मास पूव
5. अयोध्या	सहेतुक	प्रियंगु	10 यो.	1 मास पूव
6. कौशाम्बी	मनोहर	प्रियंगु	9½ यो.	1 मास पूव
7. काशी	सहेतुक	श्रीष	9 यो.	1 मास पूव
8. चन्द्रपुरी	सर्वार्थ	नाग	8½ यो.	1 मास पूर्व
9. काकन्दी	पुष्प	अक्ष (बहेड़ा)	8 यो.	1 मास पूर्व
10. भद्रिल	सहेतुक	धूलीशाल	7½ यो.	1 मास पूर्व
11. सिंहनादपुर	मनोहर	तेन्दू	7 यो.	1 मास पूर्व
12. चम्पापुरी	मनोहर	पाटल	6½ यो.	1 मास पूर्व
13. कम्पिला	सहेतुक	जम्बू	6 यो.	1 मास पूर्व
14. अयोध्या	सहेतुक	पीपल	5½ यो.	1 मास पूर्व
15. रत्नपुर	सहेतुक	दधिपर्ण	5 यो.	1 मास पूर्व
16. हस्तनागपुर	आम्रवन	नन्दी	4½ यो.	1 मास पूर्व
17. हस्तनागपुर	सहेतुक	तिलक	4 यो.	1 मास पूर्व
18. हस्तनागपुर	सहेतुक	आम्र	3½ यो.	1 मास पूर्व
19. मिथिला	मनोहर	कंकेलि (अशोक)	3 यो.	1 मास पूर्व
20. कुशाग्रनगर	नील	चम्पक	2½ यो.	1 मास पूर्व
21. मिथिला	चित्र	बकुल	2 यो.	1 मास पूर्व
22. गिरनार	सहस्त्रार	मेषशृंग	1½ यो.	1 मास पूर्व
23. आश्रमकेश	अश्ववन	धव	1.25 यो.	1 मास पूर्व
24. ऋजुकुला	षण्डवन	शाल	1 यो.	1 मास पूर्व

31 निर्वाण तिथि	32 निर्वाण नक्षत्र	33 निर्वाण काल	34 निर्वाण क्षेत्र
1. माघ कृ. 14	उत्तरासाढ़ा	पूर्वाह्न	कैलास
2. चैत्र शु. 5	भरणी	,,	सम्मेद
3. चैत्र शु. 6	ज्येष्ठा	अपराह्न	सम्मेद
4. बै. शु. 7	पुनर्वसु	पूर्वाह्न	सम्मेद
5. चैत्र शु. 10	मघा	पूर्वाह्न	सम्मेद
6. फा. कृ. 4	चित्रा	अपराह्न	सम्मेद
7. फा. कृ. 6	अनुराधा	पूर्वाह्न	सम्मेद
8. भाद्र शु. 7	ज्येष्ठा	पूर्वाह्न	सम्मेद
9. आश्विन शु. 8	मूल	अपराह्न	सम्मेद
10. का. शु. 5	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाह्न	सम्मेद
11. श्रा. शु. 15	धनिष्ठा	पूर्वाह्न	सम्मेद
12. फा. कृ. 5	अश्विनी	अपराह्न	चम्पापुर
13. आषाढ़ शु. 8	पूर्व भाद्रपद	सायं	सम्मेद
14. चैत्र कृ. 15	रेवती	सायं	सम्मेद
15. ज्येष्ठ कृ. 14	पुष्य	प्रातः	सम्मेद
16. ज्येष्ठ कृ. 14	भरणी	सायं	सम्मेद
17. वै. शु. 1	कृतिका	सायं	सम्मेद
18. चैत्र कृ. 15	रोहिणी	सायं	सम्मेद
19. फा. कृ. 5	भरणी	सायं	सम्मेद
20. फा. कृ. 12	श्रवण	सायं	सम्मेद
21. वै. कृ. 14	अश्विनी	प्रातः	सम्मेद
22. आषाढ़ कृ. 8	चित्रा	सायं	उर्जयन्त
23. श्रा. शु. 7	विशाखा	सायं	सम्मेद
24. का. कृ. 14	स्वाति	प्रातः	पावापुरी

35 पूर्वधारी	36 शिक्षक	37 अवधि ज्ञानी	38 केवली	39 विक्रियाधारी
1. 4750	4150	9000	20000	20600
2. 3750	21600	9400	20000	20400
3. 2150	129300	9600	15000	19800
4. 2500	230050	9800	16000	19000
5. 2400	254350	11000	13000	18400
6. 2300	269000	10000	12000	16800
7. 2030	244920	9000	11000	15300
8. 4000	210400	2000	18000	600
9. 1500	155500	8400	7500	13000
10. 1400	59200	7200	7000	12000
11. 1300	48200	6000	6500	11000
12. 1200	39200	5400	6000	10000
13. 1100	38500	4800	5500	9000
14. 1000	39500	4300	5000	8000
15. 900	40700	3600	4500	7000
16. 800	41800	3000	4000	6000
17. 700	43150	2500	3200	5100
18. 610	35835	2800	2800	4300
19. 550	29000	2200	2200	2900
20. 500	21000	1800	1800	2200
21. 450	12600	1600	1600	1500
22. 400	11800	1500	1500	1100
23. 350	10900	1400	1000	1000
24. 300	9900	1300	700	900

	40 मन:पर्ययज्ञानी	41 वादी	42 सर्वऋषि संख्या	43 गणधर संख्या	44 मुख्य गणधर
1.	12750	12750	84000	84	ऋषभसेन
2.	12450	12400	100000	90	केसरिसेन
3.	12150	12000	200000	105	चारुदत्त
4.	21650	1000	300000	103	वज्रचमर
5.	10400	10450	320000	116	वज्र
6.	10300	9600	330000	111	चमर
7.	9150	8600	300000	95	बलदत्त/बलिदत्त
8.	8000	7000	250000	93	वैदर्भ
9.	7500	6600	200000	88	नाग (अनगार)
10.	7500	5700	100000	87	कुन्थु
11.	6000	5000	84000	77	धर्म
12.	6000	4200	72000	66	मन्दिर
13.	5500	3600	68000	55	जय
14.	5000	3200	66000	50	अरिष्ट
15.	4500	2800	64000	43	सेन
16.	4000	2400	62000	36	चक्रायुध
17.	3350	2000	60000	35	स्वयंभू
18.	2055	1600	50000	30	कुम्भ
19.	1750	1400	40000	28	विशाख
20.	1500	1200	30000	18	मल्लि
21.	1250	1000	20000	17	सप्रभ
22.	900	800	18000	11	वरदत्त
23.	750	600	16000	10	स्वयंभू
24.	500	400	14000	11	इन्द्रभूति

45 आर्यिका संख्या	46 मुख्य आर्यिका	47 श्रावक संख्या	48 श्राविका संख्या
1. 350000	ब्राह्मी	300000	500000
2. 320000	प्रकुब्जा	300000	500000
3. 330000	धर्मश्री	300000	500000
4. 330600	मेरुषेणा	300000	500000
5. 330000	अनन्ता	300000	500000
6. 420000	रतिषेणा	300000	500000
7. 330000	मीना	300000	500000
8. 380000	वरुना	300000	500000
9. 380000	घोषा	200000	400000
10. 380000	धरणा	200000	400000
11. 130000	धारणा	200000	400000
12. 106000	वरसेना	200000	400000
13. 103000	पद्मा	200000	400000
14. 108000	सर्वश्री	200000	400000
15. 62400	सुव्रता	200000	400000
16. 60300	हरिषेणा	200000	400000
17. 60350	भाविता	100000	300000
18. 60000	कुन्थुसेना	100000	300000
19. 55000	मधुसेना	100000	300000
20. 50000	पूर्वदत्ता	100000	300000
21. 45000	मार्गिणी	100000	300000
22. 40000	यक्षिणी	100000	300000
23. 38000	सुलोका	100000	300000
24. 36000	चन्दना	100000	300000

49 आयु	50 कुमारकाल	51 विशेषता	52 राज्यकाल	53 छद्मस्थ काल	54 केवलिकाल
1. 84 ला.पू.	20 ला.पू.	मण्डलीक	63 ला.पू.	1000 वर्ष	1 ला.पू.-1000 वर्ष
2. 72 ला.पू.	18 ला.पू.	मण्डलीक	53 ला.पू. +1 पूर्वांग	12 वर्ष	1 ला.पू.-(1पूर्वा 12 व)
3. 60 ला.पू.	15 ला.पू.	मण्डलीक	44 ला.पू. +4 पूर्वांग	14 वर्ष	1 ला.पू.-(4पूर्वा 14 व)
4. 50 ला.पू.	12½ ला.पू.	मण्डलीक	36½ ला.पू. +8 पूर्वांग	18 वर्ष	1 ला.पू.-(8पूर्वा 18 व)
5. 40 ला.पू.	10 ला.पू.	मण्डलीक	29 ला.पू. +12 पूर्वांग	20 वर्ष	1 ला.पू.-(12पूर्वा 20 व)
6. 30 ला.पू.	7½ ला.पू.	मण्डलीक	21½ ला.पू. +16 पूर्वांग	6 मास	1 ला.पू.-(16पूर्वा 6 मा)
7. 20 ला.पू.	5 ला.पू.	मण्डलीक	14 ला.पू. +20 पूर्वांग	9 वर्ष	1 ला.पू.-(20पूर्वा 9 व)
8. 10 ला.पू.	2½ ला.पू.	मण्डलीक	6½ ला.पू. +24 पूर्वांग	3 मास	1 ला.पू.-(24पूर्वा 3 मास)
9. 2 ला.पू.	50000 पू.	मण्डलीक	½ ला.पू. +28 पूर्वांग	4 वर्ष	1 ला.पू.-(28पूर्वा 4 व)
10. 1 ला.पू.	25000 पू.	मण्डलीक	50000 पूर्व	3 वर्ष	25000पू.-3 वर्ष
11. 84 ला.वर्ष	21 ला.वर्ष	मण्डलीक	42 ला.वर्ष	2 वर्ष	2099998 वर्ष
12. 72 ला.वर्ष	18 ला.वर्ष	त्याग	नहीं किया	1 वर्ष	5399999 वर्ष
13. 60 ला.वर्ष	15 ला.वर्ष	मण्डलीक	30 ला.वर्ष	3 वर्ष	1499997 वर्ष
14. 30 ला.वर्ष	7½ ला.वर्ष	मण्डलीक	15 ला.वर्ष	2 वर्ष	749998 वर्ष
15. 10 ला.वर्ष	2½ ला.वर्ष	मण्डलीक	5 ला.वर्ष	1 वर्ष	249999 वर्ष
16. 1 ला.वर्ष	25000 वर्ष	चक्रवर्ती	मण्डलेश +चक्रवर्ती 25000 +25000	16 वर्ष	24984 वर्ष
17. 95000 वर्ष	23750 वर्ष	चक्रवर्ती	23750 +23750	16 वर्ष	23734 वर्ष
18. 84000 वर्ष	21000 वर्ष	चक्रवर्ती	21000 +21000	16 वर्ष	20984 वर्ष
19. 55000 वर्ष	100 वर्ष	त्याग	नहीं किया	6 दिन	54900 वर्ष-6 दिन
20. 30000 वर्ष	7500 वर्ष	मण्डलीक	15000 वर्ष	11 मास	7499 वर्ष-1 मास
21. 10000 वर्ष	2500 वर्ष	मण्डलीक	5000 वर्ष	9 वर्ष	2491 वर्ष
22. 1000 वर्ष	300 वर्ष	त्याग	नहीं किया	56 दिन	699 वर्ष 10 मास 4 दिन
23. 100 वर्ष	30 वर्ष	त्याग	,,	4 मास	69 वर्ष 8 मास
24. 72 वर्ष	30 वर्ष	त्याग	,,	12 वर्ष	30 वर्ष

55 जन्मान्तरालकाल	56 केवलोत्पत्ति अंतराल	57 निर्वाण अन्तर
चौथे काल में 84 ला. पूर्व 3 वर्ष 8½ मास शेष रहने पर उत्पन्न हुए		
1. 50 ला.को.सा.+12 ला.पू.	50 ला.को.सा.+8399012 वर्ष	50 ला.को.सा
2. 30 ला.को.सा.+12 ला.पू.	10 ला.को.सा.+4 पूर्वांग 4 वर्ष	30 ला.को.सा
3. 10 ला.को.सा.+10 ला.पू.	9 ला.को.सा.+4 पूर्वांग 2 वर्ष	10 ला.को.सा
4. 9 ला.को.सा.+10 ला.पू.	30 ला.को.सा.+3 पूर्वांग 2 वर्ष	9 ला.को.सा
5. 90000 को.सा.+10 ला.पू.	90000 को.सा.+3 पूर्वांग 8399980½ वर्ष	90000 को.सा
6. 9000 ला.को.सा.+10 ला.पू.	9000 को.सा.+4 पूर्वांग 8½ वर्ष	9000 को.सा
7. 900 ला.को.सा.+10 ला.पू.	900 को.सा.+3 पूर्वांग 839991¼ वर्ष	900 को.सा
8. 90 ला.को.सा.+8 ला.पू.	90 को.सा. +4 पूर्वांग 3¾ वर्ष	90 को.सा
9. 9 ला.को.सा.+1 ला.पू.	9 को.सा. 74999 पूर्व 839991 पूर्वांग 8399999 वर्ष	9 को.सा
10. 1 को.सा.+1ला.पू.- (100 सा.+15026000 वर्ष)	9999900 सा 24999 पूर्व 70559991273999 वर्ष	3373900 सा.
11. 54 सा. + 12 ला.वर्ष	54 सा. 3300001 वर्ष	54 सा.
12. 30 सा. + 12 ला.वर्ष	30 सा. 3900002 वर्ष	30 सा.
13. 9 सा. + 30 ला.वर्ष	9 सा. 749999 वर्ष	9 सा.
14. 4 सा. + 20 ला.वर्ष	4 सा. 499999 वर्ष	4 सा.
15. (3सा.9ला.वर्ष)-¾ पल्य	3 सा. 225015 वर्ष- ¾ पल्य	3 सा.-¾ पल्य
16. 1/2 पल्य+5000 वर्ष	½ पल्य 1250 वर्ष	½ पल्य
17. 1/4 पल्य-9999989000 वर्ष	¼ पल्य-9999997250 वर्ष	¼ प.-1000 को. वर्ष
18. 10000029000 वर्ष	9999966084 वर्ष 6 दिन	1000 को वर्ष
19. 5425000 वर्ष	5447400 वर्ष 10 मास 24 दिन	54 ला. वर्ष
20. 620000 वर्ष	605008 वर्ष 1 मास	6 ला. वर्ष
21. 509000 वर्ष	501791 वर्ष 56 दिन	5 ला. वर्ष
22. 84650 वर्ष	84380 वर्ष 2 मास 4 दिन	83750 वर्ष
23. 278 वर्ष	279 वर्ष 8 मास	250 वर्ष
24. चतुर्थकाल में 75 वर्ष 8.5 मास शेष रहने पर उत्पन्न हुए थे।		

विदेहक्षेत्रस्य तीर्थंकरों का परिचय

1	*2*	*3*	*4*	*5*
नाम	*चिह्न*	*नगरी*	*पिता*	*माता*
1. सीमन्धर	ऋषभ	पुण्डरीकणी	हंस	–
2. युगमन्धर	–	–	श्री रुह	–
3. बाहु	हरिण	सुसीमा	सुग्रीव	विजया
4. सुबाहु	–	अवध्यदेश	–	सुनन्दा
5. संजात	सूर्य	अलकापुरी	देवसेन	–
6. स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मंगला	–	–
7. ऋषभानन	–	मुसीमा	–	वीरसेना
8. अनन्तवीर्य	–	–	–	–
9. सूरिप्रभ	ऋषभ	–	–	–
10. विशालप्रभ	इन्द्र	पुण्डरीकणी	वीर्य	विजया
11. वज्रधर	शंख	–	पद्मरथ	सरस्वती
12. चन्द्रानन	गो	पुण्डरीकणी	–	दयावती
13. चन्द्रबाहू	कमल	–	–	रेणुका
14. भुजंगम	चन्द्रमा	–	महाबल	–
15. ईश्वर	–	मुसीमा	गलसेन	ज्वाला
16. नेमिप्रभ	सूर्य	–	–	–
17. वीरसेन	–	पुण्डरीकणी	भूमिपाल	वीरसेन
18. महाभट्ट	–	विजया	देवराज	उमा
19. देवयश	–	मुसीमा	स्तवभूति	गंगा
20. अजितवीर्य	कमल	–	कनक	–

वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकर व तत्कालीन प्रसिद्ध पुरुष

58 तीर्थकाल	नाम तीर्थंकर	59 चक्रवती	60 बलदेव	61 नारायण	62 प्रतिनारायण	63 रुद्र	64 मुख्य
1. 50 ला.को.सा.+1 पू.	ऋषभ	भरत	–	–	–	भीमावलि	भरत
2. 30 ला.को.सा.+3 पू.	अजित	सगर	–	–	–	जितशत्रु	सगर
3. 10 ला.को.सा.+4 पू.	सम्भव	–	–	–	–	–	सत्यवीर्य
4. 9 ला.को.सा.+4 पू.	अभिनन्दन	–	–	–	–	–	मित्रभाव
5. 90000 को.सा.+4 पू.	सुमति	–	–	–	–	–	मित्रवीर्य
6. 9000 को.सा.+ 4 पू.	पद्मप्रभु	–	–	–	–	–	धर्मवीर्य
7. 900 को.सा.+4 पू.	सुपार्श्व	–	–	–	–	–	दानवीर्य
8. 90 को.सा.+4 पू.	चन्द्रप्रभु	–	–	–	–	–	मघवा
9. 9 को.सा. 1/4 पल्य (1 ला.पू.-28 पूर्वांग)	पुष्पदंत	–	–	–	–	रुद्र	बुद्धिवीर्य
10. 1 को.सा– [(100 सा.-1/2 प.)+(25000 पू.+6626000 वर्ष]	शीतल	–	–	–	–	वैश्वानर	सीमंधर
11. 54 सा.+21ला.व. - 3/4 प.	श्रेयांस	–	विजय	त्रिपृष्ठ	अश्वग्रीव	सुप्रतिष्ठ	त्रिपृष्ठ
12. 30 सा.+54ला.व.-1 प.	वासुपूज्य	–	अचल	द्विपृष्ठ	तारक	अचल	स्वयम्भू
13. 9 सा.+15 ला.व.-3/4 प.	विमल	–	धर्म	स्वयंभू	मेरक	पुण्डरीक	पुरुषोत्तम
14. 4 सा.+750000 व.-3/4 प.	अनन्त	–	सुप्रभ	पुरुषोत्तम	मधु कैटब	अजितंधर	पुरुषपुण्डरीक

58 तीर्थकाल	नाम तीर्थंकर	59 चक्रवती	60 बलदेव	61 नारायण	62 प्रतिनारायण	63 रुद्र	64 मुख्य
15. (3 सा.+250000 व.)-1 प.	धर्म	–	सुदर्शन	पुरुषसिंह	निशुम्भ	अजितनाभि	सत्यदन
		मघवा	–	–	–	–	–
		सनत्कुमार	–	–	–	–	–
16. 1/2 पल्य +1250 वर्ष	शान्ति	स्वयं	–	–	–	पीठ	कुनाल
17. 1/4 प.-9999997250 वर्ष	कुन्थु	स्वयं	–	–	–	–	नारायण
18. 9999966100 वर्ष	अर	स्वयं	-	-	-	-	—
–		सुभौम	-	-	-	-	सुभौम
		–	नन्दी	पुण्डरीक	बलि	–	–
19. 5447400 वर्ष	मल्लि	–	–	–	–	–	सार्वभौम
		–	नन्दिमित्र	पुष्पदन्त	प्रहरण	–	–
		पद्म	–	–	–	–	–
20. 605000 वर्ष	सुव्रत	–	–	–	–	–	अजितञ्जय
		हरिषेण	–	–	–	–	–
		–	राम	लक्ष्मण	रावण	–	–
21. 501800 वर्ष	नमि	–	–	–	–	–	विजय
		जयसेन	–	–	–	–	–
22. 84380 वर्ष	नेमि	–	पद्म	कृष्ण	जरासंध	–	उग्रसेन
		ब्रह्मदत्त	–	–	–	–	–
23. 278 वर्ष	पार्श्व	–	–	–	–	–	महासेन
24. 21042 वर्ष	वर्द्धमान	–	–	–	–	सात्यकि	श्रेणिक